

गीताविज्ञानभाष्यभूमिकान्तर्गत–

बुद्धियोगपरीक्षा-उत्तरखण्ड

सर्वान्तरतमपरीक्षान्तर्गत-

'घ' विभाग

पं. मोतीलाल शास्त्री
वेदवीथीपथिकः

प्रकाशक
राजस्थान पत्रिका प्रकाशन
केसरगढ़ जवाहरलाल नेहरू मार्ग, जयपुर ।



गीताविज्ञानभाष्यभूमिकान्तर्गत–

बुद्धियोगपरीक्षा-उत्तरखण्ड

सर्वान्तरतमपरीक्षान्तर्गत-

'घ' विभाग

पं. मोतीलाल शास्त्री

वेदवीथीपथिकः





प्रकाशक :
राजस्थान पत्रिका लिमिटेड,
केसरगढ, जवाहरलाल नेहरू मार्ग,
जयपुर ।

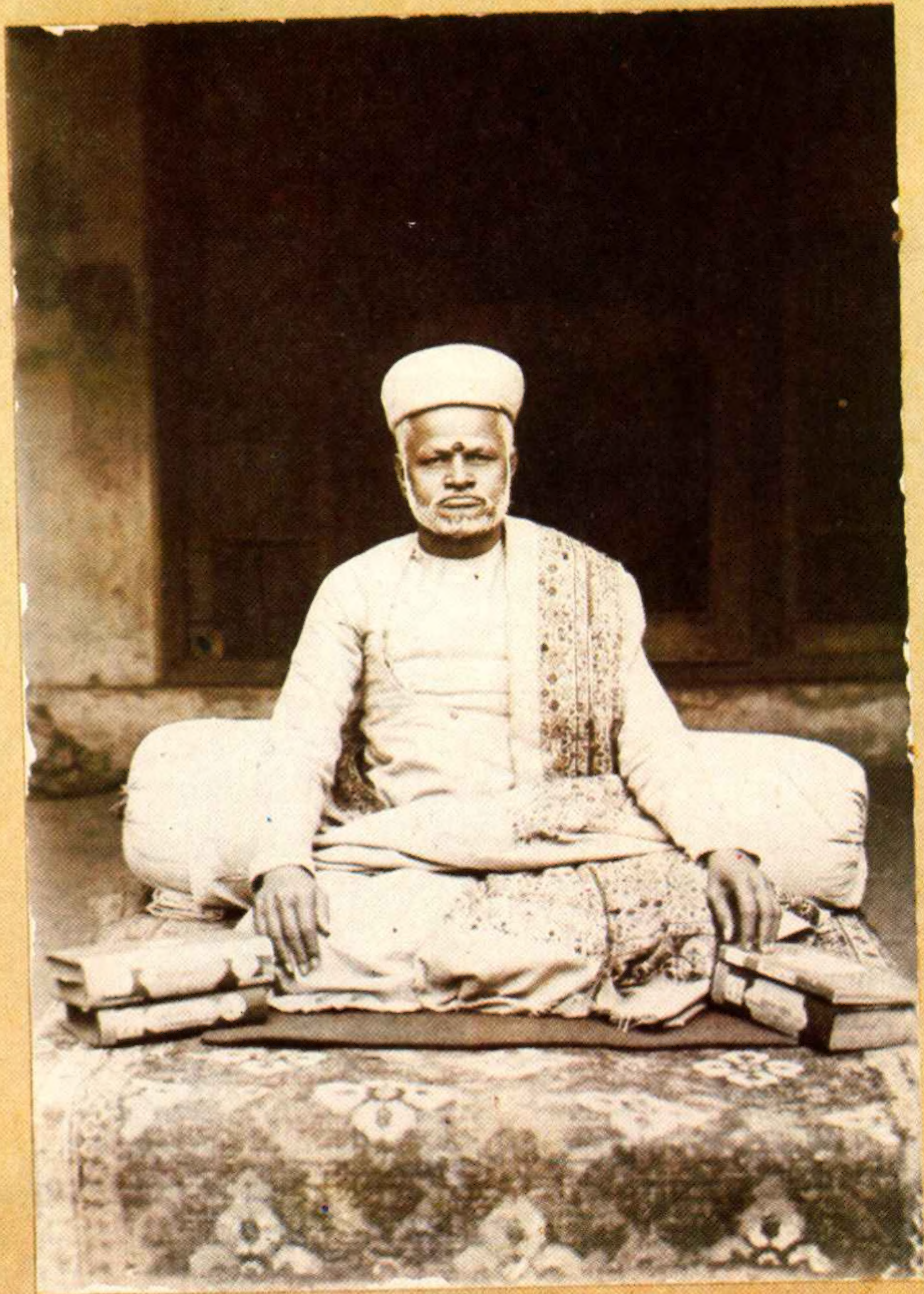


ग्रन्थ-प्राप्ति :
राजस्थानवैदिकतत्त्वशोधसंस्थान,
'मानवाश्रम', दुर्गापुरा रोड,
जयपुर–१८





मुद्रक :
श्रीबालचन्द्र यन्त्रालय,
'मानवाश्रम', दुर्गापुरा रोड,
जयपुर–१८



पूज्यपाद विद्यावाचस्पति श्री मधुसूदन ओझा

प्रकाशकीय

वेदवाचस्पति स्व० पं० मोतीलालजी शास्त्री कृत गीताविज्ञानभाष्य भूमिका के अन्तर्गत 'बुद्धि-योगपरीक्षा उत्तरखण्ड' का प्रकाशन करते हुए मुझे अत्यधिक प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है।

स्व० शास्त्रीजी कृत इस ग्रन्थ में आर्षप्रजानुगता गीतासारपरीक्षा नामक प्रकरण पर विस्तार से चर्चा की गई है। इस बुद्धियोग उत्तरखण्ड का पूर्वखण्ड स्व० शास्त्री जी ने स्वयं अपने जीवनकाल में ही प्रकाशित कर दिया था। गीताविज्ञानभाष्यभूमिका नामक इस ग्रन्थमाला में कुल ९ ग्रन्थ हैं। इनमें से ८ ग्रन्थ स्वयं शास्त्री जी ने प्रकाशित कर दिए थे, जिनमें गीता के सम्बन्ध में मुख्यरूप से आर्ष और अनार्ष दृष्टियों के अनुसार तात्त्विक विवेचन किया गया है। गीताभूमिका-ग्रन्थमाला के इस अन्तिम नवम-खण्ड में सिंहावलोकन करते हुए—इन दोनों ही दृष्टिकोणों को स्पष्ट किया गया है। एक प्रकार से यह ग्रन्थ इसके पूर्ववर्त्ती ८ ग्रन्थों का सार है, अतएव स्व० शास्त्री जी ने इसको 'गीतासारपरीक्षा' नाम भी दिया है। गीता आर्षदृष्टि से तो क्या कहती है एवं लोकदृष्टि से गीतोपदेश का क्या मर्म्म है ? यही जिज्ञासा शान्त करने के लिए स्व० शास्त्री जी ने 'आर्षप्रजानुगता गीतासारपरीक्षा' नामक प्रकरण से ही इस गीतासारपरीक्षा नामक बुद्धियोग उत्तरखण्ड का प्रारम्भ किया है।

स्व० शास्त्री जी द्वारा विरचित ग्रन्थों के प्रकाशन-कार्य्य से जुड़े हुए प्रो० मदनमोहन शर्म्मा ने उक्त ग्रन्थमाला के अन्तर्गत मूलपाण्डुलिपि के पाठ-निर्धारण, भाषा-सम्पादन एवं मूल संस्कृत-अंशों के प्रामाणिक पाठ-निर्धारण में बहुमूल्य योगदान किया है, इसके लिए वे साधुवाद के पात्र हैं।

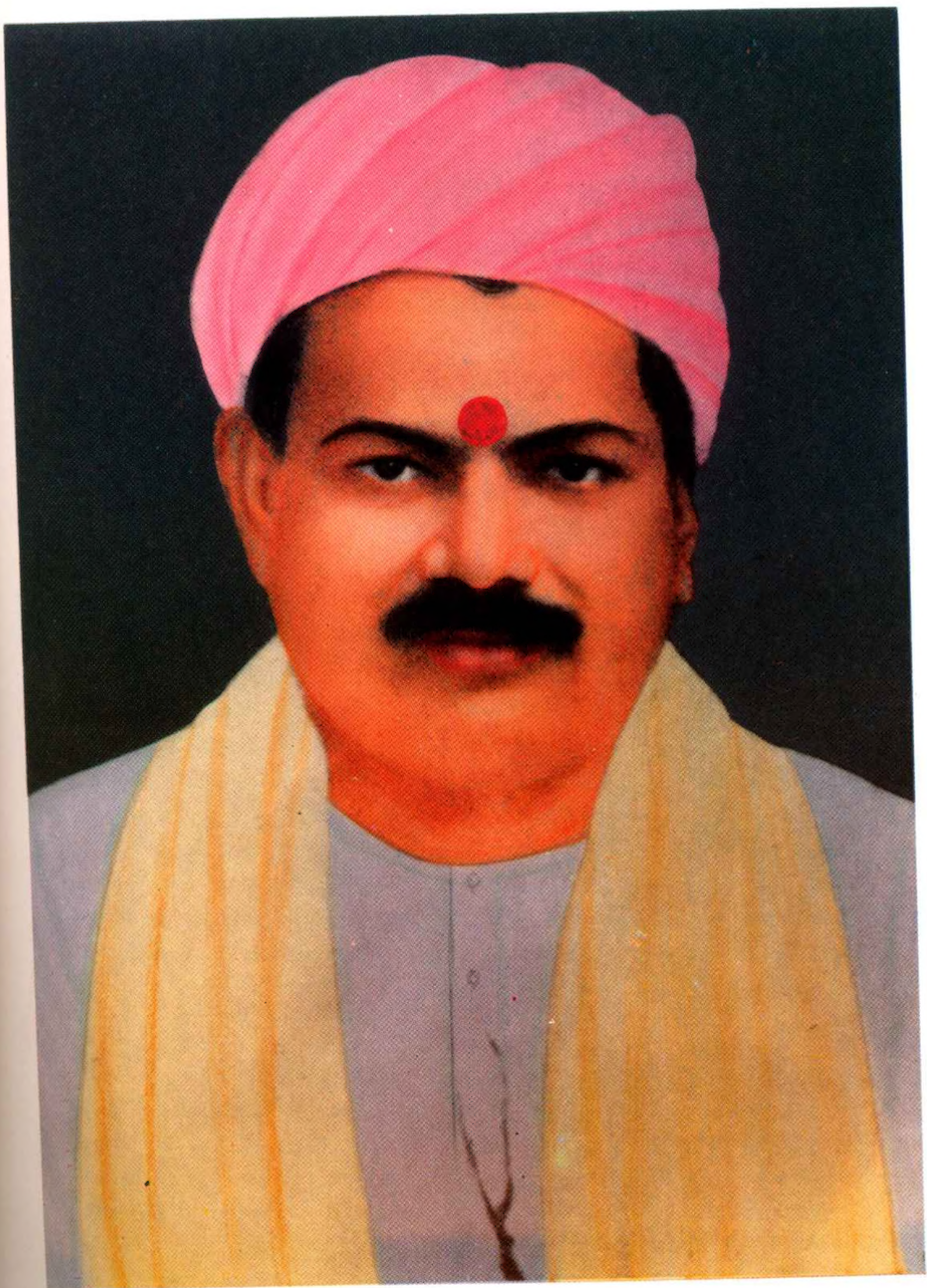
स्व० शास्त्रीजी के सुपौत्र चि० प्रद्युम्नकुमार शर्म्मा ने ग्रन्थ के विभिन्न स्थलों पर पाद-टिप्पणियाँ दे कर, ग्रन्थ में उद्धृत सन्दर्भों के स्रोतों का सन्धान कर, सन्दर्भों को अंकित किया है। उनका परिश्रम श्लाघनीय है।

श्री हीरालाल गहलोत मूलपाण्डुलिपि के सुपाठ्य पुनर्लेखन, प्रूफसंशोधन एवं सन्दर्भ-शोधन में सहायता प्रदान करने के लिए धन्यवाद के पात्र हैं।

जैसा कि मुझे ज्ञात हुआ है कि, इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ की पूरी पाण्डुलिपि उपलब्ध नहीं हो सकी है, अतएव यह निश्चय किया गया है कि जितने अंश की पाण्डुलिपि उपलब्ध है वहाँ तक उसको तो प्रकाशित कर दिया जाए एवं बाद में जब कभी आगे की पाण्डुलिपि प्राप्त हो जाए तब उसको भी प्रकाशित कर दिया जाएगा। मुझे विश्वास है कि इस ग्रन्थ से गीता-प्रेमी पाठक अवश्य लाभान्वित होंगे।

—कर्पूरचन्द्र 'कुलिश'

दुर्गा नवमी,
वि०सं० २०५०



वेदवाचस्पति पं. मोतीलाल शास्त्री

।। श्री गुरुगणेशाम्बिकेभ्यो नमः ।।

ग्रन्थ-प्रस्तावना

क–बुद्धियोगपरीक्षा पूर्वखण्ड का सिंहावलोकन—

सर्वान्तरतम-परीक्षात्मक-गीताभूमिका तृतीयखण्ड के 'ग' कार विभागात्मक 'बुद्धियोग-परीक्षा' नामक पूर्वखण्ड में जिन विषयों का निरूपण हुआ है, उनका प्रधानरूप से 'मनोर्गभिता-विद्याबुद्धि' से सम्बन्ध है। आगे चलकर गीताशास्त्र के जिन विभिन्न दो दृष्टिकोणों का हम विश्लेषण करने वाले हैं, उनमें से पूर्वखण्ड भारतीय-वर्णाश्रमानुगामिनी द्विजातिप्रजा से सम्बन्ध रखने वाले प्रथम दृष्टिकोण का ही प्रधानरूप से विश्लेषण कर रहा है। सहजभाषा में यों कहा जा सकता है कि, जिस भारतीय द्विजाति के जीवन का मुख्य लक्ष्य एकमात्र शास्त्रचिन्तन है, जिस के जीवन के अहर्गण अधिकांश में शास्त्र-परिशीलन में ही व्यतीत होते हैं, उस कृतविद्य-शास्त्रनिष्ठ-द्विजाति के बुद्धिविलास को लक्ष्य बनाकर ही पूर्वखण्ड प्रवृत्त हुआ है। शास्त्राभ्यासी-तत्त्वजिज्ञासु-अन्तर्मुख-द्विजाति का ही उक्त पूर्वखण्ड विशेषरूप से अनुरञ्जक बना हुआ है और इसी प्रथमदृष्टिकोण को लक्ष्य बनाकर पूर्वखण्ड के प्रतिपाद्यविषयों को शास्त्रीय-सुसूक्ष्म परिभाषाओं से समन्वित किया गया है, जिनके द्वारा एवंविध द्विजाति का ही अनुरञ्जन सम्भव है।

शरीरानुगत-'भूतात्मा' से सम्बद्ध **'कर्म्मयोग**, भूतात्मानुगत **'प्रज्ञानात्मा'** (मन) से सम्बद्ध **'भक्तियोग'** प्रज्ञानात्मानुगत **'अव्यक्तात्मा'** से सम्बद्ध **'ज्ञानयोग'**–इन तीनों योगों के क्रमिक विश्लेषण के अनन्तर (जिसमें अव्यक्तात्मानुगत ज्ञानयोग को कारणविशेष से पहला स्थान दिया गया है) सर्वात्मानुगत 'बुद्धियोग' का ही बुद्धियोगपरीक्षा-खण्ड में निरूपण हुआ है। निरूपणीय विषय के स्पष्टीकरण के लिए पूर्वखण्ड में **'बुद्धियोगस्वरूपपरिचय, बुद्धियोगानुगत-विद्यास्वरूप परिचय'**–इन दो प्रकरणों का समावेश हुआ है। इन दोनों प्रधान प्रकरणों का आगे चलकर अनेक अवान्तर प्रकरणों-उप प्रकारणों में विभाजन हुआ है, जैसा कि, पूर्वखण्ड-विषयसूची से स्पष्ट है। तात्पर्य्य-पूर्वखण्ड में बुद्धियोग के तथा बुद्धियोगानुगता विद्या के सम्बन्ध में जो कुछ प्रतिपादन हुआ है, वह सब विशेषरूप से बुद्धि-विद्यानुरक्त विद्वानों का ही विशेषरूप से अनुरञ्जक है।

राजर्षिविद्यानुगत **वैराग्यबुद्धियोग**, राजविद्यानुगत **ऐश्वर्य्यबुद्धियोग**, सिद्धविद्यानुगत **ज्ञानबुद्धियोग**, एवं आर्षविद्यानुगत **धर्म्मबुद्धियोग**, ये चारों बुद्धियोग तथा चतुर्विध बुद्धियोगों का अनुष्ठान-प्रकार बतलाने वाली चारों विद्याएँ ही पूर्वखण्ड में विभिन्न दृष्टिकोणों से निरूपित हुई हैं, जिनका अधिकार एकमात्र भारतीय-वर्णाश्रमानुगामिनी-सनातनप्रजा को ही है और निःसंशय इस दृष्टि से गीताशास्त्र भारतीय-द्विजातिप्रजा की ही प्रातिस्विक सम्पत्ति है। श्रुति-स्मृति-पुराण-निबन्ध-प्रतिपादित, वर्णाश्रमानुगत, सनातनधर्म्म जैसे भारतीय द्विजातिवर्ग की प्रातिस्विक सम्पत्ति है, तथैव–**'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्य्याकार्य्यव्यवस्थितौ'**–का घण्टाघोष करने वाला, सनातन वेद-शास्त्र को अपनी मूलप्रतिष्ठा

बनाने वाला गीताशास्त्र भी मुख्यरूप से भारतीय द्विजातिवर्ग के वर्णाश्रमाचारानुगत कर्त्तव्यकर्म्मों का उपदेश देने वाला भारतीयों की प्रातिस्विक सम्पत्ति ही बना हुआ है। गीता के इस लक्ष्य के अनुगमन का अधिकार एकमात्र उसी व्यक्ति को है, जो जन्मना ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य है। जिस द्विजाति की वंशपरम्परा गोत्र-प्रवर-शाखा-शिखा-सूत्र-वेद (दर्भ-अङ्गुलीयक), देशाचार, कुलाचार, आदि सनातन-शास्त्रपद्धतियों से परम्परया विशुद्ध है, उसी द्विजाति का एवंविध बुद्धियोगानुष्ठान में अधिकार माना गया है। वेदशास्त्रसिद्ध यज्ञ-तपो-दानात्मक विद्यासमुच्चित निवृत्तिकर्म्मात्मक धर्म्मबुद्धियोग, लोक-संग्रहोपेक्षित-समानप्रत्ययप्रवाहात्मक-निवृत्तिप्रधान ज्ञानबुद्धियोग, आरण्यकभागसम्मत-तत्त्वोपासनात्मक-ऐश्वर्य्यबुद्धियोग, उपनिषद्भागानुगत-वैराग्यबुद्धियोग-इन चारों ही बुद्धियोगों का उस वेदशास्त्र से सम्बन्ध है, जिसका अधिकार एकमात्र जन्मानुगत द्विजातिवर्ग को ही प्राप्त है। फलतः गीताशास्त्र के इस शास्त्रीय दृष्टिकोण से सम्बन्ध रखने वाले बुद्धियोगनिष्ठा का द्विजातिप्रजा से ही स्वाभाविक सम्बन्ध सिद्ध हो जाता है।

शास्त्र, उसकी दृष्टि, उस दृष्टि का विस्तार, उस विस्तृत दृष्टि का यथावत् परिज्ञान, सभी कुछ व्यवहारपरायण सामान्य मानव के लिए जटिल समस्या है। पूर्वखण्ड में इन्हीं जटिल समस्याओं को लक्ष्य बनाया गया है, अतएव कहा और माना जा सकता है कि 'बुद्धियोगपरीक्षा-पूर्वखण्ड' शास्त्र-परायण विशेष मानव के लिए ही उपादेय बना है। इस उपादेयता-अनुपादेयता-भाव को लक्ष्य बनाकर ही पूर्वखण्ड-उत्तरखण्डों में प्रतिपादित विषयों का समन्वय करना चाहिए। पूर्वखण्ड जहाँ मनोगर्भित-बुद्धि के उपासक भारतीय, उसमें भी केवल द्विजातिवर्ग को ही लक्ष्य बना रहा है, वहाँ प्रस्तुत उत्तर-खण्ड बुद्धिगर्भित मन के उपासक मानव को फिर वह कोई तथा कहीं का क्यों न हो–लक्ष्य बना रहा है। दोनों विभिन्न लक्ष्यों के लिए ही हमें आरम्भ में पूर्वखण्ड का यह सिंहावलोकन करना पड़ा है। अब दो शब्दों में लक्ष्यानुगामी उन दोनों मानव–विभागों का भी स्पष्टीकरण कर दिया जाता है, जिनकी लक्ष्यसिद्धि के लिए 'बुद्धियोगपरीक्षा' खण्ड पूर्व–उत्तर भेद से दो खण्डों में विभक्त करना पड़ा है एवं जिनके परितोष के लिए इन दो शकलों के द्वारा–**'ताभ्यां स शकलाभ्यां च दिवं भूमिं च निर्म्ममे'**[1]–इस मानव सिद्धान्त को अन्वर्थ बनाया गया।

ख–मानवप्रजा के दो विभाग और तदनुगत गीताशास्त्र के दो विभिन्न दृष्टिकोण—

'महामाया हरेश्चैषा-तया संमोह्यते जगत्'–(सप्तशती) इत्यादि रहस्य वचन जिस माया का यशोगान कर रहा है, वही माया मानवप्रजा की मूलजननी मानी गई है। महामायी महेश्वर के गर्भ में इस माया किंवा योगमाया के अनेक विवर्त्त प्रतिष्ठित हैं। परममहान् तथा परम अणु दोनों अत्यनपिनद्ध तत्त्व हैं। इन दोनों के गर्भ में प्रतिष्ठित महान् और अणु सापेक्षतत्त्व हैं। इस तात्त्विक सिद्धान्त के अनुसार महामायागर्भ में प्रतिष्ठित योगमायाविवर्त्त अपेक्षया महान् और अणु दोनों विभूतियों से युक्त

१ मनुस्मृति ३।१३।

हैं। उदाहरण के लिए आदि महामाया की अपेक्षा से योगमाया बनी हुई स्वायम्भुवी माया स्वयम्भूगर्भ में प्रतिष्ठित परमेष्ठी-सूर्य्य-चन्द्र-पृथिवी आदि मायाओं की अपेक्षा महामाया है। स्वायम्भुवी माया की अपेक्षा योगमाया बनी हुई पारमेष्ठिनी माया सूर्य्यादि मायाओं की अपेक्षा महामाया है। पारमेष्ठिनी माया की अपेक्षा योगमाया बनी हुई सौरी माया पृथिव्यादि मायाओं की अपेक्षा महामाया है। सौरी माया की अपेक्षा योगमाया बनी हुई पार्थिवी माया चन्द्रादि मायाओं की अपेक्षा महामाया है। पार्थिवी माया की अपेक्षा योगमाया बनी हुई चान्द्री माया मानवप्रजादि मायाओं की अपेक्षा महामाया है। चान्द्री माया की अपेक्षा योगमाया बनी हुई मानवी माया मानवशरीरभुक्त असंख्य जीवाणुभुक्त मायाओं की अपेक्षा महामाया है। इस अनुपात से मायीमहेश्वर से आरम्भ कर अणोरणीयान्-विवर्त्त पर्य्यन्त मध्य में अपेक्षया एक ही योगमाया के महामाया-योगमाया भेद से दो स्वरूप व्याप्त हो रहे हैं। अखण्ड-असीम तत्त्व को अनेक खण्ड-सीमाभावों में परिणत कर उन्हें परस्पर सामान्य-विशेषभावों से युक्त कर देना ही इस योगमाया का मुख्य कर्म्म है। योगमायात्वेन जहाँ विश्व के यच्चयावत् जड़-चेतन पदार्थ सामान्यधर्म्मों से समतुलित बनते हुए समान हैं, वहाँ योगमाया के आपेक्षिक सामान्य-विशेष धर्म्मों से युक्त विश्वपदार्थ विशेषधर्म्मों से विषम बनते हुए विभिन्न हैं। योगमाया के इन्हीं आपेक्षिकरूपों के अनुग्रह से सब पदार्थ सम भी हैं, विषम भी हैं। समत्व अमृतलक्षण रसनिबन्धन है, विषमत्व मृत्युलक्षण बलनिबन्धन है। उत्तरोत्तर सामान्यधर्म्मों का अनुगमन करना रसात्मक आत्मतत्त्व का अनुगमन करना है। उत्तरोत्तर विशेषधर्म्मों का अनुगमन करना बलात्मक विश्व का अनुगमन करना है। सामान्ययोग-मायानुगत सामान्यधर्म्म शान्तिमय है, विशेषयोगमायानुगत विशेषधर्म्म क्षोभमय है। शान्ति-क्षोभ, दोनों एक ही क्षेत्र में प्रतिष्ठित हैं। शान्तिक्षेत्र धर्म्मक्षेत्र है, क्षोभक्षेत्र कर्म्मक्षेत्र है। शान्त्यानुगत धर्म्मक्षेत्र का विकास क्षोभानुगत कर्म्मक्षेत्र के सहयोग पर अवलम्बित है एवं कर्म्मक्षेत्र का कौशल-सौष्ठव-प्रतिष्ठास्थिति धर्म्मक्षेत्रावलम्बन पर निर्भर है। प्रत्येक पदार्थ की स्वरूपरक्षा के लिए उसके शान्तिमूलक सामान्य, क्षोभमूलक विशेष, दोनों धर्म्मों (धर्म्म-कर्म्मों) की स्वरूपरक्षा अपेक्षित है। यही शान्ति-क्षोभात्मक, धर्म्म-कर्म्मात्मक, अमृत-मृत्युमय, रसबलात्मक, सामान्य-विशेषात्मक विश्व की द्विनियति का तात्त्विक इतिहास है, जिसके आधार पर हमें मानवप्रजा के दो विवर्त्तों का स्पष्टीकरण करना है।

प्रत्येक पदार्थ में प्रतिष्ठित सामान्यधर्म्म जातिधर्म्म है एवं विशेषधर्म्म व्यक्तिधर्म्म है। यद्यपि पदार्थ स्वरूपरक्षा की दृष्टि से दोनों ही धर्म्म आदरणीय हैं, तथापि दोनों के संघर्षकाल में व्यक्तिधर्म्म विशेषरूप से संरक्षणीय बन जाता है। ऐसी दशा में व्यक्तिधर्म्म स्वधर्म्म बन जाता है, जातिधर्म्म परधर्म्म बन जाता है। तात्पर्य्य सामान्यधर्म्म उसी सीमा तक अनुगमनीय माना गया है, जहाँ तक वह विशेषधर्म्म का उपकारक बना रहता है। उदाहरण के लिए 'दया' को ही लक्ष्य बनाइए। 'दया'-नामक धर्म्म मानवमात्र का सामान्यधर्म्म बनता हुआ जातिधर्म्म है। उधर–'अपने अधिकारसिद्ध सत्त्व पर आक्रमण करने वाले आततायी पर दया करना अधर्म्म है'–यह आदेश विशेषधर्म्म बनता हुआ व्यक्तिधर्म्म है। अर्जुन के सामने दोनों धर्म्मों का संघर्ष उपस्थित हुआ। उसने आपातरमणीयता के व्यामोह में पड़कर सहजसिद्ध धर्म्मभीरुता के अनुग्रह से सामान्य जातिधर्म्म (दया) को मुख्य मानने

का उपक्रम किया । इसी अवसर पर भगवान् ने अर्जुन का उद्बोधन कराते हुए उसे बतलाया कि अर्जुन ! तू भूल कर रहा है । दया सामान्यधर्म्म है, आततायी को दण्ड देना विशेषधर्म्म है । यदि इस समय तू सामान्यधर्म्म के व्यामोह में पड़कर शत्रु की उपेक्षा कर देगा, तो तेरा व्यक्तित्व ही नष्ट हो जाएगा । जान बूझकर अपने आपको नष्ट कर डालना आत्महत्या है और यह सबसे बडा पाप है । इस पाप के सामने उस दया का कोई महत्त्व नहीं है, जिससे दुष्टों को प्रोत्साहन मिलता हो । परिणाम सर्वविदित है । अर्जुन सामान्य दयाधर्म्म की उपेक्षा कर देता है और विशेष दण्डधर्म्म (युद्धधर्म्म) में प्रवृत्त हो जाता है । गीताशास्त्र के शिक्षण का यही सार है । निवेदन करने का अभिप्राय यही है कि सामान्य-मानवधर्म्म तथा विशेष-मानवधर्म्म, दोनों के संघर्ष-काल में सामान्य मानवधर्म्म परधर्म्म बनता हुआ भयावह, अतएव उपेक्षणीय है एवं विशेष मानवधर्म्म स्वधर्म्म बनता हुआ संरक्षणीय है । इस सामान्य-विशेष विभिन्नता को लक्ष्य बनाकर ही मानवप्रजा के विभिन्न दोनों वर्गों का समन्वय अपेक्षित है ।

प्रकृत में हमें केवल मानवप्रजा से सम्बन्ध रखने वाले सामान्य-विशेषभावों का ही विचार करना है, क्योंकि गीताशास्त्रोपदेश मानव को उद्देश्य बनाकर ही प्रवृत्त हुआ है । भूपिण्ड भूपिण्डत्वेन समान है । इस पाञ्चभौतिक पार्थिवतत्त्व से कृतशरीर भूपिण्ड पर निवास करने वाले मानवमात्र भी समान हैं एवं इस दृष्टि से अवश्य ही कुछ एक ऐसे सामान्यधर्म्म होने चाहिएँ, जो पृथिवी पर के यच्चयावत् मनुष्यों में समानरूप से घटित हो रहे हों । इन सामान्यधर्म्मों की अपेक्षा से मनुष्यमात्र का मानवधर्म्म समान माना जाना चाहिए । स्वाध्याय, ब्रह्मचर्य्य, सत्यभाषण, अस्तेय, अहिंसा, दया, दत्तात्मकदान, अकार्पण्य, अनायास, जितेन्द्रियता, शौच, मङ्गलाचारपरायणता आदि कतिपय सामान्य धर्म्म मानवमात्र के लिए विहित हैं, अतएव इन्हें सामान्यधर्म्म कहा जा सकता है । भारतीयधार्मिक समाज, ईसाई, मुसलमान, पारसी, यहूदी, आदि आदि सभी धर्म्म-मतवादों ने इन सत्यादि सामान्यधर्म्मों की उपादेयता-आवश्यकता पदे-पदे स्वीकार की है । किसी को भी इनकी अनुगमनीयता में कोई आपत्ति नहीं है और इस सामान्यधर्म्म की दृष्टि से पृथिवी पर के मनुष्यमात्र समबन्धु हैं । विश्वशान्ति के लिए इसी सामान्य मानवधर्म्म का अनुगमन आवश्यक है । सामान्यधर्म्मों के स्वरूप से सम्भवतः सभी मानव परिचित होंगे, परन्तु इनके अनुष्ठान प्रकार के कौशल की शिक्षा का श्रेय एकमात्र गीताशास्त्र को ही है, अतएव इन सामान्यधर्म्मों की अपेक्षा गीता मानवमात्र के लिए उपास्य ग्रन्थ बन रहा है, अथवा तो बनना चाहिए ।

भूगोलीय विश्वद्वृत्त के भोगतारतम्य से पार्थिवखण्डों की रचना में परस्पर विभिन्नता है । यह भेद क्यों हुआ ? प्रश्न अतिप्रश्न है । स्थितस्य गतिश्चिन्तनीया । ऐसा भेद क्यों हुआ ? इस का उत्तर ईश्वरेच्छा के अतिरिक्त और क्या हो सकता है । जैसी स्थिति है, उसके आधार पर मानवधर्म्म का समन्वय होना चाहिए । किसी भूखण्ड के मनुष्य गौरवर्ण, किसी के कृष्णवर्ण, कहीं फलमूलप्रचुरता, कहीं कण्टक प्राचुर्य्य, कहीं अतिवृष्टि, कहीं मन्दवृष्टि । ये ही प्राकृतिक भेद मानवप्रजा के देशभेद भिन्नधर्म्म-भेद के कारण बन जाते हैं । इसी प्राकृतिकभेद के अनुग्रह से महीसागर (मेडिटरेनियन सी) नामक पश्चिमसमुद्र को अपनी पश्चिम सीमा बनाने वाला, पीतसमुद्र (यलो सी) नामक पूर्वसमुद्र को अपनी

पूर्वसीमा बनाने वाला, दक्षिणसमुद्र में निमग्नलङ्का प्रदेशानुगत निरक्षस्थान को अपनी दक्षिण सीमा बनाने वाला, रावीनदीविनिर्गमनस्थानोपलक्षित शर्य्यणावत (शिवालक) पर्वत को अपनी उत्तर सीमा बनाने वाले ६० अंशात्मक भारतवर्ष अपने विशेष मानवधर्म्म से युक्त रहता हुआ इतर भूखण्डापेक्षया विशेषस्थान का पात्र बन रहा है, जिसकी विशेषता अक्ष्माखण की भांति शाश्वतीभ्यः समाभ्यः (सदा के लिए) अक्षुण्ण है। जिस विशेषता का गीताभूमिका प्रथम खण्ड के 'गौर-कृष्णरहस्य' नामक प्रकरण में विश्लेषण किया जा चुका है। वर्णाश्रमव्यवस्थामूलक वेदधर्म्म ही भारतीय द्विजातिप्रजा का विशेष मानवधर्म्म है। सर्वतोभावेन इस विशेषधर्म्म का संरक्षण ही भारतीयप्रजा का आवश्यक कर्त्तव्य है। वेदादि श्रुतिशास्त्र, मन्वादि स्मृतिशास्त्रों में इसी मानवधर्म्म का रहस्यपूर्वक विश्लेषण हुआ है। वेदादि शास्त्रों के द्वारा भारतीयप्रजा अपने वेदसिद्ध मानवधर्म्म का स्वरूपज्ञान अवश्य प्राप्त कर सकती है, परन्तु कर्म्मानुष्ठानप्रकारकौशल के प्रतिपादन का श्रेय एकमात्र गीताशास्त्र को ही प्राप्त है और इसी दृष्टि से गीताशास्त्र विश्वप्रजा की भांति भारतीयप्रजा का भी आराध्य ग्रन्थ बना हुआ है। भारतीय मानवधर्म्म (सनातनधर्म्म) की छत्रच्छाया में पुष्पित-पल्लवित होने वाले सभी सम्प्रदायों ने गीता-शास्त्र को अपने सम्प्रदाय का मूलाधार बनाया है।

सामान्यमानवधर्म्मानुगामिनी इतरदेशीय मानवप्रजा, विशेषमानवधर्म्मानुगामिनी भारतीय प्रजा–ये ही वे मुख्य दो विभाग हैं, जिनका शीर्षक में उल्लेख हुआ है। बुद्धियोगपरीक्षापूर्वखण्ड में विशेष मानवधर्म्मानुगामिनी भारतीयप्रजा के सनातन लक्ष्य को लक्ष्य बनाकर ही गीताशास्त्र के उपदेश के समन्वय की चेष्टा हुई है। प्रस्तुत द्वितीयखण्ड में हमें सामान्यमानवधर्म्मानुगामिनी मानवप्रजा से सम्बन्ध रखने वाले गीतालक्ष्य को लक्ष्य बनाना है। विषयारम्भ से पहले भारतीय दृष्टिकोण से दो शब्दों में विषय का समन्वय और कर लीजिए। भारतीय वर्णप्रजा का वर्णाश्रमानुगत मानवधर्म्म स्वधर्म्म है, यही इसकी व्यक्तिप्रतिष्ठा का मूलाधार है। इसी आर्ष-सनातनधर्म्म को आधार बनाकर भारतवर्ष में शाङ्कर-वाल्लभ-रामानुजीय-माध्व-निम्बार्क आदि विविध सम्प्रदायों का जन्म हुआ है। अपने अपने विशेष दृष्टिकोणों की रक्षा करते हुए व्यापक सनातनधर्म्म के प्रति आत्मसमर्पण किए रहना ही इन साम्प्रदायिक मतवादों का कर्म्म कौशल है। कारण, सभी भारतीय मानवत्वेन मानव हैं एवं भारतीय मानवधर्म्म सभी का उपास्य राष्ट्रधर्म्म है। चूंकि कुछ समय से सम्प्रदायाभिनिवेश के अनुग्रह से राष्ट्रधर्म्म की उपेक्षा हो रही है, इसलिए भारतीय मानवधर्म्म आज अपने स्वरूपविकास से वञ्चित होता हुआ हमारे पतन का कारण बनता जा रहा।

प्रकृतमनुसरामः! गीताशास्त्र के उपदेशक साक्षात् पूर्णब्रह्म के अवतार थे, पूर्णकलोपेत भगवान् थे, आर्षप्रजा की इस चिरन्तन, साथ ही शास्त्रसिद्ध सद्भावना का अक्षरशः अनुगमन करते हुए भी हमें यह मानना ही पड़ेगा कि–'**नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः**'–इस गीता सिद्धान्त के अनुसार भगवान् कृष्ण महामायावच्छिन्न नहीं, अपि तु, योगमायावच्छिन्न थे। योगमाया ही मानवस्वरूप की क्योंकि मूलजननी मानी गई है, अतएव योगमायावच्छिन्न भगवान् कृष्ण की मानवस्वरूपता में कोई सन्देह नहीं किया जा सकता। पूर्णेन्द्रत्वलक्षण सामान्य ईश्वरीयधर्म्म के साथ-साथ अर्द्धेन्द्रत्वलक्षण विशेष

मानवधर्म्म का भी श्रीकृष्ण में समन्वय था, यह बात सर्वथा सुसमन्वित है। यही क्यों, मानवधर्म्म ईश्वरीयधर्म्मापेक्षया श्रीकृष्ण में विशेषरूप से स्फुट है, जैसा कि उनके पाण्डवदूतत्व, गोब्राह्मणप्रतिपालकत्व, अर्जुनसारथित्व, आदि मानवचरित्रों से स्पष्ट है। **'भजते तादृशीः क्रीडा याः श्रुत्वा तत्परो भवेत्'** के अनुसार भक्तानुग्रह से ही सही मानवधर्म्म भगवान् में स्फुट अवश्य है और यों गीतोपदेश के सम्बन्ध में यह निःसंदिग्ध होकर कहा जा सकता, तथा माना जा सकता है कि—

१–गीताशास्त्र के उपदेशक भगवान् श्रीकृष्ण योगमाया सम्बन्ध से मानव (मनुष्य) थे।

२–गीतोपदेश के मुख्य श्रोता पाण्डुनन्दन अर्जुन मानव थे।

३–महाभारत-युद्ध प्रसङ्ग में मानव अर्जुन के प्रति होने वाले मानव श्रीकृष्ण के गीतोपदेशात्मक 'कृष्णार्जुनसंवाद' को अपनी पद्यमयी भाषा (श्लोकों) में लिपिबद्ध करने वाले भगवान् कृष्णद्वैपायन (व्यास) मानव थे।

४–"मैं अपने स्थान पर बैठा-बैठा ही कौरव-पाण्वों के युद्धप्रसङ्ग जान लूं"–यह इच्छा रखने वाले पुत्रमोहान्धकार निमग्न धृतराष्ट्र मानव थे।

५–मानव धृतराष्ट्र की इस इच्छा के पूरक, व्यासद्वाराप्राप्त दिव्यदृष्टि के प्रभाव से धृतराष्ट्र-भवन में ही बैठे-बैठे युद्धप्रसङ्गों का साक्षात्कार कर उनका धृतराष्ट्र के प्रति उपवर्णन करने वाले भाग्यशाली सञ्जय भी मानव ही थे।

६–आज से लगभग ५ सहस्त्र वर्ष पूर्व कुरुक्षेत्र की पावन भूमि में होने वाले इस मानवीय गीतोपदेश के विश्लेषक सर्वश्री भगवान् शङ्कर, रामानुज, वल्लभ, निम्बार्क, मध्व, अभिनवगुप्ताचार्य्य, आदि सम्प्रदायाचार्य्य तथा तत्तदाचार्य्य परम्परानुगामी तत्तत्सम्प्रदायानुगत गीताव्याख्याता जीव भी मानव थे।

यही क्यों, गीता का प्राथमिक उपदेश उस व्यक्ति को हुआ था, जो मानवप्रजा का सम्राट था। स्वयम्भूमनु के पुत्र स्वायम्भुवमनु विवस्वान् थे। अन्य मानवशरीरावच्छिन्न भगवान् कृष्ण द्वारा सर्वप्रथम सत्ययुगारम्भ में इन्हीं विवस्वान् मनु के प्रति गीतोपदेश प्रस्फुटित हुआ था। विवस्वान् से वैवस्वत मनु के प्रति, तद्द्वारा अयोध्याधिपति मानव इक्ष्वाकु के प्रति, इस प्रकार परम्परया मानवश्रेष्ठ राजर्षियों की परम्परा में ही गीताशास्त्र प्रचलित रहा। महाभारतयुग में द्वापर की समाप्ति, तथा कलि के आरम्भ में उसी कृष्ण द्वारा वासुदेवशरीर से मानव अर्जुन के प्रति पुनः विलुप्त गीतातत्त्व का संस्करण हुआ और यों आदियुग के आरम्भ में मानवसम्राटमनु विवस्वान् को उद्देश्य बना कर प्रवृत्त होने वाला मानवश्रेष्ठ श्रीकृष्ण का गीतोपदेश परम्परया मानवप्रजा को ही लक्ष्य बनता हुआ अपने मानवशास्त्रत्व को प्रमाणित कर रहा है, जिसके दो विभिन्न दृष्टिकोणों के आधार पर इस परम्परानुगत मानवीय गीताशास्त्र के किंवा गीतोपदेश के सर्वथा विभिन्न दो लक्ष्य बन जाते हैं। प्रस्तुत गीतासार परीक्षाखण्ड में सर्वप्रथम उन्हीं विभिन्न लक्ष्यों की ओर मानवप्रजा का ध्यान आकर्षित किया जाता है।

भौतिक-दैविक-आत्मिकभेदभिन्ना तापत्रयी से सन्तप्त मानव के जीवन में पदे-पदे कर्त्तव्याकर्त्तव्यात्मक प्रश्नों को लेकर विविध प्रकार के संघर्ष उपस्थित हुआ करते हैं। संघर्षजनित क्षोभ से स्थिर शान्त बना हुआ शारीराग्नि क्षुब्ध हो पड़ता है। शारीराग्नि के क्षोभ से अग्निसजातीय सावित्राग्निमूर्त्ति बुद्धि अपने स्वाभाविक स्थिरतालक्षण कर्त्तव्यनिर्णयात्मक व्यवसायधर्म्म से वञ्चित होती हुई आगन्तुक क्षोभलक्षण-अनिर्णयात्मक-किंकर्त्तव्यविमोहात्मक-अव्यवसायधर्म्म से युक्त हो जाती है। बुद्धि के इस खण्ड-खण्डात्मक अव्यवसायधर्म्म के अनुग्रह से बुद्धि से संलग्न मन क्षुब्ध हो जाता है। क्षुब्धमन शून्यं-शून्यं लक्षण अपूर्ण (दुष्ट) आकाश का अनुगामी बन जाता है। मन की इसी अपूर्णदशा का नाम दुःखं-दुःखं' (दुष्ट-ख, शून्य-अपूर्ण-आकाश) है। यही स्थिति दर्शन भाषा में 'दुःखसंविग्नमानस' नाम से व्यवहृत हुई है। मनुतत्त्व को मूलाधार बनाकर स्वसंस्था को सुरक्षित रखने वाले मानव के जीवन पर हृद्यमनु से सम्बद्ध हृद्य मन के इस क्षोभ का प्रभाव समय समय पर पड़ता रहता है और यों मानव इस संसार में समय समय पर दुःखसंविग्नमानस बनता रहता है। महाभारत युद्धप्रसङ्ग में एक बार मानव अर्जुन की भी यही स्थिति हो गई थी। व्यवसाय धर्म्मशून्य अतएव दुःखसंविग्नमानस अर्जुन की इस मानस दुःख निवृत्ति के लिए ही व्यवसायात्मिका बुद्धि से युक्त भगवान् कृष्ण के द्वारा उस समय गीतोपदेश प्रवृत्त हुआ था। इस प्रकार दुःखसंविग्नमानस मानव अर्जुन की दुःखनिवृत्ति के लिए प्रवृत्त गीताशास्त्र मानव अर्जुन को लक्ष्य बनता हुआ **'मानवशास्त्र'** है, यह तो निर्विवाद है और इसी दृष्टि से यह कहा तथा माना जा सकता है कि गीताशास्त्र विश्व की सम्पूर्ण मानवप्रजा को लक्ष्य बना रहा है। यह स्वीकार कर लेने पर भी हमें स्वयं गीताशास्त्र में ही प्रतिपादित कतिपय विशेष कारणों के आधार पर गीताशास्त्र का दो भागों में विभाजन मानना पड़ता है, जिस विभागद्वयी का मूलकारण मानवप्रजा से सम्बन्ध रखने वाली देशभेदभिन्ना-विभागद्वयी ही है। देश-काल-पात्र की दृष्टि से ही प्रतिपादित शास्त्रोपदेश का समन्वय किया जाता है एवं सर्वप्रथम इसी दृष्टि से हमें गीतोपदेश का समन्वय करना है। गीता का उपदेश किस देश में हुआ? किस काल में हुआ? एवं किस पात्र के प्रति हुआ? इन प्रश्नों के समाधान में हमारा ध्यान भारतदेश, महाभारतयुग एवं चन्द्रवंशी क्षत्रिय अर्जुन के प्रति आकर्षित होता है। इन तीनों प्रश्नों के समाधान में ही गीता का रहस्य अन्तर्निहित है और आश्चर्य्य होता है हमें भगवान् व्यास की दिव्य लेखनी पर जिसने एक ही पद्य के द्वारा इन तीनों प्रश्नों का समाधान करते हुए गीता के उपक्रम में ही गीता में प्रतिपादित तत्त्व का स्पष्टीकरण कर डाला है। उस सुप्रसिद्ध निम्नलिखित पद्य पर दृष्टि डालिए और व्यास जी की लेखनी को अनन्त प्रणाम कीजिए—

"धर्म्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत सञ्जय" ॥[1]

ऐतिहासिक घटना का समन्वय साधारण किन्तु तत्त्वसमन्वय असाधारण। इतिवृत्त कहता है–जब कुरुक्षेत्र की भूमि में कौरव-पाण्डव युद्ध के लिए एकत्रित हुए, तो उस समय अपने राजमहल में

१ गीता १।१।

बैठे हुए अन्ध धृतराष्ट्र ने सञ्जय से प्रश्न किया कि–'हे सञ्जय ! धर्म्मक्षेत्र–कुरुक्षेत्र में इकट्ठे हुए युद्ध की इच्छा रखने वाले मेरे और पाण्डुपुत्रों ने क्या किया'। इस साधारण ऐतिहासिक अर्थसमन्वय को छोडकर अब दो शब्दों में इसके असाधारण तत्त्वसमन्वय पर भी दृष्टि डाल लीजिए। प्रकरणारम्भ में यह कहा गया है कि रसानुगत शान्तिक्षेत्र धर्म्मक्षेत्र है एवं बलानुगत क्षोभक्षेत्र कर्म्मक्षेत्र है। धर्म्मक्षेत्र आत्मानुगामी है, क्यों कि इसमें उस सामान्यधर्म्म का साम्राज्य है, जिसके द्वारा अस्तिसार आत्मभूमा का उत्तरोत्तर विकास होता है। कर्म्मक्षेत्र शरीरानुगामी बनता हुआ विश्वानुगामी है, क्योंकि इसमें उस विशेषधर्म्म का साम्राज्य है, जिसके द्वारा नास्तिसार क्षणिक भूतसम्पत्ति का उत्तरोत्तर संग्रह होता है। वहीं यह भी स्पष्ट किया जा चुका है कि सामान्यधर्म्मानुगत धर्म्मक्षेत्र का विकास जहाँ विशेषभावानुगत कर्म्मक्षेत्र पर अवलम्बित है, वहाँ विशेषधर्म्मानुगत कर्म्मक्षेत्र की स्वरूपरक्षा सामान्यभावानुगत धर्म्मक्षेत्र पर अवलम्बित है। तात्पर्य्य इस स्पष्टीकरण का यही है कि विश्वगर्भ में निवास करने वाले मानव का स्वरूप आत्मा, शरीर–इन दो भागों में विभक्त है। आत्मा नित्य है, सामान्यधर्म्मोपेत है। शरीर अनित्य है, विशेषधर्म्मावच्छिन्न है। दोनों के समुच्चितरूप का ही नाम 'अध्यात्मम्' है और यही मानव-पदार्थ का स्वरूप है। नित्य-आत्मा का विकास नित्य ज्ञानोपासना पर अवलम्बित है, अनित्य शरीर की स्वरूपरक्षा क्षणिक भूतविज्ञान पर अवलम्बित है। ज्ञानानुगत आत्मा निःश्रेयस लक्षण मुक्तिपद का अधिकारी बनता है, विज्ञानानुगत शरीर अभ्युदयलक्षण भुक्तिपद का अधिकारी बनता है। आत्म-शरीरविशिष्ट मानव का परमपुरुषार्थ यही है कि वह मुक्तिपदानुगतिपूर्वक भुक्तिपद का अनुगामी बना रहे। दूसरे शब्दों में अपने इस मानवजीवन में पूर्ण सुखी रहता हुआ वह शरीर त्यागानन्तर परमपद प्राप्त कर ले। यही इसके जीवन की परमशान्ति है। यह शान्ति तभी सम्भव है, जब कि वह अपने जीवन में आत्मा, शरीर, दोनों के सामान्य-विशेष धर्म्म-कर्म्म क्षेत्रों का अनुगमन करता रहे। विशुद्ध धर्म्म-ज्ञान है, विशुद्ध कर्म्म विज्ञान है। ज्ञानात्मक विशुद्ध धर्म्म केवल आत्मानुगामी बनता हुआ विश्वसुख दृष्टचा जहाँ क्षयस्थान है, वहाँ विज्ञानानुगत धर्म्म उभयसम्पत्ति का अनुग्राहक बनता हुआ त्राणस्थान है। एवमेव विज्ञानात्मक विशुद्धकर्म्म केवल शरीरानुगामी बनता हुआ आत्मानन्द दृष्टचा जहाँ क्षयस्थान है, वहाँ ज्ञानानुगत कर्म्म उभयसम्पत्ति का अनुग्राहक बनता हुआ त्राणस्थान है।

इस प्रकार वही धर्म्म कर्म्मवञ्चित बनता हुआ क्षयस्थान एवं कर्म्मयुक्त रहता हुआ त्राणस्थान है एवं वही कर्म्म धर्म्मवञ्चित बनता हुआ क्षयस्थान तथा धर्म्मयुक्त रहता हुआ त्राणस्थान है। मानवजीवन में जो व्यक्ति केवल धर्म्मपद को प्रमुख स्थान देते हुए विश्वस्वरूपसंरक्षिका राजनीति की उपेक्षा कर देते हैं, वे भी पाण्डवों की भांति लोकवैभव से वञ्चित रहते हुए दुःखसंविग्न मानस बने रहते हैं। एवं जो व्यक्ति केवल कर्म्मपद को प्रमुखस्थान देते हुए आत्मस्वरूपसंरक्षिका धर्म्मनीति की उपेक्षा कर देते हैं वे भी कौरवों की भांति आत्मसम्पत्ति से वञ्चित रहते हुए दुःखसंविग्न मानस बने रहते हैं। इस प्रकार आत्मानुगतधर्म्म, शरीरानुगतकर्म्म दोनों पारस्परिक सहयोग से पृथक् रहते हुए क्षोभात्मक युद्धप्रसङ्गों के जनक बन जाते हैं। मानवजीवन के दुःख का मूलकारण क्या है, इस प्रश्न की यही तात्त्विक मीमांसा है। यही वह प्रदेश (देश) है, जहाँ उभयप्रवृत्तिपरायण व्यक्तियों के जीवन में संघर्षात्मक युद्ध के अवसर उपस्थित हुआ करते हैं। कोई भी देश क्यों न हो, जब भी वहाँ के निवासी

मानवों में धर्म्म-कर्म्म की पृथग्भावना जाग्रत होगी, तत्काल युद्धप्रवृत्तियाँ जाग्रत हो जाएँगी। और यों धर्म्माभिनिविष्ट मानव पाण्डवस्थानीय बनकर एवं कर्म्माभिनिविष्ट मानव कौरवस्थानीय बनकर महाभारतयुगोपस्थिति के कारण बन जाएँगे। और ऐसे विषम अवसरों के उपस्थित हो जाने पर समाज के व्यक्तिप्रतिष्ठाकामुक-कर्म्माभिनिविष्ट-मोहासक्त-अन्धनेता अपने अनुगामियों को युद्धाग्नि में झोंककर आप स्वयं घर बैठे-बैठे ही चिन्तातुर बनते हुए यह जिज्ञासा करते रहेंगे कि, 'युद्ध का परिणाम क्या हुआ ?' युद्ध में किसकी विजय हुई ?

युधिष्ठिर के अनुग्रह से पाण्डव जहाँ विशुद्ध धर्म्मपथ के अनुगामी बनते हुए राजनीतिपथ की उपेक्षा कर रहे थे, वहाँ कौरव दुर्य्योधन के अनुग्रह से विशुद्ध कर्म्मपथ के अनुगामी बनते हुए धर्म्मनीति पथ का तिरस्कार कर रहे थे, और कौरवों की इस तिरस्कारवृत्ति को प्रोत्साहन मिल रहा था पुत्र-मोहनिमग्न धृतराष्ट्र के द्वारा। पाण्डव यदि धर्म्मभीरु थे, तो कौरव कर्म्मभीरु। विशुद्ध धर्म्मनीति का डिण्डिमघोष करने वाले पाण्डवों के लिए वही प्रदेश यदि क्षयस्थान बन रहा था, तो विशुद्ध राजनीति के अनुगामी बनने वाले कौरवों के लिए भी वह प्रदेश क्षयस्थान ही सिद्ध हो रहा था। संघर्ष का संकट क्षणभर में दूर हो सकता था, यदि धृतराष्ट्र मानवता के सामान्यधर्म्म का मूल्य समझते तो। परन्तु यहाँ तो इनका लक्ष्य विशेषभावानुगता संकुचितदृष्टि बन रहा था। ये कौरवों को अपना, पाण्डवों को पराया समझने की भूल करते हुए, 'तुम जीवित रहो, परन्तु हमें भी जीने दो' इस मानवधर्म्म की उपेक्षा कर रहे थे। यह भी हमारा, यह भी हमारा, तुम्हारा कुछ नहीं, परन्तु तुम हमारे दास बने रहो' यह ममत्व, यह राज्य-साम्राज्यलिप्सा ही तो संघर्ष का कारण बनती है। ममत्वमूला विषयासक्ति ही तो आगे चलकर लोकवैभव विनाश के साथ-साथ आत्मशान्ति की भी विघातिनी बन जाती है। ममतामोहासक्त ऐसे नेता ही, ऐसे राष्ट्रपति ही किंकर्त्तव्य विमूढ बनकर 'किमकुर्वत' कहते हुए कालान्तर में समाचार सूचकों के द्वारा सपने अनुयायियों के नाश के समाचार सुन-सुनकर ठंडी आहें भरा करते हैं। भगवान् व्यास ने मानव को बतलाया कि मानव ! वही धर्म्म-कर्म्म वञ्चित रहता हुआ क्षयस्थान कर्म्मयुक्त रहता हुआ उभयात्मक बनकर त्राणस्थान है, तो वही कर्म्म-धर्म्मवञ्चित रहता हुआ क्षयस्थान धर्म्मयुक्त रहता हुआ उभयात्मक बनकर त्राणस्थान है। धर्म्म भी क्षेत्रे है, कर्म्म भी क्षे-त्रे है। धर्म्म-कर्म्म की विभिन्नता, ज्ञान-विज्ञान का पार्थक्य, आत्मा-शरीर की विभिन्नानुगति ही युद्धेच्छा का मूल-कारण है और इस इच्छा को प्रोत्साहन मिलता है–ममत्त्व से, धर्म्मासक्ति तथा कर्म्मासक्ति से। यही तुम्हारे दुःखसंविग्न मानस बने रहने का मूलकारण है। इस आसक्ति को दूर किए बिना तुम इन संघर्षों से अपने आप को नहीं बचा सकते। बिना वैराग्यबुद्धियोगानुष्ठान के तुम्हारी यह आसक्ति नहीं हट सकती। बस, प्रस्तुत कृष्णार्जुनसंवादरूप गीताशास्त्र के द्वारा हम अपनी भाषा में तुम्हें उस वैराग्य-बुद्धियोग का ही तात्त्विक स्वरूप बतला रहे हैं, जिसके परिज्ञान-अनुगमन से तुम व्यवसायधर्म्म प्राप्त कर अपना मानवजीवन सुशान्त बना सकोगे।

यह तो हुआ मानवमात्र से सम्बन्ध रखने वाले प्रश्नत्रयी का तात्त्विक समन्वय। अब ऐतिह्य समन्वय का भी स्पष्टीकरण कर लीजिए। आज से पाँच हजार वर्ष पूर्व इसी भारतवर्ष में अधिकार-

सिद्ध राज्यसत्ता को निमित्त बनाकर कुरुक्षेत्र की भूमि में चन्द्रवंशी क्षत्रियबन्धुओं में युद्ध हुआ, जो युद्ध 'महाभारत' नाम से प्रसिद्ध है। देवयुगकालीन भुवनकोषव्यवस्था के अनुसार उत्तर कुरुक्षेत्र में निवास करने वाले मनुष्यविद्ध भौमदेवता जब कभी भारत वर्ष में आते थे, तब वे कुरुक्षेत्र में ही ठहरा करते थे, अतएव कुरुक्षेत्र प्रदेश उस युग में भारतीय साम्राज्यसत्ता से पृथक् माना जाता था। भौमदेवताओं के अस्थायी निवास के कारण ही यह प्रान्त पावन माना गया। और देवयुग के हजारों वर्षों के अनन्तर होने वाले कौरव-पाडण्वों के युद्ध के लिए इसी पावनता के नाते, साथ ही साम्राज्य विस्तार से सम्बन्ध न रखने के कारण जनशून्य बना रहने से यह भूप्रदेश उपयुक्त माना गया। देव-सम्बन्ध से धर्म्मभावना प्रधान कुरुक्षेत्र में दोनों दल समवेत हुए। और इसी युद्धपरिणाम के लिए धृतराष्ट्र की जिज्ञासा हुई। युधिष्ठिर संग से धर्म्मभीरु बने हुए वीरक्षत्रिय अर्जुन थोड़ी देर के लिए व्यामोह में पड़ जाते हैं, और 'न योत्स्ये' कह कर तूष्णीं हो जाते हैं। अर्जुन के सारथी भगवान् कृष्ण के सम्मुख यह परिस्थिति घटित होती है और परिणाम स्वरूप गीतोपदेश प्रवृत्त होता है। अर्जुन की प्रधान आपत्ति थी, 'हम युद्ध में अपने बन्धुओं को मार कर पाप ही सञ्चित करेंगे, अतएव इस राज्य के लिए तो क्या, त्रैलोक्य के साम्राज्य के लिए भी हम युद्ध नहीं करेंगे। बन्धुओं का हनन कर राज्य-सुख प्राप्त करना क्या यही क्षात्रधर्म्म है ?' लक्ष्य दीजिए स्थिति पर। देश भारतवर्ष, योद्धा क्षत्रिय, वर्णाश्रमव्यवस्था के कट्टर पक्षपाती चन्द्रवंशी वीर, युद्धप्रवृत्ति का मूलकारण अधिकारसिद्ध वसुन्धरा को कौरवों से प्राप्त करना। अवश्य ही भगवान् का यह कर्त्तव्य हो जाता था कि वे अर्जुन की वर्णभावना को सुरक्षित रखते हुए शास्त्रसिद्ध पथप्रदर्शन पूर्वक ही अर्जुन को उद्बोधन कराते। निःसंदिग्ध विषय था कि केवल सामान्य-मानवधर्म्म के द्वारा अर्जुन का परितोष तब तक असम्भव था, जब तक कि उसका उसकी शास्त्रमान्यता के अनुसार वर्णधर्म्मप्रामाण्यानुगति से उसका समाधान नहीं कर दिया जाता।

वेदशास्त्रसिद्ध सनातनधर्म्मावलम्बी जिस अर्जुन के मुख से–**'पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदक-क्रियाः'–'नरके नियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम'–'अहो बत महत् पापं कर्त्तुं व्यवसिता वयम्'**–इस प्रकार पदे-पदे शास्त्रनिष्ठा समर्थक उद्गार निकल रहे हों, वह अर्जुन केवल इसी आदेशोपदेश से कब सन्तुष्ट होने वाला था कि–'अपने अधिकार के लिए युद्ध करना मानव का परम धर्म्म है'। अर्जुन तत्काल कह बैठता 'होगा मानव का परमधर्म्म परन्तु शास्त्र इस युद्ध प्रवृत्ति को पाप बतला रहा है, अतएव ऐसा नरकप्रवर्त्तक मानवधर्म्म हमारे लिए त्याज्य है'। अगत्या सामान्य मानवधर्म्मोपदेश के साथ-साथ गीताशास्त्र को अर्जुन के व्यक्तित्व के आधार पर शास्त्रदृष्टि को भी मुख्य स्थान देना पड़ा और उन्हें अपने उपदेशों में बार-बार–**'स्वधर्म्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि'–धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत् क्षत्रियस्य न विद्यते'–'सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ ! लभन्ते युद्धमीदृशम्'–'हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्'**–इत्यादिरूप से अर्जुन की शास्त्रनिष्ठा का समर्थन करते हुए ही उसे युद्ध में प्रवृत्त करना पड़ा। आगे चलकर तो–**'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्य्याकार्य्यव्यवस्थितौ'**–इत्यादिरूप से स्पष्ट ही भगवान् ने अपने उपदेश को शास्त्रमर्य्यादा से मर्य्यादित करते हुए यह सिद्ध कर दिया कि वर्णाश्रमानुगामिनी भारतीयप्रजा का उभयविध कल्याण एकमात्र वेदशास्त्रसिद्ध विशेषमानवधर्म्मानुगति पर ही निर्भर

है। यही गीताशास्त्र का मुख्य प्रतिपाद्य विषय भी है और यही गीता का वह प्रथम तथा मुख्य प्रतिपाद्य विषय है, जिसका भारतीय वर्णप्रजा के साथ ही असपत्न सम्बन्ध है।

अवतार पुरुष का लक्ष्य भूभार उतारना माना गया है। श्रीकृष्ण पूर्णावतार थे, **'अनुग्रहाय लोकानाम्'**–इस व्यासवचन के अनुसार सम्पूर्ण मानवसमाज के कल्याण के लिए उनका अवतार हुआ था, अतएव भारतीय शास्त्रनिष्ठ वर्णधर्म्मानुगामी मानवसमाज के साथ-साथ उन्हें अन्य मानवों के कल्याण के भी विधि-विधानों का गीताशास्त्र में प्रतिपादन करना पड़ा, जैसा कि गीताशास्त्र के सामान्योपदेशात्मक–**'समोऽहं सर्वभूतेषु'**–**'समं पश्यन् हि सर्वत्र'**–**'समं सर्वेषु भूतेषु'**–**'समः शत्रौ च मित्रे च'**–**'संकल्पप्रभवान् कामान्'**–इत्यादि वचनों से प्रमाणित है। **'मां हि पार्थ ! व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः। स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्'**–स्पष्ट ही गीताशास्त्र के वचन सामान्य मानवसमाज के कल्याण का उद्‌घोष कर रहे हैं। इस प्रकार अवतारपुरुष भगवान् कृष्ण के द्वारा वर्णप्रजा के साथ मानवमात्र के कल्याणोपायों का भी गीताशास्त्र में पदे-पदे उपबृंहण हुआ है। यही मानवसमाज के विभिन्न दो वर्गों का तथा उनसे सम्बन्ध रखने वाले गीता के दो विभिन्न दृष्टिकोणों का इतिवृत्त है, जिसे लक्ष्य बनाकर ही हमें गीतासारपरीक्षा में प्रवृत्त होना है।

दूसरी दृष्टि से विषय का समन्वय कीजिए। गीताशास्त्र की सार्वभौमता का हृदय से अभिनन्दन करने के साथ-साथ ही गीता में प्रतिपादित सांख्य-योगनिष्ठाओं के आधार पर यह भी विना किसी आपत्ति के स्वीकार कर ही लेना पड़ेगा कि गीताशास्त्र एक ओर जहाँ सम्पूर्ण मानवसमाज को लक्ष्य बना रहा है, तो दूसरी ओर वह भारतीय वर्णप्रजा का भी प्रातिस्विक शास्त्र बन रहा है। जो भारतीय गीताव्याख्याता गीता को केवल भारतीय वर्णप्रजा का उपकारक मानते हुए इस मानवशास्त्र को मतवाद की संकुचित सीमा से युक्त बना रहे हैं, वे भी हमारी दृष्टि से भ्रान्तिपथ का अनुसरण कर रहे हैं। साथ ही जो विदेशी, किंवा एतद्देशीय गीताप्रेमी गीता को रूस के साम्यवाद अथवा तो कल्पित अहिंसावादादि अन्यान्यवादों की प्रतिपादिका बतलाते हुए इसे केवल सामान्य-मानव के लिए विहित मान रहे हैं, वे भी निश्चयेन सर्वात्मना भ्रान्त हैं। यही कारण है कि आज की इस वर्त्तमान शताब्दी में गीता का वास्तविक तत्त्व सर्वथा विलुप्त हो चला है। सभी देशों के मानव गीता की पुस्तक से यद्यपि अप्रत्याशित प्रेम प्रकट कर रहे हैं, तथापि गीता-अर्थ के सम्बन्ध में आज विभिन्न दृष्टिकोण पुष्पित-पल्लवित होते हुए गीता के–**'इदमित्थमेव, नान्यथा**–इस निश्चयात्मक समन्वय से पृथक् बनते जा रहे हैं, कारण इस दृष्टिभेद के प्रत्यक्ष हैं। वेदशास्त्रसिद्ध ज्ञानगर्भित, अतएव नित्य विज्ञान की आधार शिला को अपनी मूलप्रतिष्ठा बनाने वाले गीताशास्त्र के निश्चयात्मक समन्वय के लिए वेदशास्त्र-परिज्ञान नितान्त अपेक्षित है। कुछ एक शताब्दियों से वह पुरातन शाश्वत वेददृष्टि विलुप्त हो गई है। इसी कारण भारतीय व्याख्याताओं की दृष्टि में गीताशास्त्र एक साम्प्रदायिक ग्रन्थ बन गया है। इन भारतीय व्याख्याताओं ने अपने मानवीय-सामयिक मतवाद के पोषण के लिए ही गीता का आश्रय लिया है। फलस्वरूप गीता का वेदसिद्ध बुद्धियोगतत्त्व सर्वथा तिरोहित हो गया है।

उधर गीता की सार्वभौमता के पक्षपाती वर्त्तमान युग के शिक्षित शिष्ट पुरुषों ने कुछ तो भाषा-व्याख्याओं के आधार पर अधिकांश में विदेशी विद्वानों की व्याख्याओं के आधार पर गीता-समन्वय करने की विफल चेष्टा करते हुए इसके वास्तविक तत्त्व को आवृत कर डाला है। वेदशास्त्र-परिज्ञान की तो कथा ही दूर रही, जिनका संस्कृतभाषा पर भी पूर्ण अधिकार नहीं हैं, जिनका समस्त मानव-जीवन केवल पश्चिमी शिक्षा में ही व्यतीत हुआ है, ऐसे भारतीय भी गीताव्याख्या में प्रवृत्त होते हुए अपनी व्यक्तिप्रतिष्ठा के मोह में पड़कर अपने आप को गीताशास्त्र के महान् पण्डित मानने-मनवाने की चेष्टा में संलग्न हैं। कहीं गीता पर पद्यानुवाद लिखे जा रहे हैं, कहीं गीता को कर्म्मयोग-शास्त्र माना जा रहा है, कहीं इसे असहयोगपरक लगाया जा रहा है, तो कहीं इसको अनीश्वरवादमूलक पश्चिमीसाम्यवाद-समर्थक माना जा रहा है और यों वेदशास्त्रतत्त्वानभिज्ञ अज्ञ व्याख्याताओं, गीताभक्तों के द्वारा आज यह विश्वज्ञानराशि उपहास की सामग्री बनाई जा रही है। श्रुति-स्मृति-पुराणादि आर्ष-शास्त्रों पर अणुमात्र भी श्रद्धा-विश्वास न करने वाले गीताभक्तों के श्रीमुख से जब हम गीता का समन्वय सुनते हैं, तो हमें अवाक् रह जाना पड़ता है। गीतोपदेशक भगवान् ही जानें, उन्होंने गीता के उन शतशः शब्दों का क्या अर्थ समझा है, जिनका परिज्ञान एकमात्र वैदिक-तात्त्विक-परिभाषाज्ञान पर ही अवलम्बित है। जिस गीतातत्त्व के सम्बन्ध में '**सम्यग् जानाति वै कृष्णः**'-यह आभाणक **प्रसिद्ध है,** वह आज क्या ऐसा सस्ता हो गया कि अक्षरमात्र बांचने वाले भी गीता के न केवल व्याख्याता ही बन गए, अपि तु, जिन्होंने साभिनिवेश यह कहना भी आरम्भ कर दिया कि-'हमने अपने अनुभवों से गीता का यही सार समझा है और यही ठीक है'। जिस गीताशास्त्र की रहस्यपूर्ण पहेलियाँ आज तक तत्त्ववेत्ता विद्वानों के लिए भी पहेलियाँ ही बनती चली आ रही हैं-वह गीताशास्त्र आज एक आने दो आना के भाषानुवादविभूषित सस्ते संस्करणों से सुसंस्कृत बनकर बच्चे-बच्चे के मनोविनोद का कारण बन रहा है। गीतामण्डलियों द्वारा स्थान-स्थान पर गीता के उन्हें उलटे-सीधे पारायण किए-करवाए जा रहे हैं। सत्संगभवन नाम की अगणित संस्थाओं में ढेर की ढेर गीता की पुस्तकें पड़ी रहती हैं और नियततिथियों में नियतसमयपर्य्यन्त अश्रुपूर्णाकुलेक्षण बनकर भक्त लोग झंझा-ताल-मृदङ्ग की ध्वनियों पर गीता का उच्चस्वर से पारायण करते हुए मानों यह अनुभव कर रहे हैं कि गीताशास्त्र का आविर्भाव हमारे इस पारायण-पाठ के लिए ही हुआ था। क्या मजाल, जो आप उनके सम्मुख गीता की चर्चा कर लें। गीता का नाम सुनते ही ये भक्तप्रवर गीता-श्लोकों की वर्षा आरम्भ कर देंगे और नेत्रनिमीलित कर उपदेश देना आरम्भ कर देंगे। मानों इस पारायण के साथ-साथ ही गीता का सर्वस्व-रूप से इन्होंने पान कर लिया है। आज ऐसे गीता-विज्ञ भी आप उपलब्ध कर सकते हैं, जो आँख मूंदे-मूंदे ही यह बतला सकते हैं कि अमुक शब्द गीता के अमुक पृष्ठ में, अमुक अध्याय में, अमुक श्लोक में, अमुक पङ्क्ति में आया है। इसी पद्धति के आधार पर, सुनते हैं-आज गीता परीक्षाएँ प्रचलित हैं और अब तो गीताप्रचारक लोग गीता के मन्दिर तक बनवाने लगे हैं। यों आज आबाल-वृद्ध-वनिता सब गीता के अनन्य भक्त बने हुए हैं। परन्तु आश्चर्य्य ! देश अहर्निश इस गीताभक्ति में तन्मय रहता हुआ भी दिन-दिन अपना विकास आवृत करता जा रहा है। गीताभक्तों का उत्तर तो यही होगा कि-कलियुग है, कलियुग। हमें भी नतमस्तक होकर इसी उत्तर को मानते हुए कहना पड़ेगा कि वास्तव में कलियुग है। नहीं, तो क्या रहस्यपूर्ण इस भगवदुपनिषत् की ऐसी दुर्दशा होती ?

जो अर्वाचीन गीताव्याख्याता गीता को सामान्य-मानवशास्त्र मानने-मनवाने की भूल कर रहे हैं, उनके उद्‌बोधन के लिए हम सर्वप्रथम पूर्वोद्धृत प्रश्नत्रयी का समन्वय उपस्थित करते हैं। भारतवर्ष को ही सर्वप्रथम गीतोपदेशश्रवण का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। भगवान् कृष्ण का आविर्भाव भी उस भारत देश में हुआ है, जहाँ–'**यस्मिन् देशे मृगः कृष्णः**' के अनुसार वेदसिद्ध वर्णाश्रमानुगत सनातन मानवधर्म्म प्रकृत्या पुष्पित-पल्लवित है। देशधार्म्मिक, उपदेशक धर्म्मरक्षक–वह धर्म्मरक्षक, जिसका अवतार ही–'**यदा यदा हि धर्म्मस्य०**' इस उपदेशवचन के अनुसार वेदधर्म्मरक्षा के लिए समय-समय पर हुआ करता है–ऐसे अवतारपुरुष द्वारा सर्वप्रथम उपदेश सुनने वाले विवस्वान् मनु भी वेदशास्त्र के अनन्य उपासक और दुबारा उसी पुरुष के द्वारा उपदेश सुनने वाले नरावतार अर्जुन भी शास्त्र के प्रति अनन्य श्रद्धा रखने वाले थे। देश और पात्र के विचार के अनन्तर काल का समन्वय कीजिए। महाभारतयुग की परि-स्थिति धार्म्मिक-राजनैतिक-सामाजिक-वैय्यक्तिक–सभी दृष्टियों से पतन की पराकाष्ठा पर पहुँची हुई थी। धार्म्मिक स्थिति के सम्बन्ध में यही स्पष्टीकरण पर्य्याप्त होगा कि उस युग में धर्म्म से सम्बन्ध रखने वाला सांख्य-योगसमन्वयात्मक बुद्धियोग सर्वथा विलुप्त हो चला था। आसक्तिपरायण कर्म्मठ यज्ञादिकर्म्म को ही मानव का परम पुरुषार्थ बतला रहे थे एवं ज्ञानाभिनिविष्ट लोग त्यागप्रधान सांख्य-मार्ग का ही यशोगान कर रहे थे। दोनों दृष्टिकोणों में पर्य्याप्त संघर्ष उपस्थित हो रहा था। और यों धार्म्मिक-शास्त्रीय क्षेत्र उस काल में समन्वय से वञ्चित हो रहा था। दूसरे शब्दों में प्रवृत्तिप्रधान यज्ञ-तपो-दानलक्षण कर्म्मपथ ज्ञानपथ से वञ्चित रहता हुआ ऐहलौकिक भूतैषणाओं का, पारलौकिक देवैषणाओं का समर्थक बना हुआ था एवं निवृत्तिप्रधान त्यागलक्षण ज्ञानपथ कर्म्मपथ की उपेक्षा करता हुआ सांसारिक अभ्युदय का अन्यतम शत्रु सिद्ध हो रहा था। दोनों ही पथ पारस्परिक समन्वय से वञ्चित रहते हुए क्षीणोदर्क के अनुगामी बन भूमोदर्क से विदूर थे। ज्ञानपथानुगामी सांख्यों का लक्ष्य था वह भूतात्मा जो प्रतिशरीर में विभिन्न रहता हुआ विशेष है। कर्म्मपथानुगामी योगियों का लक्ष्य था भूतात्मगर्भित प्रज्ञानात्मा, जो अपने स्वाभाविक चान्द्र-सौम्य-स्नेह गुण का अनुगामी बना रहता हुआ स्नेहासक्तिरूप कामभाव का उत्तेजक बना रहता है। सांख्य यदि त्यागासक्ति के अनुगामी थे तो योगनिष्ठ ग्रहणासक्ति के पक्षपाती थे। सांख्य जहाँ विशुद्ध आत्मकल्याण के पक्षपाती बनते हुए संख्या-सिद्ध प्राकृत ज्ञान के (सांख्यज्ञान) के बल पर लोकवैभव की उपेक्षा कर रहे थे, वहाँ योगनिष्ठ विशुद्ध शरीर कल्याण के पक्षपाती बनते हुए यज्ञादि सिद्ध स्वर्गादिकामनाओं में रत थे। सांख्य यदि गुणातीत बनते हुए आसक्तिलक्षण त्रिगुणभाव में निमग्न थे, तो योगी प्रत्यक्ष में त्रिगुणविभूति से विभूषित थे। इस प्रकार महाभारत युग में शास्त्रीय समन्वित क्षेत्र यों दो विभिन्न धाराओं में प्रवाहित होकर मानव समाज की लक्ष्यच्युति का कारण बना हुआ था, जैसा कि भगवान् के–'**लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ**' –इत्यादि वचन से स्पष्ट है। अर्जुन पक्षपाती था उस भूतात्मा का, जो प्रतिशरीर में वास्तव में विभिन्न है, जो वास्तव में जन्म-मृत्यु का अनुगामी है। सविशेष भूतात्मानुगामी अर्जुन का निर्विशेष सर्वत्र समरूपेणा-वस्थित अखण्ड सामान्य अव्ययधरातल शिथिल था, अतएव उसका अश्रुपूर्णाकुलेक्षण बनना स्वाभाविक था। और निश्चित है कि जो भी मानव अपने इस सामान्य-व्यापक-अव्ययात्मस्वरूप-बोध से वञ्चित रहते हैं, वे संघर्ष के अवसरों पर यों ही अस्थिरप्रज्ञ बनते हुए दुःखसंविग्नमानस हो जाते हैं। अर्जुन की इस

शिथिलता के निराकरण के लिए आवश्यक था कि भगवान् उसे निष्ठाद्वयी का विश्लेषण कर अखण्ड अव्ययात्मा का बोध कराते और उसके साथ अर्जुन के सविशेष भूतात्मा का बुद्धियोग कराते । यही हुआ भी और इसी तात्त्विक विश्लेषण के आधार पर अर्जुन के मुख से–**'नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत् प्रसादान्मयाच्युत'**–ये उद्गार निकले । ज्ञानानुगता सांख्यनिष्ठा, कर्म्मानुगता योगनिष्ठा–दोनों का पारस्परिक समन्वय कराते हुए–**'एकं साख्यं च योगं च यः पश्यति, स पश्यति'** रूप से भगवान् ने अर्जुन का उद्‌बोधन कराया और यों धर्म्म-कर्म्मसंघर्षात्मक उस युग में भगवान् ने अपने पुरातन बुद्धियोग का पुनः संस्करण किया । अहो ! आज एवंविध वही गीताशास्त्र अज्ञजनों के द्वारा शास्त्रविरुद्ध कल्पितपथों का समर्थक बनाया जा रहा है । गीताभिनिविष्ट वर्तमान व्याख्याता समदर्शनानुगत-विषमवर्त्तनात्मक गीताशास्त्र को आज कल्पित साम्यवाद का समर्थक ग्रन्थ मानते हुए प्रायश्चित्ती बन रहें हैं और यों पाँच सहस्र वर्ष पीछे पुनः गीता का वह वास्तविक बुद्धियोगोपदेश विलुप्त हो चला है, जिसके पुनः प्रति-संस्करण के लिए गीता के पूर्वोक्त दोनों दृष्टिकोणों का विश्लेषण आवश्यक माना गया है ।

धर्म्म का आत्मा से सम्बन्ध है एवं कर्म्म का शरीर से सम्बन्ध है । आत्मा एक स्वतन्त्र क्षेत्र है, तथा शरीर एक स्वतन्त्र क्षेत्र है । दोनों में से यद्यपि वर्त्तमानपरिभाषा में शरीर ही क्षेत्र नाम से प्रसिद्ध हो रहा है तथापि शरीरवत् आत्मा भी निर्वचनमर्य्यादा की उपेक्षा क्षेत्र नाम से व्यवहृत किया जा सकता है । **'धर्म्मक्षेत्रे-कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः'** के पूर्वप्रतिपादित तात्त्विक समन्वय की दृष्टि से वेद-शास्त्र किसे क्षेत्र कहता है एवं वह वैदिक क्षेत्रपरिभाषा आत्मा तथा शरीर दोनों पर घटित होती है, अथवा नहीं ?, इस प्रश्न की मीमांसा कीजिए । **'इयं वै क्षेत्रं पृथिवी'**[1] –इस निगम-श्रुति ने पृथिवी को क्षेत्र कहा है । क्षेत्र उस प्रतिष्ठाभूमि का नाम है, जिसमें 'आत्मा-पदम्-पुनःपदम्'–ये तीन पर्व रहते हैं । हृत्प्रतिष्ठा-अन्तःप्रतिष्ठा-बहिःप्रतिष्ठा–इन्हीं तीनों प्रतिष्ठातत्त्वों को विज्ञानपरिभाषा में क्रमशः 'आत्मा-पदम्-पुनःपदम्' कहा गया है । प्रत्येक सत्यपिण्ड में ये तीनों प्रतिष्ठातत्त्व समन्वित रहते हैं । केन्द्र, केन्द्रानुगतस्पृश्यपिण्ड, केन्द्रानुगतदृश्यमण्डल–तीनों की समन्वित अवस्था का नाम ही 'पदार्थ' (सत्यपदार्थ) है । कुछ एक पदार्थ वस्तु के पुनःपदात्मक बहिर्मण्डल (दृश्यमण्डल) में, कुछ एक पदार्थ वस्तु के पदात्मक अन्तःपिण्ड (स्पृश्यपिण्ड) में एवं कुछ एक पदार्थ वस्तु के केन्द्र में प्रतिष्ठित रहते हैं । केन्द्र-पिण्ड-मण्डलभुक्त पदार्थों की प्रतिष्ठा होने से ही केन्द्र-पिण्ड मण्डलप्रतिष्ठात्रयीरूप सत्यपिण्ड को 'क्षेत्र' कहा जा सकता है और इस परिभाषा से पाञ्चभौतिक पिण्ड-मात्र क्षेत्र नाम के अधिकारी बन सकते हैं । वस्तुपिण्ड का केन्द्र भी एक क्षेत्र है, स्वयं स्पृश्यपिण्ड भी एक क्षेत्र है एवं वस्तुमहिमा-मण्डल भी एक क्षेत्र है । प्रतिष्ठाभूमि का (आधार का) नाम ही पृथिवी है एवं क्षेत्र है । इस परिभाषा के अनुसार चन्द्रमा-नक्षत्र-ग्रह-सूर्य्य-परमेष्ठी-स्वयम्भू–आदि यच्चयावत् भौतिक-पिण्डों को 'पृथिवी' नाम से व्यवहृत किया जा सकता है । इसी आधार पर–**'कुरुक्षेत्रं वै देवानां देवयजनमास'**–इत्यादिरूप से श्रुति ने सौरमण्डल को भी क्षेत्र कह दिया है । तात्पर्य्य, प्रतिष्ठाभूमि का ही नाम पृथिवी है एवं पृथिवी ही क्षेत्र है ।

---

१ कौ०ब्रा० ३०।११, गो०ब्रा०उ० ५।१० ।

मानवप्रजाप्रतिष्ठा की दृष्टि से भूपिण्डात्मिका पृथिवी का ही यहाँ समन्वय किया जाएगा। **'यथाग्निगर्भा पृथिवी तथा द्यौरिन्द्रेण गर्भिणी'**—इत्यादि श्रुति के अनुसार यह भूपिण्ड अग्नितत्त्व-प्रधान है। अग्नितत्त्व तत्त्वात्मक, भूतात्मक भेद से दो भागों में विभक्त है। तत्त्वात्मक अग्नि देवाग्नि है, भूतात्मक अग्नि भूताग्नि है। देवाग्नि अमृतलक्षण चितेनिधेय अग्नि है, भूताग्नि मृत्युलक्षण चित्याग्नि है। इस प्रकार पार्थिव प्रजापति का शरीर अमृताग्नि-मर्त्याग्नि, भेद से दो भागों में विभक्त हो रहा है। मर्त्याग्नि पञ्चीकृत होने से पञ्चभूतात्मक है। अमृताग्नि स्तौम्यत्रिलोकी के वितान से त्रिमूर्त्ति है। अमृताग्नि के ये ही तीनों विवर्त्त क्रमशः सर्वज्ञ-हिरण्यगर्भ-विराट् नाम से व्यवहृत हुए हैं। त्रिमूर्त्ति यही पार्थिव अग्नि पार्थिव संस्था का आत्मा है एवं पञ्चमूर्त्ति भूपिण्ड इस आत्मा का शरीर है। इस प्रकार एक ही पृथिवी-क्षेत्र अमृत-मर्त्याग्नि भेद से आत्मा-शरीर—इन दो भागों में विभक्त हो रहा है। एक ही क्षेत्र विभिन्न दो क्षेत्रों में विभक्त हो रहा है। यही पार्थिव अमृताग्नि ब्राह्मण ग्रन्थों में—'भरत'-'भारत' इत्यादि नामों से व्यवहृत हुआ है। यद्यपि इस भरत किंवा भारत पार्थिव अमृताग्नि के भोग-सम्बन्ध से सम्पूर्ण भूपिण्ड को भरतखण्ड, किंवा भारतवर्ष कहना चाहिए था और सम्भवतः इसी आधार पर वेदमहर्षियों का—**'कृण्वन्तो विश्वमार्य्यम्'**—यह निगम भी प्रतिष्ठित हुआ हो, तथापि चूंकि इस भरत-अग्नि का पूर्ण विकास इसी देश में हुआ, जिसका कि प्रत्यक्ष प्रमाण भरताग्निप्रकृतिरूप कृष्णमृग है, अतएव 'तद्वादन्याय' से केवल यही भूखण्ड 'भरतखण्ड', किंवा 'भारतवर्ष' नाम से विभूषित हुआ और इसी अग्निप्राधान्य से अग्नि के अग्नि-इन्द्र-विश्वेदेव नामक अवान्तर स्वरूपों से सम्बन्ध रखने वाले ब्रह्म-क्षत्र-विड्वीर्य्यों से युक्त वर्णों का, आश्रम-व्यवस्था का, वर्णाश्रमानुगत अग्नित्रयीमूलक सनातनधर्म्म का इसी पावन देश में विस्तार हुआ। जिन व्यवस्थाओं की कर्म्मयोगपरीक्षाखण्ड में विस्तार से मीमांसा की जा चुकी है।

बतलाना प्रकृत में यही है कि पार्थिव उभयविध अग्नि ही पार्थिव मानवप्रजा का स्वरूपनिर्म्मापक है। **'एतमेके वदन्त्यग्निम्'**—इस मानवीय सिद्धान्त के अनुसार यह अमृताग्नि 'मनु' भी कहलाए हैं। इसी मनु-अग्नि से मानवप्रजा की आत्मसंस्था का स्वरूपनिर्म्माण हुआ है, अतएव इस पार्थिव प्रजा को 'मानव' नाम से व्यवहृत करना अन्वर्थ बन रहा है। पार्थिव मानवप्रजा के पाञ्चभौतिक शरीर का स्वरूप-निर्म्माण पार्थिव चित्य-पञ्चीकृत-मर्त्य-भूताग्नि से हुआ है एवं मानव प्रजा के त्रिमूर्त्ति पार्थिव भूतात्मा की वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञ कलाओं का निर्म्माण पार्थिव चितेनिधेय-अमृत-देवाग्नि की विराट्-हिरण्यगर्भ-सर्वज्ञ कलाओं से हुआ है। इस प्रकार पार्थिव अमृतात्मा मानव का भूतात्मा बना है, पार्थिव मर्त्यपिण्ड मानव का मर्त्य भौतिकशरीर बना है और यों प्रकृतिवश (उपादानकारणवश) मानवस्वरूप आत्मा, शरीर—इन क्षेत्रों में विभक्त हो रहा है।

विचार कीजिए, यदि आत्मधर्म्म शरीरधर्म्मों की उपेक्षा कर देंगे, तो क्या परिणाम होगा ? एवं यदि शरीरकर्म्म आत्मधर्म्मों का परित्याग कर देंगे, तो क्या परिणाम होगा ?। तत्त्वज्ञविद्वान् इस निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि जो व्यक्ति केवल आत्मधर्म्म में अभिनिविष्ट रहेगा, वह अपनी ऐहलौकिक जीवन यात्रा (शरीरसुख) से भी वञ्चित रह जाएगा एवं उसे पारलौकिक शान्ति भी न मिलेगी। उधर जो व्यक्ति केवल शरीरकर्म्मों का पक्षपाती बना रहेगा, वह तमोबहुलविश्वधर्म्म के स्वाभाविक आकर्षण से

शरीरयात्रा अवश्य ऋजुभावपूर्वक चला लेगा, परन्तु परिणाम में समूल नष्ट हो जाएगा❀ । प्रत्यक्ष कर लीजिए इस विचार-परिस्थिति का वर्तमान भारतीय प्रजा में । जो अपने आपको धर्म्मज्ञ मान रहे हैं– वे बुभुक्षा से पीड़ित हैं । उधर अधर्म्म-पथानुगामी लोग सुखी प्रतीत हो रहे हैं । परिणामतः दोनों ही वर्ग धर्म्म-कर्म्म समन्वय से वञ्चित रहते हुए नाशपथ के यात्री बने हुए हैं । कैसे इस नाशपथ से इन वर्गों का त्राण हो ?. यही वह समस्या है, जिसके सम्बन्ध में आज विश्व के सभी विचारशील विद्वान् चिन्तित हैं । चिन्ता के फलस्वरूप इन मानवता के हितैषियों के द्वारा गत शताब्दी में जो भी उपाय मानव-समाज के सम्मुख आए, मानना पड़ेगा कि तत्त्वतः उसमें से कोई भी उपाय रोग का वास्तविक निदान न कर सका । धर्म्मपक्षपातियों ने कहा, धर्म्म त्याग से मानवसमाज में अशान्ति उपस्थित हो रही है । कर्म्म-पक्षपातियो न बतलाया–परतन्त्रता ही देशदुर्द्दशा का मूलकारण है और इस परतन्त्रता का जन्मदाता है–भारतीयधर्म्म, अतः पहले इसे नष्ट करो, पुनः संगठन द्वारा, सूतकात कर–खादी पहनकर–स्वतन्त्रता प्राप्त करो । तभी देश सुसमृद्ध बनेगा । धर्म्मपक्षपातियों ने करोड़ों अरबों की संख्या में नामजप भी किए, कर्म्मपक्षपातियों ने करोड़ों गज सूत भी कात डाला, फिर भी देखते हैं–देश अपने विद्या-शिल्प-कला-कृषि-वाणिज्य आदि किसी भी क्षेत्र में तो सफलता प्राप्त न कर सका । क्यों ?, गीताचार्य्य भगवान् कहते हैं–तुमने न अपने धर्म्म में क्षेत्रज्ञ का आश्रय लिया, न तुमने अपने कर्म्म में क्षेत्रज्ञ का आश्रय लिया । जिस प्रकार विना क्षेत्रपति के क्षेत्र उजड़ जाता है, जिस प्रकार बिना सारथि के अश्वनष्ट-रथभग्न-रथी विनष्ट हो जाता है, तथैव विना क्षेत्रज्ञ के आश्रय लिए तुम्हारा धर्म्म, तुम्हारा कर्म्म अभ्युदय-समृद्धि के स्थान में प्रत्यवाय-विनष्टि का ही कारण बनता जा रहा है ।

'**तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः**–यह सिद्धान्त विषय है । कौन वस्तु किस प्रकार उपयोग में ली जाने से श्रेयस्कर बनती है, इस विवेकज्ञान से ही शान्तिलाभ हुआ करता है । पाञ्चभौतिक शरीरक्षेत्र, त्रिदैविक आत्मक्षेत्र, इन दोनों क्षेत्रों का जब तक स्वरूपज्ञान नहीं हो जाता, तब तक इनका सुव्यवस्थित-रूप से (प्राकृतिक नियमानुसार) अनुगमन नहीं किया जा सकता । यद्यपि सेन्द्रियमन भूतात्मक्षेत्र, भौतिक शरीरक्षेत्र दोनों के मध्य में प्रतिष्ठित होकर दोनों क्षेत्रों को जानने का प्रयास करता है, परन्तु यह अपने स्वाभाविक स्नेहगुण के कारण इन दोनों भौतिकक्षेत्रों के सञ्चालन में असमर्थ रहता हुआ स्वयं भूतासक्ति में लिप्त हो जाता है । ऐसा होना है भी प्राकृतिक । क्योंकि मन पार्थिव उपग्रह होने से पार्थिव आकर्षण से आकर्षित रहता है । पृथिवी का उपग्रहभूत, पार्थिव अन्न को अपना उपादान बनाने वाला मन कैसे इन क्षेत्रों का यथाप्रकृति सञ्चालन कर सकता है । अपि तु, यह तो अपनी स्वाभाविक राग-द्वेषासक्ति से भूतात्मा तथा शरीर की स्वस्थता का विघातक और बना रहता है । मनमानी करने वाला आत्मक्षेत्र भी स्वस्वरूप खो बैठता है एवं मनोऽनुगत इन्द्रियवर्ग का दास बना हुआ शरीर भी अपना स्वास्थ्य खो बैठता है । अवश्य ही इन दोनों क्षेत्रों को किसी वैसे क्षेत्रज्ञ के आश्रय की आवश्यकता है, जो इन दोनों पर अपना प्रभुत्व स्थापित रखता हुआ इन्हें स्वस्वरूप से

❀ **अधर्म्मेणैधते तावत्ततो भद्राणि पश्यति ।**
ततः सपत्नाञ्जयति समूलस्तु विनश्यति ।। (मनुस्मृति४।१७४ ।)

सुव्यवस्थित बनाए रहे। वही क्षेत्रज्ञ गीतापरिभाषा से '**विद्याबुद्धि**' नाम से व्यवहृत हुआ है। विद्या-बुद्धि अमृत सूर्य्य का अध्यात्ममुक्त अंश है, जिसे 'विज्ञानात्मा' भी कहा गया है। अव्ययात्मक प्रत्यगात्मा (आध्यात्मिक ईश्वराव्यय), क्षरात्मक जीवात्मा (भूतात्मक्षेत्र), दोनों के मध्य में प्रतिष्ठित सौर विज्ञानात्मा अक्षरप्रधान है। अपने इसी मध्यस्थिति से 'देहली-दीपक न्याय' द्वारा यह विज्ञानात्मा–'**तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीराः**'–इत्यादि यजुर्वर्णनानुसार अव्ययप्रधान ईश्वरात्मा के स्वरूपज्ञान से भी परिचित रहता है एवं आत्मक्षरप्रधान भूतात्मक्षेत्र तथा विकारक्षरप्रधान शरीरक्षेत्र इन दोनों क्षेत्रों के स्वरूपज्ञान से भी परिचित रहता है। आध्यात्मिक अव्ययप्रधान ईश्वरात्मा क्षेत्रपति है। जिसका जिस क्षेत्र पर असपत्न स्वत्व रहता है, वही क्षेत्रपति कहलाता है। ईश्वरात्मा (अव्ययात्मा) के अन्तरङ्ग बहिरङ्ग प्रकृतिरूप आत्मक्षर-विकारक्षरों से समुद्भूत भूतात्मा-शरीर-क्षेत्रों पर सिवाय ईश्वरात्मा के और किसका अधिकार रह सकता है, अतएव अवश्य ही इस प्रत्यगात्मा को क्षेत्रपति कहा जा सकता है। क्षेत्र की स्वरूपरक्षा क्षेत्रपति की अनुग्रहदृष्टि पर अवलम्बित है। यह अनुग्रह-दृष्टि प्राप्त होती है मध्यस्थ क्षेत्रज्ञ विज्ञानात्मा के समाश्रय पर। शरीरविशिष्ट भूतात्मक्षेत्र इस क्षेत्रज्ञ विज्ञानात्मा के साथ पहले युक्त होता है। यही भूतात्मा का साध्यावस्थापन्न पहला साध्य बुद्धियोग है। इससे इसमें समत्व-धर्म्म का उदय होता है। ज्ञानकर्म्म का समन्वय हो जाता है। इस समन्वय से इसका आत्मक्षेत्रानुगामी धर्म्मपथ, शरीरक्षेत्रानुगामी कर्म्मपथ–दोनों परस्पर उपकार्य्य-उपकारक बन जाते हैं। सहजभाषानुसार धर्म्मनीति राजनीति के समावेश से विकसित हो पड़ती है, राजनीति धर्म्मनीति के समावेश से पुष्पित पल्लवित हो जाती है। राजनीतियुक्त धर्म्माचरण से धार्म्मिक व्यक्ति भी उभयविध कल्याण का भागी बन जाता है एवं धर्म्मनीतियुक्त राजनीति के आचरण से कर्म्मठव्यक्ति भी उभयविध कल्याण का क्षेत्र बन जाता है। इस साध्यावस्था से आगे चलकर ज्यों-ज्यों इस भूतात्मा का विज्ञानात्मा (साध्यबुद्धि-योगानुष्ठान द्वारा प्राप्त समत्व के प्रभाव से) अधिकाधिक विकसित होने लगता है, त्यों-त्यों यह भूतात्मा इस बुद्धि के द्वारा, किंवा साध्यबुद्धियोग द्वारा उस अपने मूलप्रभव क्षेत्रपति अव्ययात्मा के साथ तादात्म्य सम्बन्ध प्राप्त करने में समर्थ हो जाता है और इसकी यही अवस्था सिद्धबुद्धियोगावस्था है। यहीं आकर मानवजीवन का परमपुरुषार्थ सफल होता है। यही गीता की वास्तविक सारपरीक्षा है, जिसका प्रस्तुत खण्ड में हमें विभिन्न दृष्टिकोणों से समन्वय करता है। गीताशास्त्र के द्वारा भगवान् मानवसमाज को ज्ञानकर्म्मसमन्वयमूला यही बुद्धियोगसम्पत् प्रदान करना चाहते हैं, जिसके द्वारा भूतात्मा ईश्वरात्मानुगामी बनने में समर्थ होता हुआ अपने इस भौतिक जीवन में भी सुखी रहता है एवं पारलौकिक शान्ति भी प्राप्त कर लेता है।

भगवान् ने निश्चय किया कि मानवसमाज को उसके ऐहिक-आमुष्मिक कल्याण के लिए बुद्धियोगसम्पत् प्रदान करनी चाहिए। इस लोकानुग्रहकामना को सफल बनाने के लिए भाग्यशाली अर्जुन ही इस युग के प्रथम लक्ष्य बने। भगवान् वक्ता और आस्तिक अर्जुन श्रोता। भगवान् के सामने एक जटिल समस्या उपस्थित हो गई। पात्र अर्जुन विशेष धर्म्म का पक्षपाती, उधर अभीष्ट सम्पूर्ण मानवसमाज का कल्याण। भगवान् के लिए समस्या अधिक समय तक समस्या न रह सकी। आपने मानवसमाज के आर्ष-अनार्षवर्गों को लक्ष्य बनाते हुए उसी रूप से अपने उपदेश का वर्गीकरण कर

डाला। भारतीय आर्षप्रजा के लिए वर्णाश्रमधर्म्मानुगमनपूर्वक बुद्धियोगसम्पत् प्रदान की एवं अनार्षप्रजा के लिए ईश्वरभक्त्यनुगता आत्मसमर्पणमूला बुद्धियोगसम्पत् प्रदान की। इस प्रकार मानवसमाज के आर्ष-अनार्षलक्षण दो विभागों के कारण गीतादेश विभिन्न दृष्टिकोणों में विभक्त हो गया। आर्ष दृष्टिकोण से वही गीताशास्त्र हम भारतीयों का प्रातिस्विक शास्त्र बना, वहाँ अनार्षदृष्टिकोण से वही गीताशास्त्र समस्त भू-मण्डल का आराध्य ग्रन्थ बना। आर्षप्रजा के आर्षदृष्टिकोण से सम्बन्ध रखने वाले बुद्धियोग की पूर्वखण्ड में परीक्षा की गई। उचित था कि प्रस्तुत खण्ड में केवल अनार्षदृष्टिकोण से सम्बन्ध रखने वाले बुद्धियोग की ही सारपरीक्षा की जाती। परन्तु कई एक कारणों से हमें इस खण्ड में भी पूर्वखण्ड प्रतिपादित आर्षबुद्धियोग का भी उपबृंहण करने की आवश्यकता प्रतीत हुई है। इस प्रकार प्रस्तुत खण्ड में मानवप्रजा के आर्ष-अनार्षवर्गों को लक्ष्य बनाकर हमें **१–आर्षप्रजानुगता गीतासारपरीक्षा। २–अनार्षप्रजानुगता गीतासारपरीक्षा**–इन दो विषयों का समन्वय करना है।

मोतीलालशर्मा



किञ्चिन्निवेदनीयम्

वेदवाचस्पति स्व० पं० मोतीलालजी शास्त्री ने अपने गुरुवर पूज्यपाद पं० मधुसूदन ओझा जी की तरह से ही गीता पर विभिन्न विषय-वर्गीकरण करते हुए विस्तृत भाष्य लिखा है। इसी विषय-वर्गीकरण के अन्तर्गत 'गीता-भूमिका' नामक महाखण्ड भी है जिसे 'गीताविज्ञानभाष्य-भूमिका' कहा गया है। इस 'गीता-भूमिका' के अन्तर्गत भी तीन अवान्तर विभाग किए गए हैं—जिनमें १—बहिरङ्ग-परीक्षा, २—अन्तरङ्गपरीक्षा, ३—सर्वान्तिरतमपरीक्षा हैं। गीता-भूमिका के इन तीनों खण्डों के अन्तर्गत फिर अवान्तर ९ भूमिका ग्रन्थों (खण्डों) में विस्तार से गीताभाष्य हुआ है। इस विषय-विभाग को और अधिक सुस्पष्ट करने हेतु निम्नलिखित परिलेख दिया जा रहा है—

'गीताविज्ञानभाष्यभूमिका' नामक प्रथम महाखण्ड
(तदन्तर्गत अवान्तर ९ भूमिका-खण्डग्रन्थ)

१— १-गीताभूमिका—बहिरङ्गपरीक्षात्मक प्रथम खण्ड → (बहिरङ्गपरीक्षा)

२— २-गीताभूमिका—अन्तरङ्गपरीक्षात्मक द्वितीय खण्ड का 'क' विभाग (आत्मपरीक्षा)
३-गीताभूमिका ,, ,, का 'ख' विभाग (ब्रह्मकर्म्मपरीक्षा)
४-गीताभूमिका ,, ,, का 'ग' विभाग (कर्म्मयोगपरीक्षा)
५-गीताभूमिका ,, ,, का 'घ' विभाग (ज्ञानयोगपरीक्षा)

३— ६-गीताभूमिका—सर्वान्तिरतमपरीक्षात्मक तृतीय खण्ड का 'क' विभाग (भक्तियोगपरीक्षा-पूर्वखण्ड)
७-गीताभूमिका ,, ,, का 'ख' विभाग (भक्तियोगपरीक्षा-उत्तरखण्ड)
८-गीताभूमिका ,, ,, का 'ग' विभाग (बुद्धियोगपरीक्षा-पूर्वखण्ड)
९-गीताभूमिका ,, ,, का 'घ' विभाग (बुद्धियोगपरीक्षा-उत्तरखण्ड)

इनमें से क्रम-संख्या १ से ८ तक के ग्रन्थ स्व० शास्त्री जी स्वयं अपने जीवनकाल में ही प्रकाशित कर गए थे, परन्तु अन्तिम ९ वाँ बुद्धियोगपरीक्षा उत्तरखण्ड (घ विभाग) अप्रकाशित था। कई जिज्ञासु जनों की इस ग्रन्थ को शीघ्र प्रकाशित करवाने की अभिलाषा को देखते हुए यह तय किया गया कि अन्य ग्रन्थों के प्रकाशन से पहले इस ग्रन्थ को प्रकाशित करवा दिया जाए।

इस ग्रन्थ को प्रकाशित करवाने की योजना भी बन गई परन्तु इस ग्रन्थ की पाण्डुलिपि उपलब्ध नहीं हुई अर्थात् स्व० शास्त्री जी के पाण्डुलिपि-संग्रह में यह ग्रन्थ ही नहीं मिला, जबकि स्व० शास्त्री जी द्वारा बनाई सूची में इस ग्रन्थ का नाम ही नहीं अपि तु, हस्तलिखित पृष्ठ संख्या भी दी गई थी। बहुत समय तक इसकी खोज होती रही, लेकिन यह ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हुआ। इस बीच कई अन्य ग्रन्थों का प्रकाशन भी हो गया। अचानक एक दिन यह विचार आया कि क्यों न एक बार स्व० शास्त्री जी के प्रकाशित ग्रन्थों के मूलपाण्डुलिपि-संग्रह को और देख लिया जावे। सो उनको भी देखना प्रारम्भ किया, उनमें भी कई ग्रन्थ-पांडुलिपियों की बाइंडिग नहीं हुई थी, अतएव वे खुले हुए ही रखे थे एवं उनके पृष्ठ भी आपस में एक दूसरे में मिल गए थे। उनको जब देखा जा रहा था, तब उन खुले पृष्ठों के ढेर में इस ग्रन्थ की विषय-सूची मिल गई। उसके आधार पर इस ग्रन्थ को अन्य ग्रन्थों से पृथक् किया गया। यह कार्य्य बहुत परिश्रमसाध्य था। उनमें इस ग्रन्थ के जो पृष्ठ मिले उनको क्रम से लगाने के बाद जब विषय-सूची से मिलान किया तो पाया कि अभी भी इस ग्रन्थ का बहुत बडा अंश नहीं मिल पाया है। बहुत प्रयास किया परन्तु शेष ग्रन्थभाग उपलब्ध नहीं हुआ, अतएव यह विचार किया गया कि इस ग्रन्थ का जितना भाग मिल चुका है वह तो छपवा दिया जाए एवं शेषभाग जब भी मिलेगा तो उसे बाद में छपवा दिया जाए। निर्णयानुसार यह ग्रन्थ अपूर्ण होते हुए भी छपवा दिया गया है एवं शेष भाग जब भी प्राप्त होगा, उसे भी छपवा दिया जाएगा। इस ग्रन्थ के तीन प्रमुख प्रकरण हैं १–आर्षप्रजानुगता गीतासारपरीक्षा, २–अनार्षप्रजानुगता गीतासारपरीक्षा, ३–खण्डोपसंहार। पाठकों की जानकारी के लिए इस ग्रन्थ की सम्पूर्ण विषय-सूची यहाँ दी जा रही है–जिससे आपको यह जानकारी हो सके कि इनमें से किन-किन विषयों का प्रकाशन हुआ है एवं कितने विषय शेष रह गए हैं—

बुद्धियोगपरीक्षा उत्तरखण्ड की विषय-सूची का दिग्दर्शन—

१–आर्षप्रजानुगता गीतासारपरीक्षा—

(क) गीतासारपरीक्षा जिज्ञासा।

(ख) साम्प्रदायिक श्रीकृष्ण, उनकी साम्प्रदायिक गीता और साम्प्रदायिक गीतासारपरीक्षा।

(ग) आर्ष श्रीकृष्ण, उनकी आर्षगीता और आर्षगीतासारपरीक्षोपक्रम।

(घ) आर्ष गीता की सारात्मिका १० शिक्षाएँ।

(ङ) आर्ष गीता के ब्रह्म-कर्म्मतत्त्वों की सारपरीक्षा।

(च) आर्ष गीता के साम्यवाद की सारपरीक्षा।

(छ) आर्ष गीता के प्रधानलक्ष्य की परीक्षा।

(ज) आर्ष गीता के सम्बन्ध में असमाधेय प्रश्नावली।

(झ) आर्ष गीता की असमाधेय प्रश्नावली का समाधान।

(ञ) प्रकरणोपसंहार।

२–अनार्षप्रजानुगता गीतासारपरीक्षा—

(क) मानवप्रजा का तात्त्विकस्वरूप।

(ख) मानवप्रजा के सामान्यधर्म्म।

(ग) मानवप्रजानुगत गीतापात्र।

(घ) मानवप्रजा का परम पुरुषार्थ।

(ङ) प्रकरणोपसंहार।

३–खण्डोपसंहार—

इस प्रकार से १–आर्षप्रजानुगता गीतासारपरीक्षा, २–अनार्षप्रजानुगता गीतासारपरीक्षा एवं ३–खण्डोपसंहार–इन तीन प्रमुख प्रकरणों के बुद्धियोगपरीक्षा उत्तरखण्ड नामक इस ग्रन्थ में प्रथम प्रकरण आर्षप्रजानुगता गीतासारपरीक्षा के घ–आर्षगीता की सारात्मिका १० शिक्षाएँ नामक इस अवान्तर प्रकरण तक की ही मूल पाण्डुलिपि प्राप्त हुई है, इसमें भी १० वीं शिक्षा की पाण्डुलिपि प्राप्त नहीं हुई है, अतएव नवीं शिक्षा तक को ही फिलहाल प्रकाशित किया जा रहा है। शेष सभी प्रकरणों की पाण्डुलिपि जैसे ही प्राप्त होगी आपकी सेवा में उसको भी छपवा कर उपलब्ध करवा दिया जाएगा। ग्रन्थ की विषयसम्बन्धित जानकारी यहाँ नहीं दी जा रही है क्योंकि उसका विस्तार के साथ विवेचन स्वयं पूज्य दादाजी स्व० शास्त्री जी ने **ग्रन्थ-प्रस्तावना** में किया है।

विनीत

प्रद्युम्नकुमार शर्मा

मानवाश्रम



गीतासारपरीक्षात्मक-बुद्धियोगपरीक्षा-
(उत्तरखण्ड)

की

संक्षिप्त विषय-सूची





अथ

गीताविज्ञानभाष्यभूमिकान्तर्गत–सर्वान्तरतमपरीक्षा

गीतासारपरीक्षात्मक

बुद्धियोगपरीक्षा–उत्तरखण्ड

गीताविज्ञानभाष्यभूमिकान्तर्गत–प्रकरणत्रयात्मक–'बुद्धियोगपरीक्षा'

नामक उत्तरखण्ड का

आर्षप्रजानुगता गीतासारपरीक्षा नामक

प्रथम प्रकरण

१

गीताविज्ञानभाष्यभूमिकान्तर्गत–प्रकरणत्रयात्मक–'बुद्धियोगपरीक्षा'

नामक उत्तरखण्ड का

आर्षप्रज्ञानुगता गीतासारपरीक्षा नामक

प्रथम प्रकरण

क–गीतासारपरीक्षा जिज्ञासा—

बहिरङ्ग-अन्तरङ्ग-सर्वान्तरतम-दृष्टिकोणों को लक्ष्य बना कर पूर्व प्रतिपादित आठ खण्डों में गीता के सम्बन्ध में बहुत कुछ कहा जा चुका है। सतत स्वाध्याय प्रेमी पाठकों के लिए गीता-मर्म्म के विश्लेषण के सम्बन्ध में इससे अधिक कुछ भी कहना निरर्थकप्राय है। अनार्ष विचारसरणि से सम्बन्ध रखने वाली ग्रन्थलक्ष्यमूला बहिरङ्गपरीक्षा का जहाँ भूमिका प्रथमखण्ड में ही स्पष्टीकरण किया जा चुका है, वहाँ आर्षदृष्टिकोण से सम्बन्ध रखने वाले गीता-लक्ष्यों का आगे के सात खण्डों में विस्तार से उपबृंहण किया जा चुका है। इस प्रकार पूर्व प्रतिपादित खण्डाष्टक से ही आर्ष-अनार्ष दोनों लक्ष्य गतार्थ बन रहे हैं। यह सब कुछ होने पर भी वर्त्तमानयुग की अतिशयरूपेण प्रवृद्धा भूतलिप्सा (भौतिक लिप्सा) के अनुग्रह से स्वाध्याय के लिए समय न मिलने के कारण जो महानुभाव खण्डाष्टक-स्वाध्याय के प्रति उपेक्षा रखना अपना स्वधर्म्म मान रहे हैं, उनके परितोष के लिए यह आवश्यक समझा गया है कि, भूमिकाग्रन्थ के इस अन्तिम नवम खण्ड में उन दोनों विस्तृत दृष्टिकोणों का सिंहावलोकनन्याय से स्पष्टीकरण कर दिया जाए। अथवा–तो उन स्वाध्याय प्रेमियों की इस जिज्ञासा को शान्त करने के लिए भी गीतासार-परीक्षा आवश्यक बन जाती है, जो स्वाध्यायप्रेमी बनते हुए भी परिस्थितिवश स्वाध्यायरत नहीं रह सकते। उनकी ओर से भी यह स्वाभाविक जिज्ञासा होती है कि, 'गीता आर्षदृष्टि से तो क्या कहती है, एवं सामान्य लोकदृष्टि से गीतोपदेश का क्या मर्म्म है'? यही जिज्ञासा शान्त करने के लिए सर्वप्रथम आर्षदृष्टि से गीतासारपरीक्षा आरम्भ होती है। हमें विश्वास है कि केवल इस गीतासारपरीक्षा-खण्ड के अवलोकन मात्र से भी पाठक गीता के हृदय का स्पर्श करने में समर्थ बन सकेंगे—



ख–साम्प्रदायिक श्रीकृष्ण, उनकी साम्प्रदायिक गीता एवं साम्प्रदायिक गीतासार-परीक्षा—

भारतीय मानवप्रजा आर्ष वेदशास्त्र को प्रमाण मानने के कारण जहाँ आर्षमानवप्रजा कहलाई है, वहाँ भारतेतरदेशीय मानवप्रजा अनार्ष मानवीय कल्पना (स्वबुद्धिबल) को प्रमाण मानने के कारण अनार्षप्रजा कहलाई है। वेदशास्त्र तपःपूत महामहर्षियों की प्रत्यक्षदृष्टि है, अतएव (इस ऋषिदृष्टि के सम्बन्ध से ही) वेदशास्त्र आर्षशास्त्र कहलाया है एवं इसी हेतु से इस आर्षवेदशास्त्र का अनुगमन करने वाली भारतीय वर्णप्रजा आर्ष कहलाई है। प्रत्यक्षवत् अतीत तथा भविष्य का भी बोध जिन्हें तपःपूता योगजदृष्टि से हो जाता है, वे ही मानव 'ऋषि' कहलाए हैं। ऋषियों का वह तात्त्विकज्ञान उन्हीं के मुख से अपौरुषेया सत्या-वाक् के द्वारा स्वतः विनिःसृत हुआ है, अतएव सत्यावाङ्मय अपौरुषेयवेदशास्त्र अन्यप्रमाणानपेक्ष निर्भ्रान्त स्वतःप्रमाणशास्त्र है। इसके निर्णय के सामने मानवीय कल्पना का कोई महत्त्व नहीं है। इस आर्षवेदशास्त्र के पथ का अनुसरण करने वाला स्मृतिशास्त्र, दर्शनशास्त्र, पुराणशास्त्र, इतिवृत्त (महाभारत), निबन्धग्रन्थ आदि इतर शब्दप्रपञ्च भी आर्षशास्त्रानुगति के कारण आर्षमानवप्रजा के कर्त्तव्यनिर्णय के सम्बन्ध में प्रमाण बन रहे हैं। यही क्यों-**'यान्यस्माकं सुचरितानि। तानि त्वयोपास्यानि, नो इतराणि'**[1]–इस औपनिषद आदेश के अनुसार भारतीय आर्षप्रजा के लिए वे सब अन्य सिद्धान्त भी प्रामाणिक हैं, जो आर्षशास्त्र के साक्षात् अथवा तो परम्परया पोषक हैं। वे ही अन्य सिद्धान्त–जिनके मूलप्रवर्त्तक शिष्ट मानवों ने आर्ष-वेदशास्त्र को आधारभित्ति बना कर प्रकट किया है–'साम्प्रदायिक-सिद्धान्त' कहलाए हैं। इन साम्प्रदायिक मानवीय सिद्धान्तों के सम्बन्ध में यह स्मरण रखने की बात है कि, उसी सीमा तक ये सिद्धान्त आर्षप्रजा के लिए मान्य हैं, जिस सीमा तक ये सिद्धान्त आर्षसिद्धान्तों के पोषक हैं। कहना इस विश्लेषण से प्रकृत में यही है कि स्वयं भारतीय आर्षमानवसमाज के भी आर्षवर्ग, साम्प्रदायिक वर्ग–ये विभाग वर्तमान में उपलब्ध हो रहे हैं। यही क्यों, आज तो यह भी निःसंकोच कहा जा सकता है कि सम्प्रदायाचार्य्यों का परम्परया अनुगमन करने वाले साम्प्रदायिक व्याख्याताओं के अनुग्रह से आज सम्प्रदायों का मूलसिद्धान्त सर्वथा आवृत हो गया है, और उसके स्थान में रह गया है केवल अनार्ष-व्यक्तित्ववाद। जब तक सम्प्रदायवाद आर्षवाद का अनुगामी बना रहा, तब तक भारतीय धार्म्मिकक्षेत्र सुशान्त बना रहा। परन्तु जब से सम्प्रदायवादों ने व्यापक आर्षशास्त्र की उपेक्षा कर अपना-अपना व्यक्तितन्त्र प्रतिष्ठापन का उपक्रम आरम्भ किया, तभी से ये वाद राष्ट्रीय संगठन के विघातक बनते हुए आर्षप्रजा के पतन के ही उपक्रम बनते चले गए। जिस सभा में अनेक सम्प्रदायवादी समवेत हों, वहाँ भली-भाँति इस स्थिति का साक्षात्कार किया जा सकता है। एक दूसरे सम्प्रदायभक्त एक दूसरे को ऐसी दृष्टि से देखते हैं, मानों कौरव-पाण्डव युद्ध के लिए सज्जीभूत खड़े हों। परिणाम इसका यह हुआ है कि भारतीय आर्षप्रजा का अधिकांशभाग इस कलह-काण्ड का अनुगामी बनता हुआ आज अपने आर्षभावानुगत राष्ट्रीय लक्ष्य को भूल गया है, अथवा तो भुलाता जा रहा है। और निःसन्देह भारतश्री-ह्रास के अन्यान्य कारणों में से यह भी एक मुख्य कारण बना हुआ है। अस्तु, इस अप्रियचर्चा को यहीं उपरत कर प्रतिपाद्य विषय की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है।

---

१ तैत्ति॰ उप॰ १।११।२।

भारतीय वह आर्षप्रजा जिसका लक्ष्य सम्प्रदायबिन्दु है–गीताचार्य्य को कौनसा स्थान प्रदान कर रही है ? उसकी दृष्टि में गीताशास्त्र किस महत्त्व का अनुगामी है ? एवं उनकी मान्यता का अनुगमन करने वाला गीतासार कैसा स्वरूप रख रहा है ? प्रस्तुत परिच्छेद में इन्हीं प्रश्नों की मीमांसा अभीष्ट है। योगमायावच्छिन्न भगवान् श्रीकृष्ण योगमायासम्बन्ध से जहाँ मानवधर्म्म से विभूषित थे, वहाँ अपने प्रातिस्विक गुह्य महामायावच्छेद से श्रीकृष्ण साक्षात् विश्वेश्वर थे। श्रीकृष्ण के ये ही दोनों स्वरूप उनके मानव जीवन में क्रमशः **वासुदेव, नन्दनन्दन**–इन दो भागों में विभक्त हुए। स्त्री-वैश्य-शूद्र शूद्रसधर्म्मा ब्राह्मण-क्षत्रिय–इस वर्णप्रजा के कल्याण के लिए आपका नन्द-नन्दनस्वरूप उपास्य बना। एवं ब्रह्मवित् ब्राह्मण, राजर्षिक्षत्रिय आदि वर्णप्रजा के लिए आपका वासुदेवस्वरूप उपास्य बना। अपने नन्दनन्दनस्वरूप काल में श्रीकृष्ण ने प्रधानरूप से मानवधर्म्मों को विकसित किया एवं अपने वासुदेव-स्वरूप काल में ईश्वरीयधर्म्मों को विकसित किया। ईश्वरीयज्ञानात्मक गीताशास्त्र भी श्रीकृष्ण के द्वारा उनके वासुदेवस्वरूप काल में ही अर्जुन को उपलब्ध हुआ। नन्दनन्दनस्वरूप चूंकि मानवगुणविभूषित था, उधर मानवस्वरूप अर्द्धाकाश-सम्पत्ति से युक्त रहता हुआ चूंकि अर्द्धेन्द्र है, अपूर्ण है, अतएव इसे हम श्रीकृष्ण का 'असर्व' स्वरूप कह सकते हैं, जो असर्वस्वरूप स्त्री-शूद्र-वैश्य-द्विज बन्धुओं के लिए सर्वथा विदितप्राय है। वासुदेवस्वरूप चूंकि ईश्वरीयगुण विभूषित था, उधर ईश्वरस्वरूप पूर्णाकाशसम्पत्ति से युक्त रहता हुआ चूंकि पूर्णेन्द्र है, पूर्ण है, अतएव इसे हम श्रीकृष्ण का 'सर्व' स्वरूप कह सकते हैं, जो सर्वस्वरूप सुदुर्लभ विज्ञ विद्वानों के लिए ही उपास्य बनता है। स्वयं भगवान् ने गीता में एक स्थान पर अपने इस वासुदेवस्वरूप की सर्वता घोषित की है।[1] अन्यत्र भी स्पष्ट शब्दों में भगवान् ने अपने मानुष तथा माहेश्वर स्वरूपों की ओर उपासकों का ध्यान आकर्षित किया है—

"अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् ।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्" ।।[2]

स्पष्ट है कि–साम्प्रदायिकों के श्रीकृष्ण वसुदेवनन्दन नहीं, अपि तु नन्दनन्दन हैं। भावना यद्यपि इन साम्प्रदायिकों की श्रीकृष्ण के प्रति ईश्वरात्मिका ही है तथापि इनके समस्त विधि-विधान, समस्त उपासनाप्रकार मानवधर्म्मावच्छिन्न श्रीकृष्ण के मानवजीवन का ही अनुसरण करने वाले हैं। अब भगवान् सो रहे हैं, अब जग रहे हैं, अब भगवान् कलेवा करेंगे, अब राजभोग लगेगा, अब शयन-आरा-त्तिक होगी, अब भगवान् को पद सुनाए जाएँगे, इस प्रकार के समस्त साम्प्रदायिक कर्म्मकलाप श्रीकृष्ण की मानवता का ही समर्थन कर रहे हैं और ऐसे मानव श्रीकृष्ण भीष्म-युधिष्ठिर-अर्जुन प्रभृति की भाँति एक ऐतिहासिक व्यक्ति आ ठहरते हैं।

दूसरी दृष्टि से साम्प्रदायिक श्रीकृष्ण का समन्वय कीजिए। प्रत्येक मानव में ईश्वर, जीव भेद से दो-दो तन्त्रायी प्रतिष्ठित रहते हैं। तन्त्रायी के भेद से मानवकर्म्म भी दो भागों विभक्त हो जाते हैं।

१ वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः। (गीता ७।१९।)
२ गीता ९।११।

अपनी इच्छा से कर्म्म करने का अर्थ है–बुद्धिगर्भित मन की इच्छा से कर्म्म करना। ये ही कर्म्म उत्थाप्याकांक्षामूलक सबन्धन-आसक्तिप्रवर्त्तक-जीवकर्म्म कहलाए हैं। ऐसी स्वेच्छा से किए जाने वाले कर्म्मों की समष्टि ही 'मानवकर्म्म' (मानवसंस्थाभुक्त जीवकर्म्म) कहलाए हैं। मनोऽनुगता स्वेच्छा से जिन असम्भावित कर्म्मों का कोई सम्बन्ध नहीं है, अनुभव करते हैं कि–मानवीय इच्छा-प्रयास-शक्ति-एवंविध अलौकिक कर्म्मों की प्रेरणा में असमर्थ हैं। एवंविध अमानुष मानवकर्म्मों का प्रेरक उस अन्तर्य्यामी आध्यात्मिक ईश्वर को मानना पड़ता है–जिन परिगणित रामकृष्णव्यासादि मानवों में एवंविध लोकोत्तर अद्‌भुत, मानवीयशक्ति का अतिक्रमण करने वाले कर्म्मों का उद्रेक देखा गया, अतः वैज्ञानिकों ने उन मानवों को 'आधिकारिकजीव' नाम से विभूषित किया। चूंकि इनका शरीर मानुष था इसलिए तो इन्हें 'जीव' संज्ञा से व्यवहृत किया, साथ ही इनके कर्म्म चूंकि मानुषोत्तर थे, अतएव इन्हें ईश्वर, किंवा ईश्वरावतार माना गया। इन दोनों स्वरूपों का भगवान् कृष्ण में भी पूर्ण समन्वय था। इन दोनों स्वरूपों में से साम्प्रदायिकों के उपास्य श्रीकृष्ण मानुषश्रीकृष्ण बने एवं आर्ष वैज्ञानिकों के उपास्य श्रीकृष्ण ईश्वरश्रीकृष्ण बने, जैसा कि अगले परिच्छेद में स्पष्ट किया जाने वाला है। साम्प्रदायिकों ने श्रीकृष्ण की बाह्य संस्था (मानवीया शरीरसंस्था) को जहाँ उपास्य बनाया, वहाँ आर्ष वैज्ञानिकों ने श्रीकृष्ण की आभ्यन्तर आत्मसंस्था को अपना लक्ष्य बनाया। वे (साम्प्रदायिक) श्रीकृष्ण की वंशीध्वनि, रासविहार, मोरमुकुट की छवि आदि पर विमोहित हुए एवं ये (आर्षवैज्ञानिक) श्रीकृष्ण के बुद्धियोग पर विमोहित हुए। कल्याण दोनों का हुआ। परन्तु एक वर्ग के द्वारा लोकसंग्रह की सर्वात्मना रक्षा हुई एवं एक वर्ग के द्वारा लोकसंग्रह की सर्वथा उपेक्षा हुई। किस की ? यह प्रश्न उत्तरगर्भित समझ कर छोडा जाता है।

श्रीकृष्ण की उक्त द्विविध उपासना का मूल कारण स्वयं श्रीकृष्ण की जीवन धारा ही है, जैसाकि पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है। श्रीकृष्ण के चरित क्यों दो भागों में विभक्त हुए ? यह अनतिप्रश्न है। **'अनुग्रहाय भूतानाम्'** ही इसका तात्त्विक समाधान है, जिसे न जान कर आज कतिपय नवीनशिक्षादीक्षित महानुभाव कृष्ण के मानव चरित्रों की समालोचना किए करते हैं। भगवान् के नन्दनन्दनानुगत मानवधर्म्म से युक्त लीलाचरित्रों का मर्म्म न जानने के कारण ही नवीनों को इस भ्रान्ति का लक्ष्य बनना पड़ा है। परन्तु अधिकारी भेद से भगवान् की इन मानवलीलाओं का भी सुसमन्वय हो रहा है। यही नहीं, अपि तु, वैज्ञानिक की दृष्टि में तो भगवान् के ये लीलाचरित्र भी किसी रहस्यशिक्षण से सम्बन्ध रख रहे हैं, जैसाकि–**'गीताचार्य्यश्रीकृष्ण-रहस्य'** नामक गीताभाष्य द्वितीय खण्ड के अवान्तर ६ खण्डों में विस्तार से प्रतिपादित है। भगवान् का अवतार होता है सर्वजगत् कल्याण के लिए, न कि केवल बुद्धिमानों-विद्वानों के परितोष के लिए। अतएव भगवान् को सभी प्रकार की अवस्थाओं का अधिकारी की योग्यता के भेद से अभिनय करना पड़ता है। भगवान् योगेश्वर हैं, यह जहाँ निःसंदिग्ध है, वहाँ भगवान् रासविहारी भी हैं, यह भी संशयातीत है। भगवान् का पाण्डवदूतत्त्व, अर्जुनसारथित्व, युद्धोत्तेजनाप्रदानत्त्वादि धर्म्म जहाँ भगवान् के मानवधर्म्म को प्रमाणित कर रहे हैं, वहाँ विश्वरूपप्रदर्शनत्त्व, यमलार्जुनबन्धमोचकत्व, विविधासुरसंहारकत्व, आदिधर्म्म भगवान् के ईश्वरीयधर्म्म के समर्थक बने हुए हैं। अब यह अधिकारी की योग्यता पर निर्भर है कि–वह अपनी आध्यात्मिक योग्यता के अनुसार भगवान् के इन दोनों स्वरूपों में से किसी भी अभिलषित स्वरूप को उपास्य बनाकर अपना जन्म सफल

करले। स्पष्ट है कि–दोनों स्वरूपों में से वर्तमान साम्प्रदायिक विधिविधान दृष्टि के अनुसार साम्प्रदायिक श्रीकृष्ण मानवश्रीकृष्ण ही हैं। भावना ईश्वरात्मिका है, उपासना-प्रकार मानवधर्म्मात्मक है, यही वक्तव्य है।

कीर्त्तन-भजन-आरार्त्तिक-नैवेद्य-अर्चन आदि भेदभिन्ना साम्प्रदायिक भक्ति से सम्बन्ध रखने वाले साम्प्रदायिकों के साम्प्रदायिक श्रीकृष्ण की साम्प्रदायिक गीता का क्या स्वरूप ? इस द्वितीय प्रश्न का समाधान यद्यपि भूमिका प्रथमखण्ड (बहिरङ्गपरीक्षात्मक) में विस्तार से किया जा चुका है, तथापि सन्दर्भ-सङ्गति की दृष्टि से यहाँ भी दो शब्दों में उस समाधान का सिंहावलोकन कर लिया जाता है। गीता के श्रीकृष्ण साम्प्रदायिकों की दृष्टि में जब कि एक ऐतिहासिक व्यक्ति हैं, तो उनकी दृष्टि में गीता भी एक ऐतिहासिक ग्रन्थ से अधिक और क्या महत्त्व रख सकता था। महाभारत नामक सुप्रसिद्ध ऐतिह्य ग्रन्थ में पठित गीता को ऐतिह्यमर्य्यादा से बहिष्कृत किया भी नहीं जा सकता। और उस ऐतिह्यमर्य्यादा से सम्बन्ध रखने वाले गीता ग्रन्थ के ७०० श्लोकों की, अध्याय क्रमों की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती। और साथ ही गीताशास्त्र के ऐतिह्य ज्ञान-कर्म्म-भक्तिकाण्डत्रयी का भी निरादर नहीं किया जा सकता। अपनी मानवीय ऐतिहासिक दृष्टि की प्रधानता से साम्प्रदायिकों की गीता सप्तशती (सात सौ श्लोकों वाली) है, ये सात सौ श्लोक ज्ञान-भक्ति-कर्म्म-भेद से तीन काण्डों में विभक्त होते हुए क्रमशः २८०-२०९-२११-इन श्लोक संख्याओं में विभाजित हैं। २८० श्लोकात्मक प्रथम प्रकरण ज्ञानयोग का प्रतिपादक है एवं इस के **१–विषाद, २–सांख्य, ३–कर्म्म, ४–ज्ञानकर्म्मसंन्यास, ५–कर्म्मसंन्यास, ६–आत्मसंयम**–इस क्रम से क्रमशः १/४१–२/७२–३/४३–४/४२–५/२९–६/४७ इस श्लोक संख्या से ये ६ अध्याय हैं। २०९ श्लोकात्मक द्वितीय प्रकरण भक्तियोग का प्रतिपादक है एवं इसके **१–ज्ञानविज्ञान, २–अक्षरब्रह्म, ३–राजगुह्य, ४–विभूति, ५–विश्वरूपदर्शन, ६–भक्ति**–इस क्रम से क्रमशः १/३०–२/२८–३/३४–४/४२–५/५५–६/२०–इस श्लोक संख्या से ६ अध्याय हैं। २११ श्लोकात्मक तृतीय प्रकरण कर्म्मयोग का प्रतिपादक है एवं इसके **१–प्रकृतिपुरुषविभाग, २–गुणत्रयविभाग, ३–पुरुषोत्तम, ४–देवासुरसम्पत्ति, ५–श्रद्धात्रय, ६–संन्यास**–इस क्रम से क्रमशः १/३४–२/२७–३/२०–४/२४–५/२८–६/७८ इस श्लोक संख्या से ६ अध्याय हैं। इस प्रकार ऐतिहासिक क्रम का समर्थन करने वाली गीता यों १८ अध्यायात्मक योगों का प्रतिपादन कर रही है, और यही हमारी दृष्टि में साम्प्रदायिक गीता है, जो आज भारतीय साम्प्रदायिक जगत् में 'गीता' नाम से प्रसिद्ध है। जिसका अगले पृष्ठ की तालिका से भली-भाँति स्पष्टीकरण हो जाता है—

साम्प्रदायिक गीतास्वरूपतालिका—

अध्यायाः	श्लोकाः	योगाः	
१ →	४७ →	विषादयोगः	
२ →	७२ →	सांख्ययोगः	
३ → ❀	४३ → ❀	कर्म्मयोगः	१ →ज्ञानकाण्डम् २८० श्लोकात्मकम् ६ अध्यायात्मकम्
४ →	४२ →	ज्ञानकर्म्मसंन्यासयोगः	
५ →	२९ →	कर्म्मसंन्यासयोगः	
६ →	४७ →	आत्मसंयमयोगः	
७ →	३० →	ज्ञानविज्ञानयोगः	
८ →	२८ →	अक्षरब्रह्मयोगः	
९ →	३४ →	राजगुह्ययोगः	२ →भक्तिकाण्डम् २०९ श्लोकात्मकम् ६ अध्यायात्मकम्
१० →	४२ →	विभूतियोगः	
११ →	५५ →	विश्वरूपदर्शनयोगः	
१२ →	२० →	भक्तियोगः	
१३ →	३४ →	प्रकृतिपुरुषविभागयोगः	
१४ →	२७ →	गुणत्रयविभागयोगः	
१५ →	२० →	पुरुषोत्तमयोगः	
१६ →	२४ →	देवासुरसम्पत्तियोगः	३ →कर्म्मकाण्डम् २११ श्लोकात्मकम् ६ अध्यायात्मकम्
१७ → ❀	२८ → ❀	श्रद्धात्रययोगः	
१८ →	७८ →	संन्यासयोगः	
१८ अध्यायाः	७०० श्लोकाः	१८ योगाः	

अब साम्प्रदायिक गीता की सारपरीक्षा का प्रश्न शेष रह जाता है। इस प्रश्न के सम्बन्ध में विशेष वक्तव्य इसलिए नहीं है कि–ऐतिहासिकक्रमसन्दर्भ के कारण साथ ही ऐतिहासिक साम्प्रदायिक पूर्व प्रदर्शित विषयविभाग को मूल बनाकर उपस्थित होने वाली असंख्य गीताव्याख्याओं के कारण साम्प्रदायिक गीता के सम्बन्ध में 'सार' नाम का कोई तत्त्व ही शेष नहीं रह पाया है। भगवान् के इस आर्षग्रन्थ को साम्प्रदायिक रंग में रंग डालने वाले साम्प्रदायिक व्याख्याताओं ने गीता के आर्षानुगत एकसारत्त्व का एक प्रकार से उच्छेद ही कर डाला है। फलतः भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय की दृष्टि में गीता भिन्न-भिन्न सारवादों की अनुगामिनी बनती हुई अपने अभिन्न सार से वञ्चित हो रही है। अद्वैतवाद के अनुयायी साम्प्रदायिकों की दृष्टि में गीता विशुद्ध **'ज्ञानयोगग्रन्थ'** है। गीताप्रतिपादित भक्ति और कर्म्मयोग–इन ज्ञानवादियों की दृष्टि में गौण हैं। निम्न अधिकारियों के कल्याण के लिए लोग संग्रह दृष्टि से भगवान् ने गीता में भक्ति-कर्म्म का संग्रह मात्र कर लिया है। वस्तुतः भगवान् का प्रधान लक्ष्य

केवल ज्ञानयोग ही है। इस ज्ञानयोगात्मक साम्प्रदायिक दृष्टिकोण से साम्प्रदायिक गीता का यही सार है कि–**"यह संसार, इस संसार के कर्म्म, स्त्री-पुत्र-वित्त-सम्पत्ति-राज्य-साम्राज्य–सब कुछ मायिक होने से मिथ्या हैं। इनसे कभी शान्ति नहीं मिल सकती। अतएव इन सब परिग्रहों का एकान्ततः परित्याग कर, दूसरे शब्दों में कर्म्मसंन्यास कर संसार से नाता तोड़कर सदा आत्मज्ञान में ही लीन रहना चाहिए। क्योंकि यही गीता का सारोपदेश है"**।

नवधाभक्तिवाद के अनुयायी साम्प्रदायिकों की दृष्टि में गीता विशुद्ध **'भक्तियोगग्रन्थ'** है। इनका कहना है कि–अर्जुन भगवान् का भक्त था। अतः भगवान् ने अपने गीतोपदेश के द्वारा अर्जुन को मुख्य रूप से भक्ति का ही मर्म्म समझाया है। भक्ति के साथ यत्रतत्र जो ज्ञान की–तथा यज्ञादि कर्म्म की चर्चा गीता में हुई है, वह गौण है। लोकसंग्रह दृष्टि से भगवान् ने मुख्य प्रतिपाद्य विषयरूपा भक्ति के साथ-साथ ज्ञान-कर्म्म का भी संग्रहमात्र कर लिया है। वस्तुतः भगवान् का अपना मन्तव्य केवल भक्तिमार्ग ही है। इस भक्तियोगात्मक साम्प्रदायिक दृष्टिकोण से साम्प्रदायिक गीता का सार यही है कि–**"इस संसार में केवल भगवन्नाम ही सार है और सब मायाजाल है। विना भगवान् के अनुग्रह के इस मायाजाल से निस्तार पाना कठिन है। मानव का कर्त्तव्य है कि, वह अपने जीवन में भगवद्भक्ति को ही मुख्य स्थान प्रदान करे। नियमितरूप से गीता का पारायण करे। सम्मिलितरूप से भगवान् का कीर्त्तन करे। तात्पर्य्य अपना अधिक समय भगवन्नाम श्रवण-कीर्त्तन-जप-पूजन में ही व्यतीत करे। इससे भगवान् प्रसन्न होंगे। और प्रसन्न होकर वे हमारे सब संकट (विना पुरुषार्थ के ही) दूर कर देंगे"**।

यज्ञादिकर्म्मवाद के अनुयायी साम्प्रदायिकों की दृष्टि में गीता विशुद्ध **'कर्म्मयोगग्रन्थ'** है। उनका कहना है कि–अर्जुन अपने क्षत्रियोचित वर्णधर्म्मानुगत युद्धकर्म्म से विमुख हो रहा था। भगवान् के उपदेश का ही यह फल था कि–अर्जुन पुनः अपने कर्म्म में प्रवृत्त हो गया। इस स्पष्ट स्थिति से प्रमाणित है कि–गीता का प्रधान प्रतिपाद्य विषय कर्म्म ही है। कर्म्म चूँकि विना ज्ञान के सम्भव नहीं। अतएव कर्म्मोपकारकत्वेन भगवान् ने अपने इस कर्म्मयोगशास्त्र में ज्ञान का समादेश कर लिया है। केवल कर्म्म आगे जाकर जड़वाद का प्रवर्त्तक बन जाता है। यही जड़वाद कालान्तर में नास्तिकता का प्रवर्त्तक बनता हुआ सर्वनाश का कारण बन जाता है। इसी समस्या के निराकरण के लिए अपने कर्म्मोपदेश में ईश्वर-भक्ति का समन्वय करना भी आवश्यक समझा है। इस प्रकार अपने मुख्य प्रतिपाद्य कर्म्म की स्वरूप रक्षा, स्वरूपविकासमात्र के लिए अपने इस कर्म्मयोगग्रन्थ में ज्ञान-भक्ति का समावेश कर लिया है। वस्तुतः गीता का मुख्य लक्ष्य कर्म्मवाद ही है। इस कर्म्मयोगात्मक साम्प्रदायिक दृष्टिकोण से साम्प्रदायिक गीता का यही सार है कि–**"ईश्वर ने मानव को पुरुषार्थ संग्रह के लिए जन्म दिया है, न कि अकर्म्मण्य बना बैठे रहने के लिए। उसे चाहिए कि–वह अपनी वर्णमर्य्यादा के अनुसार श्रुतिस्मृति प्रतिपादित वर्णाश्रमधर्म्म के अनुरूप यावज्जीवन शास्त्रसिद्ध कर्म्मों का अनुगामी बना रहे। यही इसका जन्म साफल्य है, कृतकृत्यता है, परमपुरुषार्थ साधन है"**।

उक्त स्पष्टीकरण के सम्बन्ध में एक प्रासङ्गिक निवेदन और सुन लीजिए। गीता में ज्ञान-भक्ति-कर्म्मयोगत्रयी का लोकसंग्रह दृष्टि से निरूपण हुआ है, यह तो निर्विवाद है। परन्तु गीता ने जिन

योगत्रयी का संशोधनपूर्वक गीताशास्त्र में संग्रह किया है, उक्त साम्प्रदायिक दृष्टिकोण के अनुग्रह से गीता का लक्ष्यीभूत वह योगत्रयी तत्त्व भी आज विलुप्त हो गया है। सर्वप्रथम गीता के ज्ञानयोग को ही लीजिए। ज्ञानयोग से आज सर्वधारण में वेदान्त का ग्रहण हो रहा है—उस अर्वाचीन वेदान्त का, जिसने जगन्मिथ्यात्ववादपूर्वक कर्म्मसंन्यास का उद्घोष किया है। इसी दृष्टि से हमने पूर्व में ज्ञानयोगानुगत साम्प्रदायिक दृष्टिकोण का स्पष्टीकरण भी किया है। परन्तु वस्तुतः गीता का ज्ञानयोग अर्वाचीन वेदान्तनिष्ठा से कोई सम्बन्ध न रखता हुआ कपिलादिसम्मत पुरातन 'सांख्य' नामक ज्ञानयोग का ही संग्राहक है—जो सांख्यज्ञान प्रकृतिविज्ञान से सम्बद्ध है, जैसाकि—**'ज्ञानयोगेन सांख्यानाम्'** इत्यादि भगवद्वचन से ही प्रमाणित है। यही स्थिति दूसरे भक्तियोग की है। **'सा परानुरक्तिरीश्वरे'** लक्षणा आत्मसमर्पण मूला भक्ति ही गीता का संशोधित भक्तियोग है। झाञ्झतालमृदङ्गादि की ध्वनियों पर घूंघरू बांध कर, तालियाँ बजा-बजाकर, ग्रीवा को वक्रित कर, अर्द्धनिमीलितनेत्रों से भगवान् के नाम का संकीर्त्तन करना, अहोरात्र भगवान् के लिए सुस्वादु प्रसादों की निर्म्माणकला में व्यस्त रहना—इत्यादि लक्षण वर्त्तमानयुग के साम्प्रदायिक भक्तियोग का भी गीता संगृहीत भक्तियोग से कोई सम्बन्ध नहीं है। इसी दृष्टि से हमने पूर्व में भक्तियोगानुगत साम्प्रदायिक दृष्टिकोण का स्पष्टीकरण भी किया है। परन्तु वस्तुतः गीता का संशोधित भक्तियोग इस प्रचलित साम्प्रदायिक भक्तियोग से कोई सम्बन्ध नहीं रखता। यही स्थिति कर्म्मयोग की समझिए।

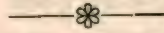
जिस प्रकार ज्ञानयोग के लिए गीता में 'सांख्य' शब्द प्रयुक्त हुआ है, एवमेव कर्म्मयोग के लिए 'योग' शब्द प्रयुक्त हुआ है, जैसा कि—**'सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः'**[1] वचन से प्रमाणित है। प्राचीन दृष्टि के अनुसार 'योग' शब्द से सुप्रसिद्ध पातञ्जल-योगदर्शन का भी ग्रहण किया जा सकता है—जिसके धारणा-ध्यान-समाधि—ये तीन प्रधान अङ्ग माने गए हैं एवं चित्तवृत्तिनिरोध जिसका उदर्क माना गया है। योग शब्द से यज्ञादिलक्षण, ब्राह्मणग्रन्थप्रतिपादित कर्म्मयोग का भी ग्रहण किया जा सकता है। दोनों में से गीताशास्त्र ने कामनात्यागलक्षण संशोधन के साथ यज्ञादिलक्षण कर्म्मयोग का ही योग शब्द से संग्रह किया है, जैसाकि—**'यज्ञदानतपःकर्म्म न त्याज्यं कार्य्यमेव तत्'**[2] वचन से प्रमाणित है। निष्कामभावानुगति से यही कर्म्मयोग आर्षदृष्टिकोण का अनुगामी बन जाता है एवं सकामभावानुगति से यही साम्प्रदायिकदृष्टिकोण का संग्राहक बन रहा है—जिसका पूर्व में स्पष्टीकरण हुआ है।

अब इसी कर्म्मयोग के सम्बन्ध में वर्त्तमान युग में एक नवीन राष्ट्रीयदल का आविर्भाव और हुआ है—जिसके व्यक्तिभेद से अनेक दल आज इतस्ततः दंद्रम्यमाण बनते हुए गीता का उद्घोष कर रहे हैं। ऐतिह्यक्रम द्वारा स्वीकृत विषादयोगादि अठारह योगों से अतृप्त इन महानुभावों ने गीता में—**'असहयोग'** नामक एक अश्रुतपूर्व योग का नवीन आविष्कार और कर डाला है। आपके इस असहयोगाविष्कार ने तो इतिहासक्रम को भी विलुप्त कर दिया है। ऐतिहासिक, वैज्ञानिक सभी गीताराद्धान्तों की उपेक्षा करने वाले इस कल्पना प्रसून के अतिरिक्त कतिपय महानुभावों के द्वारा एक कल्पित **'साम्ययोग'** (साम्यवाद) का आविर्भाव और हुआ है। आपका कहना है कि—गीता केवल उस साम्यवाद का निरूपण

---

१ गीता ५।४।   २ गीता १८।५।

कर रही है-जिसमें न कोई बडा है, न छोटा। न कोई ब्राह्मण है, न कोई शूद्र। सब मनुष्य समान हैं, अतएव सबको समानाधिकार है। इस द्वितीय आविष्कार के अतिरिक्त एक तीसरा आविष्कार है-**'निष्काम कर्म्मयोग'**, जो आज राष्ट्रभक्त आबालवृद्धवनिता-सबके मुख में प्रतिष्ठित है। इस निष्काम कर्म्मयोग का अर्थ किया जा रहा है-'यथेच्छकर्म्म करना। जिसे जो जब अच्छा लगे, वह उसे तभी कर डाले। मर्य्यादा नहीं, शास्त्रनिष्ठा नहीं, देश-कुल-जाति कुछ नहीं। बस, आँख मूंद कर किए जाओ-यही इस नवीन आविष्कार की परिभाषा है, जिस परिभाषा का पोषक माना जा रहा है गीताशास्त्र। 'गीता कहती है'-निष्काम कर्म्म करते चले जाओ। परन्तु कहाँ? इस प्रकार गीता नाम की ओट में कर्म्मयोग के सम्बन्ध में आज असहयोग-साम्यवाद-निष्कामकर्म्मवाद-आदि नवीन-नवीन योग ओर पुष्पितपल्लवित हो रहे हैं, जिन्हें दोष देना इसलिए व्यर्थ है कि-स्वयं आर्षप्रजा ही सम्प्रदायाभिनिवेश में पड़कर गीता के वास्तविक लक्ष्य को भुलाती जा रही है। साम्प्रदायिक श्रीकृष्ण, साम्प्रदायिक गीता और साम्प्रदायिक गीतासारपरीक्षा का यही संक्षिप्त इतिवृत्त है-जिसे हृदयङ्गम कर लेना इसलिए आवश्यक है कि, इसी आधार पर आर्षगीता की सारपरीक्षा का समन्वय किया जायगा।



ग-आर्ष श्रीकृष्ण-उनकी आर्षगीता और आर्षगीतासारपरीक्षा—

साम्प्रदायिकदृष्टिकोण के अतिरिक्त गीताशास्त्र का वह दूसरा दृष्टिकोण है-जिसका प्रधानरूप से विज्ञान के साथ सम्बन्ध है और इस विज्ञानदृष्टि से गीता के आचार्य्य का, स्वयं गीता का तथा गीता के सार का कुछ और ही स्वरूप है, जो साम्प्रदायिकदृष्टिकोणप्राधान्य से-तदनुगत व्याख्यादोष से सदियों से ही नहीं, अपि तु, सहस्राब्दियों से विलुप्तप्राय है। आर्षदृष्टि से भगवान् कृष्ण का स्वरूप साम्प्रदायिकों के लिए विरोध का कारण बने-यह बात नहीं है। अपि तु, हम तो यह कहेंगे कि-आर्ष-श्रीकृष्ण साम्प्रदायिककृष्ण का स्वरूप अधिक विकसित करता हुआ साम्प्रदायिकों की तुष्टि का ही कारण है। साम्प्रदायिक जहाँ कृष्णशरीर पर विशेष लक्ष्य देते हैं, वहाँ वैज्ञानिक उस नित्य आत्मकृष्ण की उपासना कर रहे हैं-जो अव्ययात्मकृष्ण भिन्न-भिन्न शरीरों से धर्म्मग्लानि के विभिन्न अवसरों पर कला भेद से अवतार लिया करता है। सर्वजगत्-व्यापक जो अव्ययात्मा अपनी षोडशकलाओं से देवयुगारम्भ में मानवशरीर से अवतीर्ण हुआ था-उसी ने महाभारत युग में अपनी उन्हीं पूर्ण कलाओं से मानव शरीर में अवतीर्ण हो असुरसंहार किया। जिस अव्ययेश्वर श्रीकृष्ण ने देवयुगारम्भ में विवस्वान् के प्रति अपने आर्ष गीतातत्त्व का उपदेश दिया था, उसी ने महाभारत युग में अर्जुन के प्रति अपने उस अव्ययात्मानुगत गीतातत्त्व का उपदेश दिया। इस प्रकार आधिकारिक रूप से समय-समय पर अन्यान्य शरीरों से अवतीर्ण होने वाला परमात्माव्ययतत्त्व ही आर्ष-श्रीकृष्ण है एवं यही वैज्ञानिकगीता का मुख्य प्रतिपाद्य अव्ययात्म श्रीकृष्ण है-जिसका स्वयं श्रीकृष्णावतार द्वारा स्वरूप विश्लेषण हुआ है एवं जिसका **'गीताचार्य्य श्रीकृष्ण'** नामक गीताभाष्य के द्वितीय खण्ड के-**'गीता का कृष्ण'** नामक अवान्तर खण्ड में विस्तार से विश्लेषण हुआ है। साम्प्रदायिक कृष्ण भी वही है एवं आर्ष कृष्ण भी वही है। दृष्टिकोण में अन्तर

केवल यही है कि–साम्प्रदायिकता में विशेष रूप से शरीरानुगत मानव धर्म्मों की ओर लक्ष्य है एवं आर्षता में विशेष रूप से अव्ययात्मानुगत ईश्वरीय धर्म्मों की ओर लक्ष्य है। आर्ष उसी श्रीकृष्ण को अव्ययात्मदृष्टि से देख रहे हैं, साम्प्रदायिक उसी श्रीकृष्ण को नन्दनन्दनरूप से देख रहे हैं। नन्दनन्दन की शरीर लीलाओं की उपासना साम्प्रदायिक करते हैं, अव्ययकृष्ण की वर्णाश्रमाचारसिद्ध आत्मलीलाओं (कर्त्तव्य कर्म्मों) की उपासना आर्ष कर रहे हैं। इसी भेद को लक्ष्य बना कर आर्ष श्रीकृष्ण के स्वरूप का समन्वय करना चाहिए।

साम्प्रदायिक श्रीकृष्ण के साथ ऐतिहासिक गीता का सम्बन्ध है, यह बतलाया जा चुका है। और वहीं यह भी स्पष्ट किया जा चुका है कि–वर्तमान में गीता की श्लोकसंख्या-अध्यायक्रम–अध्याय प्रतिपादित विषादयोगादि १८ योग, ज्ञान-भक्ति-कर्म्मकाण्डत्रयी आदि जो कुछ गीता का स्वरूप उपलब्ध हो रहा है, उस स्वरूप का विशुद्ध साम्प्रदायिक दृष्टिकोण से सम्बन्ध है। गीता ऐतिहासिक मर्य्यादा के अनुसार ऐतिहासिक महाभारतग्रन्थ का अङ्ग है एवं इस इतिहास मर्य्यादा की दृष्टि से ही पूर्वपरिच्छेद प्रतिपादित अध्यायक्रमादि का समन्वय भी हो रहा है। परन्तु जब हम इस ऐतिहासिकदृष्टि को छोड देते हैं–तो उस समय हमारा ध्यान आर्षश्रीकृष्ण एवं उनकी आर्षगीता की ओर आकर्षित हो जाता है, और उस समय ऐतिहासिक अध्याय क्रमादि मर्य्यादा का कोई महत्त्व नहीं रह जाता। अपि तु, आर्ष-कृष्णानुरोध से आर्षगीता का वही विषयविभागादिक्रम मान्य आठ रहता है, जिस विभाग का अव्ययात्मविद्या तथा अव्ययात्मयोग से सम्बन्ध है। प्रश्न किया जा सकता है कि–ऐतिहासिक क्रमसिद्ध विषय-विभागादि क्रम के स्थान में वैज्ञानिक-विषय विभागादि क्रम को प्रतिष्ठित करने का आधारसूत्र क्या है, जबकि गीता की ऐतिहासिक मर्य्यादा महाभारताङ्गत्त्वेन स्वतःसिद्ध है? तो इस प्रश्न के उत्तर में हम पाठकों के सम्मुख–**'शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्'**[1]–यह गीता का आधार सूत्र ही उपस्थित करेंगे।

घटना वास्तव में ऐतिहासिक रङ्गमञ्च पर ही घटित हुई थी। वास्तव में महाभारत युद्ध प्रसङ्ग में ही भगवान् ने अर्जुन को गीतोपदेश दिया था। और इस ऐतिहासिक प्रसङ्ग की दृष्टि से ही इतिहास लेखक भगवान् व्यास ने-'कृष्णार्जुन संवाद' रूप से इस ऐतिहासिक गीतोपदेश घटना को भी अन्यान्य घटनाओं की भाँति अपने महाभारत ग्रन्थ में स्थान दिया एवं इसीलिए इसके अध्यायादि क्रम अङ्गीभूत महाभारत की दृष्टि से रक्खे भी गए। यह सब कुछ मानते हुए भी कहना पड़ेगा कि–कृष्णार्जुन-संवाद अन्यान्य ऐतिहासिक प्रसङ्गों की भाँति निरा ऐतिहासिक प्रसङ्ग ही न था–अपि तु, यहाँ इस ऐतिहासिक क्षेत्र में ही उसी प्रकार तत्त्वोपदेश चर्चा चल पड़ी थी–जैसे कि शान्त प्रसङ्गों में शान्त स्थानों में गुरु-शिष्यों में अध्ययनाध्यापनानुगता तत्त्वचर्चा होती रहती है। इसी तत्त्वचर्चा के आधार पर तो कितने ही काल्पनिकों को इस कल्पना का अवसर मिल गया है कि–"जहाँ तुमुल वाद्यध्वनि हो रही हो, असंख्य योद्धा रणोन्मत्त बन कर व्यूहरचनापूर्वक सन्नद्ध खड़े हों–ऐसे जनकलकलरवसंकुलित वातावरण में एवंविध तात्त्विक उपदेश का सुनना-सुनाना असम्भव है। अवश्य ही यह केवल व्यास की

१ गीता २।७।

अपनी रचना है-कृष्ण ने तो एकाध घण्टा ही समझाया होगा। उसी का व्यास ने अपनी भाषा में अपने ऐतिह्यग्रन्थ महाभारत में उपबृंहण कर डाला है"। कल्पना इसलिए निःसार है कि, गीतोपदेष्टा अस्मदादि साधारण मानव नहीं थे। अपि तु, वे अवतार पुरुष थे, जिन्होंने जयद्रथवध के अवसर पर सूर्य्य का स्तम्भन कर डाला था। ऐसे उपदेशक के लिए अशान्त से अशान्त वातावरण भी प्रतिबन्धक नहीं बन सकता। भाषा व्यास की है, यह मानते हैं। परन्तु भाषा द्वारा उपवर्णित समस्त तत्त्वोपदेश भगवान् का अपना उपदेश है। इसी भगवत्ता के कारण तो हम इस गीतोपदेश प्रसङ्ग को ऐतिह्यक्षेत्रानुगामी रहते हुए भी ऐतिह्य मर्य्यादा से पृथक् मान रहे हैं। और इसी आधार पर तो हम यह कहने का साहस कर रहे हैं कि-ऐतिहासिक प्रसङ्ग का गीता के विद्या-योगोपदेशों पर कोई प्रभाव नहीं हुआ है। अपि तु, वह उसी प्रकार अपनी उस शास्त्रमर्य्यादा से अक्षुण्ण बना हुआ है-जैसे शान्त अवसरों पर गुरु-शिष्य में घटित होने वाली तत्त्वचर्चा अपने तात्त्विकविद्यात्मक स्वरूप से अक्षुण्ण बनी रहती है। **'शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्'**-इस आधार सूत्र के द्वारा ही ऐतिहासिकमर्य्यादाक्रान्त भी गीताशास्त्र अपने प्रातिस्विकरूप से वैज्ञानिकशास्त्र बन रहा है।

दूसरा कारण लीजिए। यदि गीतोपदेश पहली बार केवल महाभारतयुद्ध प्रसङ्ग पर ही घटित होता, तब भी गीता की ऐतिहासिकता पर बल प्रयोग किया जा सकता था। परन्तु देखते हैं महाभारत युद्धप्रसङ्ग गीतोपदेश के लिए कोई प्रथम अपूर्वक प्रसङ्ग नहीं है। अपि तु, इस युद्धप्रसङ्ग से हजारों वर्ष पूर्व देवयुगारम्भ में इसी तत्त्वोपदेश का विवस्वान् के प्रति विस्तार से प्रतिपादन हो चुका था, जैसाकि-**'इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्'**[1]-इत्यादि स्वयं गीतावचन से ही प्रमाणित है। पूर्वोक्त वही तत्त्वोपदेश इस महाभारतयुद्धप्रसङ्ग पर भी दोहरा दिया गया है। इस से भी यह स्पष्टतम रूप से प्रमाणित हो रहा है कि-गीता कोई महाभारतकालीन युद्धाङ्गभूत ऐतिहासिक घटना नहीं है, अतएव गीता ऐतिहासिक ग्रन्थ नहीं है। अपि तु, गीता अपने प्रातिस्विक स्वरूप से एक स्वतन्त्र तत्त्वपूर्ण वैज्ञानिकशास्त्र है।

तीसरे कारण का समन्वय कीजिए। महाभारत ग्रन्थ के अङ्ग बने हुए भी गीताशास्त्र के प्रत्येक अध्याय के उपसंहार में-**"इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे"**-यह वाक्य उद्धृत रहता है। इस वाक्य की प्रामाणिकता सर्वविदित है। विचार कीजिए-इस वाक्य के **'उपनिषत्सु'-'ब्रह्मविद्यायां'-'योगशास्त्रे'**-इन पदों का क्या रहस्य है? क्या ये पद यह प्रमाणित नहीं कर रहे हैं कि-ऐतिहासिकग्रन्थ का अङ्ग बना रहता हुआ भी गीताशास्त्र ऐतिहासिकग्रन्थ नहीं है। नाहीं इसका ऐतिहासिक मर्य्यादा से ही कोई सम्बन्ध है। अपि तु, भगवान् के द्वारा उपवर्णित अनेक उपनिषदों का, उपनिषदनुगत आत्मविद्याओं का, तदनुगत आत्मयोगों का तात्त्विक विश्लेषण करने वाला एक वैज्ञानिक स्वतन्त्रशास्त्र है। इस प्रकार अनेक कारणों से गीता का आर्ष-वैज्ञानिकत्त्व सर्वथा प्रमाणित हो रहा है। सचमुच यह एक दुःख का विषय है कि-सम्प्रदायाभिनिवेश के कारण आज तक गीता केवल ऐतिहासिक ग्रन्थ ही बना रहा। फलस्वरूप (श्री अभिनव गुप्ताचार्य्य को छोडकर) आज तक गीता के जितने भी भाष्यकार-टीकाकार

१ गीता ४।१।

हुए, सब ने उस ऐतिहासिक विषयविभागक्रम को मूल बना कर ही गीताविषय समन्वय की चेष्टा की। परिणाम इस चेष्टा का यह हुआ कि–गीता का आर्षवैज्ञानिकत्त्व, तत्त्वात्मक विद्या, योगरहस्योपदेशत्त्व, सब कुछ स्मृतिगर्भ में विलीन हो गया। और यों ऐतिह्यमूलक साम्प्रदायिकदृष्टिकोणानुग्रह से मानवप्रजा गीता के वास्तविक लक्ष्य से सर्वथा वञ्चित बनी रह गई। इसी साम्प्रदायिकता का दूसरा दुष्परिणाम यह भी हुआ कि–अर्वाचीन पश्चिमी शिक्षाशिक्षितों ने अपने बुद्धिवैभव से गीता का रहा सहा तत्त्ववाद भी विलुप्त कर डाला। वेदशास्त्र की गहनातिगहन तात्त्विक परिभाषाओं का सूचीभूत गीता जैसा रहस्यपूर्ण ग्रन्थ आज प्रत्येक मानव के विनोद की सामग्री बन रहा है। जिसकी इच्छा होती है, वही इसका गद्यानुवाद-पद्यानुवाद-करने का साहस कर डालता है। इस प्रकार आरम्भ में होने वाली भूल के अनुग्रह से–**'सम्यक्-जानाति वै कृष्णः'** वाला रहस्य पूर्ण गीताशास्त्र आज आबालवृद्धवनिता–सभी के लिए एक अनुरञ्जन की सामग्री बन रहा है। **कालाय तस्मै नमः।**

हमने देखा कि–गीताशास्त्र जहाँ महाभारताङ्गत्त्वेन ऐतिहासिकग्रन्थ है, वहाँ गुरुशिष्य परम्परानुगत विद्यायोगोपदेश के कारण वही गीताशास्त्र वैज्ञानिकग्रन्थ है। अतएव ऐतिहासिक दृष्टि से जहाँ प्रचलित विषयविभागक्रम आदरणीय है, वहाँ वैज्ञानिकदृष्टि से यह विषयविभाग सर्वथा उपेक्षणीय है। क्यों कि भगवान् ने इस वैज्ञानिक ग्रन्थ में जिन चार विद्याओं तथा चार योगों का तात्त्विक विश्लेषण किया है, उसका ऐतिहासिक प्रचलित विषयविभाग के साथ कोई समन्वय नहीं हो पाता। विद्योपदेश दृष्टि से अवश्य ही आर्षगीताशास्त्र का विषयविभाग विद्योपदेशक्रमानुसार ही अपेक्षित है एवं उसी वैज्ञानिक विषयविभाग का इस गीताविज्ञानभाष्य में समादर किया है–जिसका गीताभूमिका प्रथमखण्ड में दिग्दर्शन कराया जा चुका है। सन्दर्भ सङ्गति के लिए यहाँ भी दो शब्दों में उसका स्पष्टीकरण कर दिया जाता है।

उपलब्ध ऐतिहासिक गीताग्रन्थ के जहाँ ७०० श्लोक हैं, वहाँ वैज्ञानिक गीता के केवल ६३९ श्लोक माने जायेंगे। **'अशोच्यानन्वशोचस्त्वं०'**[१] से विज्ञान गीता का आरम्भ हुआ है एवं **"नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा"**[२] पर विज्ञान गीता समाप्त हुई है। २ अध्याय के ११वें श्लोक से आरम्भ कर १८वें अध्याय के ७३ श्लोक पर्य्यन्त कुल ६३९ श्लोक होते हैं। यही विज्ञानगीता का वाङ्मय शरीर है। इतिहास क्रमानुसार अब केवल ६१ श्लोक बच रहते हैं।

उपलब्ध ऐतिहासिक गीताग्रन्थ के जहाँ ७०० श्लोक हैं, वहाँ विज्ञान गीता के ६४३ श्लोक माने जायँगे। आरम्भ से विचार कीजिए। **'धर्म्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः'**[३]–यहाँ से ऐतिहासिक गीता का आरम्भ होता है। इस प्रथम श्लोक से आरम्भ कर प्रथम अध्याय के–**'अहो बत महत्पापं कर्त्तुं व्यवसिता वयम्'**[४] एवं–**'एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत्'**[५]–इन दो श्लोकों को छोडकर प्रथम अध्याय के शेष ४५ श्लोक ऐतिहासिक गीता से सम्बन्ध रखते हैं। अतएव मूल भाष्य में–**'ऐतिहासिक गीता'** नाम

---

१ गीता २।११। २ गीता १८।७३।
३ गीता १।१। ४ गीता १।४५। ५ गीता १।४७।

से यह प्रकरण ही स्वतन्त्र रूप से निरूपित हुआ है। इस प्रकार प्रथम अध्याय में प्राकृतिकशोकसमुत्थानात्मक २ श्लोक वैज्ञानिक हैं, शेष ४५ ऐतिहासिक हैं। द्वितीय अध्याय का आरम्भ का–'**तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम्**'[1]–यह श्लोक प्राकृतिकशोकसमुत्थान से सम्बद्ध रहता हुआ विज्ञान गीता में ही अन्तर्भूत है। इससे आगे के–'**कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्**'[2]–'**क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ ! नैतत्त्वय्युपपद्यते**'[3]–इन २ श्लोकों का भी 'चातुर्विधोपक्रम' रूप से विज्ञानगीता में समावेश है एवं इसके आगे के क्रमिक ७ श्लोक ('कथं भीष्ममहं०' २।४, से आरम्भकर 'तमुवाच हृषीकेशः' २।१०) पुनः ऐतिहासिकगीता में अन्तर्भूत हैं। इस प्रकार प्रथमाध्याय से आरम्भ कर द्वितीयाध्याय के १०वें श्लोक पर्य्यन्त के ५७ श्लोकों में से (४७ प्रथम अध्याय के और १० द्वितीय अध्याय के) ५ श्लोक तो विज्ञानगीता से सम्बद्ध हैं एवं शेष ५२ श्लोक ऐतिहासिक गीता से सम्बद्ध हैं। प्रथम-द्वितीय-अध्यायों में (द्वितीयाध्याय के १०वें श्लोकपर्य्यन्त) ऐतिहासिक सन्दर्भ के मध्य में पठित वैज्ञानिक श्लोक विषय स्पष्टीकरण के लिए यहाँ स्वतन्त्र रूप से उद्धृत कर दिए जाते हैं—

विज्ञानगीता में प्राकृतिक शोकसमुत्थानप्रदर्शन
(लोकवृत्तोपनिषत्)

१–अहो बत महत्पापं कर्त्तुं व्यवसिता वयम् ।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः ॥[4]

२–एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत् ।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः ॥[5]

३–तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम् ।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः ॥[6]

——×——

चतुर्विध बुद्धियोग-विद्योपदेशोपक्रम–

४–कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् ।
अनार्य्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्त्तिकरमर्जुन ! ॥[7]

१ गीता २।१ । २ गीता २।२ । ३ गीता २।३ ।
४ गीता १।४५ । ५ गीता १।४७ । ६ गीता २।१ ।
७ गीता २।२ ।

५-क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ! नैतत्त्वय्युपपद्यते ।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप ! ॥[1]

(५ श्लोक विज्ञानगीतात्मक)

——×——

१-'धर्म्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः ।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत सञ्जय ॥[2]

२-तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः ॥[3]

(१।१ से २।१० तक पूर्वोक्त ५ श्लोकों से अतिरिक्त-कुल ५२ श्लोक ऐतिहासिक गीतात्मक)

——×——

इस विज्ञानशास्त्र का उपदेश महाभारत युद्धप्रसङ्ग में हुआ था-अतएव यह अपनी प्रातिस्विक वैज्ञानिक मर्य्यादा के साथ-साथ ऐतिहासिक मर्य्यादा से भी इस युग में युक्त हो गया था। गीताशास्त्र के इस ऐतिहासिक तथा वैज्ञानिक उभय सम्बन्ध को स्पष्ट करने के लिए ही व्यासजी द्वारा ५ श्लोक ऐतिहासिक सन्दर्भ के मध्य में समाविष्ट हुए हैं एवं गीताग्रन्थ समाप्ति में पठित इतिहासोपसंहारात्मक-(**'इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः'** १८।७४ से आरम्भ कर-**'यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः'** १८।७८ । पर्य्यन्त) ५ श्लोक भी इसी समन्वय मर्य्यादा का समर्थन कर रहे हैं। इस प्रकार १-२ अध्यायों के ५२ श्लोक, १८वें अध्याय के ५ श्लोक, कुल ५७ श्लोक ऐतिहासिक गीता से सम्बद्ध हैं एवं शेष ६४३ श्लोकात्मिका गीता विज्ञानगीता का वाङ्मय शरीर है। विज्ञानगीता का प्रधान प्रतिपाद्य विषय-**'अशोच्यानन्वशोचस्त्वम्'** (२।११) यहाँ से आरम्भ होता है एवं-**'सर्वकर्म्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः'** (१८।५६) यहाँ समाप्त होता है। इस मुख्य प्रतिपाद्य विषय में क्रमशः वैराग्यबुद्धियोगानुगता **राजर्षिविद्या**, ज्ञानबुद्धियोगानुगता-**सिद्धविद्या**, ऐश्वर्य्यबुद्धियोगानुगता **राजविद्या** एवं धर्म्मबुद्धियोगानुगता **आर्षविद्या**-इन चार योगानुगता विद्याओं का तात्त्विक विवेचन हुआ है। द्वितीय अध्याय के ११वें **'अशोच्यानन्वशोचस्त्वम्०'**-इस श्लोक से आरम्भ कर छठे अध्याय की समाप्ति पर्य्यन्त क्रमशः २-३-४-५-६-इन पाँच अध्यायों के ६२-४३-४२-२९-४७-इन श्लोकों में (सम्भूय २२३ श्लोकों में) राजर्षिविद्या का प्रतिपादन हुआ है। सप्तम अध्याय के १ पहले-**'मय्यासक्तमनाः पार्थ !'**-इस श्लोक से आरम्भ कर ८वें अध्याय की समाप्ति पर्य्यन्त क्रमशः ३०-२८ इन श्लोकों में (सम्भूय ५८ श्लोकों में) सिद्धविद्या का प्रतिपादन हुआ है। नवम अध्याय के १ पहले-**'इदं तु ते गुह्यतमम्०'**-इस श्लोक से

१ गीता २।३ । २ गीता १।१ । ३ गीता २।१० ।

आरम्भ कर १२वें अध्याय की समाप्ति पर्य्यन्तः क्रमशः ३४-४२-५५-२० इन श्लोकों में (सम्भूय १५१ श्लोकों में) राजविद्या का प्रतिपादन हुआ है। १३वें अध्याय के १ पहले-**'प्रकृतिं पुरुषं चैव०'** इस श्लोक से आरम्भ कर १८वें अध्याय के-**'सर्वकर्म्माण्यपि सदा०'** इस ५६वें श्लोक पर्य्यन्त क्रमशः ३५-२७-२०-२३-२८-५६-इन श्लोकों में (सम्भूय १८९ श्लोकों में) आर्षविद्या का प्रतिपादन हुआ है। इस प्रकार २ अध्याय के ११वें श्लोक से आरम्भ कर १८वें अध्याय के ५६वें श्लोक पर्य्यन्त कुल ६२१ श्लोकों में (क्रमशः २२३-५८-१५१-१८९-इन श्लोकों में) चार विद्याओं का निरूपण हुआ है। प्रथम-द्वितीय अध्याय के पूर्व प्रदर्शित ५ श्लोकों से मुख्यप्रतिपाद्य विषय का उपसंहार हुआ है एवं १८ अध्याय के ५७वें श्लोक से आरम्भ कर ७३वें श्लोक पर्य्यन्त १७ श्लोकों में मुख्यप्रतिपाद्य विषय का (सारोद्धार-उद्धारोद्धार-फल-श्रुति-प्रकरणोपसंहार, इस क्रम से) उपसंहार हुआ। प्रकरणोपक्रम-उपसंहार के २२ श्लोक, मुख्यप्रतिपाद्य विषय के ६२१ श्लोक, सम्भूय ६४३ श्लोक विज्ञान गीता का वाङ्मय शरीर है, शेष ५७ श्लोकों का ऐतिहासिक सन्दर्भ से सम्बन्ध है। इस विषय विभागक्रम को लक्ष्य बना कर ही विज्ञानगीता की सार-परीक्षा अभीष्ट है। अव्ययात्मानुगता विद्याचतुष्टयी तथा विद्यानुगता योगचतुष्टयी-इन दोनों का उपदेश देने वाले अव्ययावतार आर्षश्रीकृष्ण का तथा उनकी आर्षगीता (विज्ञानगीता) का यही संक्षिप्त स्वरूप परिचय है-जैसाकि परिलेख से स्पष्ट है—

विज्ञानगीता का विषयविभाग

	प्रकरण	अध्याय	श्लोक	
	१ ऐतिहासिकसन्दर्भसङ्गति →	$\frac{१}{४५}+\frac{२}{७}$	→ ५२	→ ऐतिहासिकगीता
१	२ चातुर्विद्योपक्रम →	$\frac{१}{२}+\frac{२}{३}$	→ ५	→ इतिहासगर्भीभूता — विज्ञानगीता
२	३ राजर्षिविद्या →	$\frac{२}{६२}+\frac{३}{४३}+\frac{४}{४२}+\frac{५}{२९}+\frac{६}{४७}$	→ २२३	
३	४ सिद्धविद्या →	$\frac{७}{३०}+\frac{८}{२८}$	→ ५८	
४	५ राजविद्या →	$\frac{९}{३४}+\frac{१०}{४२}+\frac{११}{४४}+\frac{१२}{२०}$	→ १५१	
५	६ आर्षविद्या →	$\frac{१३}{३५}+\frac{१४}{२७}+\frac{१५}{२०}+\frac{१६}{२३}+\frac{१७}{२८}+\frac{१८}{५९}$	→ १८९	
५	७ चातुर्विद्योपसंहार →	$\frac{१८}{१७}$	→ १७	
	८ ऐतिहासिकोपसंहार →	$\frac{१८}{५}$	→ ५	→ ऐतिहासिकगीता

८ प्रकरण	१८ अध्याय	७०० श्लोक

अब शेष रह जाता है प्रश्न-आर्षगीता की सारपरीक्षा का । इस शेष प्रश्न का एक वाक्य में यही समाधान है कि–जिस योग्यता का जो भी अधिकारी जिस किसी भी शास्त्रीय ज्ञान-भक्ति-कर्म्म में, अथवा तो व्यावहारिक-राजनैतिक, सामाजिक, जातीय, कौटुम्बिक कर्म्म में प्रवृत्त हो, अपने अनुष्ठेयों में वह सर्वत्र यह अनुभव करता हुआ कि–"अव्यय नामक परमात्मतत्त्व सर्वत्र सब अवस्थाओं में समान रूप से प्रतिष्ठित होकर अपनी ज्ञान-क्रिया-अर्थशक्ति से सबका सञ्चालक बना हुआ है"–आत्मसमर्पण पूर्वक अपनी जीवनयात्रा का अनुगमन करे । इस आत्मसमर्पणमूला भावना से इसे कालान्तर में चारों बुद्धियोगों में से कोई न कोई बुद्धियोगनिष्ठा अवश्य प्राप्त हो जायगी । साथ ही वैराग्यबुद्धियोगमूला इस आत्मसमर्पण-भावना से सांसारिक सुख दुःखादि द्वन्द्वजनित अशान्तिप्रवर्त्तक क्षोभ भी इस पर आक्रमण न कर सकेंगे । विज्ञानगीता ने अपने मुख्य प्रतिपाद्य विषय का उपसंहार करते हुए यही स्वसार हमारे सम्मुख रक्खा है, जैसाकि आर्षविद्या के–किंवा चातुर्विध के सर्वान्त के निम्नलिखित भगवद्वचन से स्पष्ट है—

"सर्वकर्म्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः ।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्" ।।[1]

उक्त गीतासारात्मक भगवद्वचन से आर्ष-अनार्ष–दोनों प्रकार के मानव समाजों के कल्याण का सङ्केत हो रहा है । आर्षप्रजा वेदशास्त्रसिद्ध वर्णाश्रमाचारानुगत ज्ञान-कर्म्म-भक्तिपथों का अनुगमन करती है एवं अनार्षप्रजा स्वबुद्धिसिद्ध लोकव्यवहारानुगत ज्ञानकर्म्मादि का अनुगमन करती है । निश्चित है कि जब तक दोनों ही मानवसमाज आत्मप्रसाद प्राप्त नहीं कर लेते, तब तक उन्हें शान्ति नहीं मिल सकती । **'अहं जानामि–अहं करोमि'**–इस प्रकार की अहन्ता से भूतात्मानुगत (जीवात्मानुगत) अक्षर-क्षरात्मक प्रज्ञानमन प्रबल हो जाता है । प्रबल मन कामासक्ति का उत्तेजक बन जाता है, दूसरे शब्दों में जीवानुगता उत्थाप्याकांक्षा का प्रवर्त्तक बन जाता है । इस उत्थाप्याकांक्षा से मन इन्द्रियदास बन जाता है । इन्द्रियदास मन आगे जाकर बाह्य विषयों का दास बनता हुआ दासानुदास बन जाता है । इस दासानुदासता से विषय संस्कार अपने स्वाभाविक तमोगुण से मन के उस बुद्धि द्वारा आगत स्वाभाविक चैतन्य को आवृत कर लेते हैं, जिस बुद्धि-प्रदत्त चैतन्य के बल पर मन अपने स्वाभाविक विकास से विकसित रहता हुआ स्वस्थ (स्थिर-स्थिरप्रज्ञ) बना रहता हुआ शान्त रहता है । यही अस्थिरता मन की अशान्ति है । अशान्ति ही दुःख है । और यों अहन्ता के अनुग्रह से मन का वशवर्त्ती जीवात्मा बुद्धिसंश्लिष्ट अव्ययात्मा का प्रसाद (अनुकूल सहयोग) खो बैठता है । आवश्यकता इस बात की है कि–मन स्थिर बने । मनःस्थिरता के लिए यह आवश्यक है कि–उस पर विषयसंस्कार का लेप न हो । विषयसंस्कार लेप निवृत्ति के लिए यह आवश्यक है कि मन असङ्गवृत्ति से विषयों का अनुगामी बना रहे । मन की इस असङ्गता के लिए यह आवश्यक है कि–वह असङ्गविद्याबुद्धि से युक्त रह कर ही विषयों में प्रवृत्त हो । इस विद्याबुद्धियोग के लिए यह आवश्यक है कि मनःसहकृत जीवात्मा अपने यच्चयावत् कर्म्मकलापों में, खाते-पीते-सोते-उठते-जागते-रोते-हँसते–सदा उस साक्षी अव्ययात्मा को ही अग्रणी बनाए रहे और पदे-

---

१ गीता १८।५६ ।

पदे यह अनुभव करता रहे कि–'मैं कुछ नहीं कर रहा, वही सब कुछ कर रहा है, वही सब कुछ हो रहा है। इस आत्मसमर्पण भावना का परिणाम यह होगा कि, भावना बल के द्वारा अव्ययात्मा का बुद्धिद्वार से मनोऽनुगत जीवात्मा पर अनुकूल सम्बन्ध स्थापित हो जाएगा। पहले अव्ययात्मा बुद्धि को बल प्रदान करेगा, बुद्धि द्वारा मन इस असङ्ग आत्मधर्म्म से युक्त हो जाएगा। और यों कालान्तर में अभ्यासवश मन स्वतएव वैराग्यबुद्धियोगानिष्ठ बनता हुआ स्थिरप्रज्ञ हो जायगा।

अब दो शब्दों में श्लोकार्थ का भी समन्वय कर लीजिए। श्लोक का तात्पर्य्य यही है कि–जो अव्ययात्मा के प्रति आत्मसमर्पण करता हुआ कर्म्मों में प्रवृत्त रहता है, उसका अव्ययात्मा उसके अनुकूल बना रहता है एवं अव्ययात्मा की यह अनुकूलता ही 'मत्प्रसाद' (विकसित अव्ययात्मा का बुद्धि द्वारा जीव के साथ सम्बन्ध हो जाना) है। इस मत्प्रसादलक्षण अव्ययात्मसम्बन्ध से शाश्वत अव्ययपद प्राप्त हो जाता है। श्लोकतात्पर्य्य के समन्वय में प्रत्यक्ष में कुछ विप्रतिपत्ति प्रतीत हो रही है। विप्रतिपत्ति यही है कि–श्लोकस्थ 'मत्' पद गीता परिभाषानुसार 'अव्ययात्मा' का वाचक है। ऐसी स्थिति में श्लोकार्थ यह होता है कि–'अव्ययप्रसाद से शाश्वत अव्ययपद प्राप्त हो जाता है'। क्या मत्–सम्बन्धी अव्यय पृथक् है एवं शाश्वत पद वाला अव्ययपद पृथक् है? क्या दो-दो अव्यय हैं। नहीं, अव्ययात्मा तो स्वस्वरूप से अभिन्न ही है। फिर श्लोक में यह भेद-व्यवहार क्यों? साम्प्रदायिक व्याख्याता लोग तो इस आपत्ति से इसलिए बच गए हैं कि उनकी दृष्टि में **'शाश्वतं पदमव्ययम्'** वाला अव्ययपद विशेष्य नहीं, अपितु शाश्वतपद का विशेषण है। उनकी दृष्टि में अव्ययपद का अर्थ है अक्षीण, अविनाशी। फलतः वे इस वाक्य का —'नित्य-अक्षीणमोक्षपद' अर्थ कर अपना सन्तोष कर लेते हैं। परन्तु वैज्ञानिक इस समाधान को केवल प्रौढिवाद इसलिए मान रहा है कि उस की दृष्टि में शाश्वत और पद शब्द विशेषण है एवं 'अव्यय' शब्द विशेष्य बनता हुआ 'अव्ययेश्वर कृष्णात्मा' का वाचक है। यह वैज्ञानिक अपनी उस उक्त विप्रतिपत्ति का यों निराकरण कर रहा है—

सर्वजगद्व्यापक महामायावच्छिन्न ईश्वराव्यय आधिदैविक अव्यय है, यही अपने पूर्णधर्म्म से 'ओम्' इस उपनिषत् से युक्त है, इसी के लिए **'तस्य वाचकः प्रणवः'**[1] कहा गया है। सम्पूर्ण विश्व में अखण्ड-पूर्णरूप से व्याप्त रहने के कारण ही यह ईश्वराव्यय 'शाश्वतपद' है। इस ईश्वराव्यय का विभूति सम्बन्ध से जीवानुगता अध्यात्मसंस्था में भी–**'अविभक्तं-विभक्तेषु विभक्तमिव च स्थितम्'**–रूप से भोग हो रहा है। अध्यात्मसंस्था युक्त जीवाव्यय योगमायासम्बन्ध से 'अहम्' उपनिषत् से युक्त है। गीता में प्रयुक्त 'अहं' शब्द सर्वत्र जीवाव्यय का ही संग्राहक है, अतएव 'मद्व्यपाश्रय'—'मत्प्रसादात्' के मत् पदों से हम जीवाव्यय का ही ग्रहण करेंगे, जो कि योगमाया सम्बन्ध से शाश्वत नहीं माना जा सकता। जीवात्मा अपने ऐहिक मानवजन्म में इसी जीवाव्यय के प्रति आत्मसमर्पण कर सकता है। इस जीवाव्यय के द्वारा शरीरत्यागानन्तर इसे वह ईश्वराव्ययपद प्राप्त होता है। दूसरे शब्दों में आध्यात्मिक अव्यय की उपासना के द्वारा ही आधिदैविक अव्ययपद प्राप्त होता है। इस दृष्टिभेदभिन्न अव्ययभेद को लक्ष्य बनाकर ही भगवान् ने कहा है कि मेरे प्रसाद से (आध्यात्मिक अव्यय सम्बन्ध से)

१ पा० योगसूत्र १।२६।

जीवात्मा शाश्वत अव्ययपद (आधिदैविक अव्यय) प्राप्त करने में समर्थ हो जाता है। जब तक अव्ययात्मप्रसाद प्राप्त नहीं हो जाता, तब तक न ऐहिकसुख है, न आमुष्मिक आनन्द है। इस सर्वकालिक सुख-शान्ति के लिए आत्मसमर्पणरूप वैराग्यबुद्धियोगानुष्ठान ही एकमात्र उपाय है एवं समस्त आर्षगीता का यही सार किंवा सारपरीक्षा है, जिसका भगवान् ने अनेक दृष्टियों से उपबृंहण किया है।

वे अनेक दृष्टियाँ कौन सी हैं, जिनके द्वारा भगवान ने बुद्धियोगात्मक गीतासार का उपबृंहण किया है? यह प्रश्न शेष रह जाता है, जिस प्रश्न का तात्पर्य्य यही है कि भगवान ने बुद्धियोगानुष्ठान को सफल बनाने के लिए किन किन रहस्यों-आदेशोपदेशों का निरूपण किया है? प्रश्न का समाधान गीतामूलभाष्य पर अवलम्बित है। प्रकृत में केवल बुद्धियोगानुगत उन विशेष दृष्टियों के नाम उद्धृत कर दिए जाते है—

(१) सारभूत वैराग्यबुद्धियोग स्वरूपविश्लेषण के सम्बन्ध में आर्षगीता ने जिन तात्त्विक पदार्थों का निरूपण किया है, उन्हें समष्टिरूप से क्रमशः १/२, २/४, ३/१०, ४/१६, ५/२४, ६/१६०, इन संख्याओं में विभक्त किया जा सकता है। गीता का मूलभूत अव्ययात्मा रसात्मक अमृततत्त्व तथा बलात्मक मृत्यतत्त्व, इन दो तत्त्वों से युक्त है, जैसाकि–'**अमृतं चैवं मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन**'[1] इत्यादि गीतावचन से प्रमाणित है। अव्यय का अमृतभाग सोपाधिक ज्ञान की आश्रयभूमि बनता हुआ **ब्रह्म**[1] है, एवं मृत्युभाग सोपाधिक क्रिया का आधार बनता हुआ **कर्म्म**[2] है। सोपाधिक-विश्वात्मक-किंवा विश्वान्तर्भुक्त ज्ञान-क्रिया (कर्म्म) उसी अव्यय का भौतिकरूप है एवं निरुपाधिक ज्ञान-क्रिया उसी अव्यय का दैविकरूप है। दैविक किंवा दिव्य ज्ञान-क्रिया ब्रह्म-कर्म्म नाम से व्यवहृत हुए हैं, इन्हीं के लिए–'**ब्रह्म कर्म्म च मे दिव्यम्**'–यह कहा गया है एवं भौतिक ज्ञान-क्रिया 'ज्ञान-क्रिया' नाम से ही व्यवहृत हुए हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण आर्षगीता अव्ययात्मा के ब्रह्म-कर्म्म, नामक रस-बलात्मक दो धातुओं का विश्लेषण मात्र है। इसी दृष्टिकोण से गीता को ब्रह्मविद्यात्मक योगशास्त्र माना गया है। ब्रह्मविद्या अमृतविद्या है, योगविद्या कर्म्मविद्या है मृत्युविद्या है। ब्रह्म का तात्त्विकस्वरूपज्ञान एवं कर्म्म का तात्त्विकस्वरूपज्ञान, यही आर्षगीता के मुख्य दो प्रतिपाद्य विषय हैं, जिनके परिज्ञान से सारभूत 'बुद्धियोग' तत्त्व विज्ञान बनता है। इसी दृष्टि से सम्पूर्ण गीताशास्त्र को विषयद्वयी-प्रतिपादक ग्रन्थ माना जा सकता है।

(२) चतुर्द्धा-विभागदृष्टि से आर्षगीता का समन्वय कीजिए। सारभूत बुद्धियोग 'योग' है, एवं बुद्धियोग प्रतिष्ठाभूत ब्रह्म 'विद्या' है। आत्मविद्या के आधार पर ही यह आत्मयोग प्रतिष्ठित है। इस आत्मविद्या की दृष्टि से सम्पूर्ण आर्षगीता में **वैराग्यविद्या**,[1] **ज्ञानविद्या**,[2] **ऐश्वर्य्यविद्या**,[3] **धर्म्मविद्या**,[4] इन चार विद्याओं का ही निरूपण हुआ है। इनमें वैराग्यविद्या आचार्य्य सम्बन्ध से **भगवद्विद्या** नाम से, शिष्यपरम्परा सम्बन्ध से **राजर्षिविद्या** नाम से, सनातन अव्ययात्मसम्बन्ध से **सनातनविद्या** नाम से भी प्रसिद्ध है। ज्ञानविद्या आचार्य्य सम्बन्ध से **सिद्धविद्या** कहलाई है। ऐश्वर्य्यविद्या शिष्यपरम्परासम्बन्ध

---

१ गीता ९।१९।

से **राजविद्या** कहलाई है। एवं धर्म्मविद्या शिष्यपरम्परा सम्बन्ध से **आर्षविद्या**, आचार्य्य सम्बन्ध से **हिरण्यगर्भविद्या** कहलाई है। पूर्व प्रदर्शित विज्ञानगीता की विषयतालिका में इसी विद्याचतुष्टयी को प्रधानता दी गई है। बुद्धियोगाधारभूत चार ब्रह्मविद्याओं का स्वरूप ज्ञान, ये ही आर्षगीता के मुख्य चार प्रतिपाद्य विषय हैं। इसी दृष्टि से सम्पूर्ण गीताशास्त्र को विषयचतुष्टयी का प्रतिपादक ग्रन्थ कहा जा सकता है।

(३) दशधा-विभागदृष्टि से आर्षगीता के प्रतिपाद्य विषय का समन्वय कीजिए। गीताशास्त्र के उपदेश का मुख्य उद्देश्य क्या है? दुःख से मानव को विमुक्त करना। दुःखानुभव भौतिक शरीर को होता है, अथवा भूतात्मा को? शरीरविशिष्ट भूतात्मा को। जिस शरीरी आत्मा को जो गीताशास्त्र दुःख से विमुक्त करना चाहता है, उस गीताशास्त्र का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि आत्मा के तात्त्विक स्वरूप का भी विश्लेषण करे। यही **आत्मविज्ञान**[1] नामक विषय गीता का एक प्रतिपाद्य विषय है। आत्मविज्ञान स्वरूप प्रतिपादन के सम्बन्ध में ही गीता को आत्मा के ब्रह्म-कर्म्म नामक अमृत-मृत्युधातुओं का भी स्वरूप विश्लेषण करना पड़ता है—यही **आत्मधातुविज्ञान**[2] नामक विषय गीता का दूसरा प्रतिपाद्य विषय है। आत्मा के रसात्मक ब्रह्मधातु के साथ विद्याचतुष्टयी का सम्बन्ध है। फलतः गीता को इस चातुर्विद्यरहस्य का भी प्रतिपादन करना पड़ता है। **चातुर्विद्यविज्ञान**[3] नामक विषय गीता का तीसरा प्रतिपाद्य विषय है। इस आत्मविद्या के द्वारा गीता भूतात्मा के स्वाभाविक शोक की निवृत्ति का उपाय बतला रही है। यही **शोकनिवारण**[4] नामक विषय गीता का चौथा प्रतिपाद्य विषय है। शोकनिवारण प्रसङ्ग में गीता जीवात्मा को उसके मूल प्रभव ईश्वरधर्म्म का बोध कराती है। यही—'**ईश्वरत्व**'[5] नामक विषय गीता का पांचवाँ प्रतिपाद्य विषय है। सुखानन्दमूला ईश्वरता के हटजाने से ही जीवात्मा शोकाकुल बना रहता है। इसी प्रसङ्ग को लेकर गीता ने शोक के मूलकारणों का भी स्वरूपविश्लेषण किया है। यही '**शोककारण**'[6] नामक विषय गीता का छठा प्रतिपाद्य विषय है शोककारणप्रसङ्ग में ही गीता आत्मा के विद्यानुगत आनन्दविज्ञानमन, कर्म्मानुगत मनःप्राणवाक्, इस वीर्य्यत्रयी का भी विश्लेषण करती है। यही **वीर्य्यत्रयीपरिचय**[7] नामक विषय गीता का सातवाँ प्रतिपाद्य विषय है। वीर्य्यत्रयी की स्वस्थता शोकनिवृत्ति है, एवं यह स्वस्थता बुद्धिद्वारा जीवात्मा के ईश्वराव्यय के साथ योग कर लेने पर ही सम्भव है। अतएव इसी प्रसङ्ग में गीता को इस **बुद्धियोग**[8] का भी स्वरूप बतलाना पड़ा है, जिसे गीता का आठवाँ प्रतिपाद्य विषय कहा जा सकता है। इस बुद्धियोग से आत्मा के धातु सम बन जाते हैं। यही **धातुसाम्य**[9] नामक विषय गीता का नवां प्रतिपाद्य विषय है। धातुसाम्य से आत्मा स्वप्रभवप्रतिष्ठा (अव्ययप्रतिष्ठा) में प्रतिष्ठित हो जाता है, और यही मानवजीवन की कृत-कृत्यता है। यही **प्रतिष्ठातत्त्वपरिचय**[10] नामक विषय गीता का दसवाँ प्रतिपाद्य विषय है। इस प्रकार इस दृष्टि से सम्पूर्ण गीताशास्त्र को विषयदशक प्रतिपादक ग्रन्थ माना जा सकता है।

(४) षोडशधा-विभाग दृष्टि से समन्वय कीजिए। राजर्षिविद्या-सिद्धविद्या-राजविद्या-आर्षविद्या-ये चार **आत्मविद्याएँ**[6], वैराग्यबुद्धियोग-ज्ञानबुद्धियोग-ऐश्वर्य्यबुद्धियोग-धर्म्मबुद्धियोग—ये चार **बुद्धियोग**[8],

अनासक्तिसाम्यवाद-निष्कामसाम्यवाद-यज्ञार्थसाम्यवाद-ईश्वरार्पण साम्यवाद–ये चार **साम्यवाद**[४],❀ वैराग्यबुद्धियोगानुगत अव्ययात्मदर्शन–ज्ञानबुद्धियोगानुगत अक्षरात्मदर्शन–ऐश्वर्य्यबुद्धियोगानुगत आत्मक्षरात्मदर्शन–धर्म्मबुद्धियोगानुगत क्षरात्मदर्शन, ये चार **आत्मदर्शन**[४], सम्भूय १६ विषयों का ही इस गीता शास्त्र में उपबृंहण हुआ है एवं इस दृष्टिकोण से सम्पूर्ण गीता शास्त्र को विषय षोडशी का प्रतिपादक ग्रन्थ कहा जा सकता है।

(५) चतुर्विंशतिधा-विभाग दृष्टि से विषय का समन्वय कीजिए। पूर्वप्रदर्शित तालिका में ऐतिहासिकगीतागर्भ में प्रतिष्ठित विज्ञानगीता के जिन ६ प्रकरणों का उल्लेख हुआ है, उन प्रकरणों में रहस्यसिद्धान्तविश्लेषणरूप २४ उपनिषदों का निरूपण हुआ है। 'विज्ञानगीतोपक्रम' नामक प्रथम प्रकरण में १ उपनिषत्, 'राजर्षिविद्या' नामक द्वितीय प्रकरण में ८ उपनिषत्, 'सिद्धविद्या' नामक तृतीयप्रकरणमें २ उपनिषत्, 'राजविद्या' नामक चतुर्थप्रकरण में ३ उपनिषत्, 'आर्षविद्या' नामक पञ्चम प्रकरण में ७ उपनिषत् एवं 'विज्ञानगीतोपसंहार' नामक छठे प्रकरण में ३ उपनिषत् प्रतिपादित हुई हैं। सम्भूय १/१-२/८-३/२-४/३-५/७-६/३ इस क्रम से ६ प्रकरणों में २४ उपनिषदें प्रतिपादित हुई हैं। इस दृष्टि से सम्पूर्ण गीताशास्त्र को चतुर्विंशतिविषय का प्रतिपादक शास्त्र कहा जा सकता है।

(६) अब सर्वान्त में षष्टिशतधा-विभाग दृष्टि से समन्वय और कर लीजिए। पूर्वोक्त विज्ञानगीता के ६ प्रकरणों में प्रासङ्गिक शिक्षात्मक १६० उपदेश हुए हैं। जिनका षट्प्रकरण क्रम से–१/२-२/५०-३/१९-४/३२-५/४९-६/८ यह क्रमविभाजन है। इस दृष्टि से सम्पूर्ण गीताशास्त्र को षष्ट्युत्तरशत विषय का प्रतिपादक ग्रन्थ माना जा सकता है।[१]

❀ जीवात्मसाम्यवाद भेद से यद्यपि गीता में पाँच साम्यवादों का निरूपण हुआ है। तथापि इस पाँचवें जीवात्मसाम्यवाद का चौथे ईश्वरार्पणसाम्यवाद में अन्तर्भाव मानकर चार भी साम्यवाद माने जा सकते हैं।

१ २४ उपनिषदों की तथा १६० उपदेशों की तालिका भूमिका-प्रथमखण्डान्तर्गत–'**विषयविभाग-प्रदर्शन**' नामक प्रकरण में (पृ० सं० १६८ से २१६ पर्य्यन्त) उद्धृत की जा चुकी है। विशेष जिज्ञासुओं को तत्प्रकरण देखना चाहिए।

सर्वसंग्रह :—

१–एकधा (१) ——→ ब्रह्मविद्यानुगत [1]बुद्धियोगशास्त्रम्

२–द्विधा (२) ——→ [1]ब्रह्म[2]कर्म्मरहस्यप्रतिपादकं शास्त्रम्

३–चतुर्द्धा (४) ——→ [1]राजर्षि-[2]सिद्ध-[3]राज-[4]आर्षविद्याप्रतिपादकं शास्त्रम्

४–दशधा (१०) ——→ [1]आत्म-[2]आत्मधातु-[3]चातुर्विद्य-[4]शोकनिवारण-[5]ईश्वरत्व-[6]शोक-कारण-[7]वीर्य्यत्रय-[8]बुद्धियोग-[9]धातुसाम्य-[10]प्रतिष्ठातत्त्वप्रति-पादकं शास्त्रम्

५–षोडशधा (१६) ——→ चतुर्द्धा-चतुर्द्धा विभक्त विद्या, योग, साम्यवाद, आत्म-दर्शन—प्रतिपादकं शास्त्रम्

६–चतुर्विंशतिधा (२४) ——→ २४ उपनिषन्निरूपकं शास्त्रम्

७–षष्टिशतधा (१६०) ——→ १६० उपदेशनिरूपकं शास्त्रम्

परिच्छेद प्रतिज्ञात आर्षश्रीकृष्ण, आर्षगीता एवं आर्षगीतासार परीक्षात्मिका प्रश्नत्रयी का यही संक्षिप्त विवेचन है। अब क्रमप्राप्त–'**आर्षगीता और उसकी सारात्मिका १० शिक्षाएँ** नामक परिच्छेद की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है—

सर्वसंग्रहात्मिका विषयतालिका :—

प्रकरणानि	उपनिषदः	उपदेशाः	अध्यायाः	श्लोकाः
१ चातुर्विद्योपक्रमः→	(१) १	२ (२)	१-२	५
२ राजर्षिविद्या →	(८) १ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८	७ ७ ७ ३ (५०) ३ ५ ६ ६	२-३-४-५-६	२२३
३ सिद्धविद्या →	(२) १ २	१० (१६) ६	७-८	५८
४ राजविद्या →	(३) १ २ ३	११ १५ (३२) ६	९-१०-११-१२	१५१
५ आर्षविद्या →	(७) १ २ ३ ४ ५ ६ ७	६ ५ ७ ४ (४६) २० २ २	१३-१४-१५-१६-१७-१८	१८६
६ चातुर्विद्योपसंहारः→	(३) १ २ ३	४ १ (८) ३	१८	१७
६	२४	१६०	१८	६४३

घ—आर्षगीता और उसकी सारात्मिका १० शिक्षाएँ—

आर्ष-प्रजानुगता गीतासारपरीक्षा प्रक्रान्त है। इसके प्रत्येक परिच्छेद के समन्वय के लिए प्रस्तावना में बतलाए गए मानवसमाज के दोनों परस्पर विभिन्न वर्गों को लक्ष्य में रखना अनिवार्य्य है। आर्षमानवप्रजा की दृष्टि में आत्मा प्रधान है, अनार्ष मानवप्रजा की दृष्टि में शरीर प्रधान है। अतएव आर्षमानव को आत्मदर्शी कहा जाएगा एवं अनार्षमानव को लोकदर्शी माना जाएगा। आत्मदर्शी आर्षमानव आर्षगीता का उपासक बनेगा एवं अनार्षमानव लोकबुद्धि का अनुगामी बनेगा। विचार चूँकि आर्षमानवानुगता आर्षगीता की सारपरीक्षा का प्रक्रान्त है, अतः प्रस्तुत परिच्छेद में उसी आर्षदृष्टि से गीता-शिक्षा की सारपरीक्षा प्रतिपादित हो रही है। आत्मदर्शी, दूसरे शब्दों में ऐहलौकिक शरीर सुखानुगतिपूर्वक आमुष्मिक आत्मानन्द-कामुक आर्षमानव को गीता क्या सिखा रही है? प्रस्तुत परिच्छेद इसी प्रश्न का समाधान कर रहा है। आत्मानन्द शिक्षण के लिए, साथ ही सर्वदुःखनिवृत्त्युपाय निरूपण के लिए प्रवृत्त आर्षगीताशास्त्र आर्षमानव को **आत्मयोग, आत्मा, आत्मधातु, धातुसाम्य, चातुर्योग, चातुर्विद्य, त्रिवीर्य्य, शोककारण, शोकनिवारण, ईश्वरसाधर्म्य,** इन १० विषयों की शिक्षा दे रहा है। सारात्मिका इन १० शिक्षाओं से शिक्षित आर्षमानव निश्चयेन ऐहलौकिक अभ्युदय-साधनपूर्वक पारलौकिक निःश्रेयस सम्पत्ति प्राप्त करने में समर्थ हो जाता है। आर्षगीता की ये १० शिक्षाएँ वेदानुगत वैज्ञानिक परिभाषाओं से सम्बन्ध रखती हैं, अतएव विना वेदशास्त्रतत्त्वपरिशीलन के सर्वसाधारण आर्षप्रजा केवल आर्षगीता के अक्षरों के आधार पर इन शिक्षाओं का स्वरूपबोध प्राप्त करने में असमर्थ है। ऐसी आर्षप्रजा जो व्यतिक्रम से गीताशास्त्र में प्रतिपादित वैदिकपरिभाषानुगत इन शिक्षाओं का बोध प्राप्त करने में असमर्थ है—के लिए ही प्रकृत परिच्छेद आवश्यक समझा गया है। तत्त्वदृष्टि से यह परिच्छेद प्रत्येक दशा में मननीय है एवं अनुगमनीय भी है, इसी मननानुगमन भावना को लक्ष्य बनाकर शिक्षाओं के क्रमिक स्वरूप प्रतिपादन पर दृष्टि डालिए—

१—आत्मयोगशिक्षा प्रथमा—

इस प्रथम शिक्षा में सम्पूर्ण गीताशास्त्र का सार अन्तर्गर्भित है। महामाया जहाँ विश्वेश्वर परमात्मा की स्वरूपसंग्राहिका है, वहाँ गुणमयी योगमाया जीवात्मा की जननी बनती है। योगमाया से सम्बन्ध रखने वाले सत्त्व (मलिनसत्त्व)—रजस्तमोगुणों के कारण जीवात्मा अपने प्रभवभूत सत्त्व-मूर्त्ति (शुद्धसत्त्वमूर्त्ति) परमात्मा के स्वाभाविक (अनुकूल) योग से वञ्चित रहता है। इस परमात्मयोग के वञ्चित रह जाने से जीवात्मा अपनी गुणमयी प्रकृति के पाश में बद्ध रहता हुआ प्राकृतिकद्वन्द्वों को सहने में असमर्थ बनता हुआ शोकसंविग्न मानस रहता है। गुणत्रयानुगति के अतिरिक्त जीवात्मा अपने प्रतिस्विकस्वरूप से अर्द्धाकाशसम्पत्ति से उत्पन्न होने के कारण अर्द्धेन्दु, अतएव अपूर्ण है। इस अपूर्णता के अतिरिक्त जन्म जन्मान्तरीय—शुभाशुभ सञ्चित भावना-वासनासंस्कार, मातृ-पितृ सम्बन्धी गुणधर्म्म, देशदोष, अन्नदोष, कालदोष, नाड़ीदोष, शिक्षादोष, सङ्गदोष, आदि आदि अनेकविध दोषों के अनुग्रह से जीवात्मा सर्वथा अल्पज्ञ-अल्पशक्ति-अल्पवित् बना रहता है। इसी अल्पता के कारण इसका

बुद्धिभाग स्वभावतः विश्वानुगत अविद्यासंस्कारों से युक्त रहता हुआ अविद्यात्मक बना रहता है। इस अविद्याबुद्धि के प्रभाव से कर्म्मसाधक इन्द्रियाधिष्ठाता पार्थिक मन स्वभावतः प्रबल बना रहता है। मनःप्राबल्य से जीवात्मा की आत्मदर्शन जिज्ञासा लुप्त रहती है, विश्वदर्शन-कामुकता उद्बुद्ध रहती है। इस तमोगुणप्रधान विश्वदर्शन से जीवात्मा अधिकाधिक तमोगुणात्मक भौतिक-आवरक संस्कारों से युक्त होता हुआ उसी प्रकार अपना रहा-सहा भी आत्मप्रकाश खो बैठता है, जैसे मेघावरण से रहता हुआ भी सौरप्रकाश आवृत हो जाता है। आत्मप्रकाश से वञ्चित जीवात्मा केवल पराङ्मुख बनता हुआ इन्द्रियदासानुदास बनकर शान्ति के स्थान में अशान्ति का ही संग्रह किया करता है। और यों यह ईश्वर की सर्वश्रेष्ठ विभूति मानव अविद्याबुद्धियोगजनित आवरण से शोकसंत्रस्त बना रहता है। मानव को इस शोकसंत्रास से बचाने के लिए ही गीताशास्त्र प्रवृत्त हुआ है। यही गीताशास्त्र का मुख्य उद्देश्य है।

'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय'[1]—इत्यादि यजुःश्रुति के अनुसार इस शोक-त्राण का एकमात्र उपाय है 'आत्मयोग'। यही आत्मयोग दर्शनभाषा में आत्मसाक्षात्कार नाम से व्यवहृत हुआ है। विना आत्मसाक्षात्कार के अन्य किसी भी उपाय से मानव शाश्वत् शान्ति प्राप्त नहीं कर सकता।[2] आत्मसाक्षात्कार का अर्थ है आत्मा के साथ आत्मा का योग, जिस स्थिति का—**'उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानम्'**[3] रूप से विश्लेषण हुआ है। अध्यात्मसंस्थायुक्त ईश्वराव्ययात्मा के साथ जीवात्मा का योग हो जाना ही आत्मसाक्षात्कार है। क्या यथाजातदशा में जीवात्मा का इस अन्तर्य्यामी के साथ योग नहीं है? है और अवश्य है। परन्तु यह योग जीव के पूर्वोक्त अविद्यादोष से अनुकूल न रहकर प्रतिकूल बना रहता है। इसी आधार पर आर्षप्रजा की यह मान्यता चली आ रही है कि विधि के प्रतिकूल होने पर ही दुःख मिलता है। इस प्रतिकूलता का विज्ञानदृष्टि से केवल यही अर्थ है कि बुद्धि द्वारा जीवात्मा के साथ युक्त रहने वाला अव्ययात्मप्रकाश (सत्त्वज्ञान) संस्कारावरण से अविद्याग्रस्त बनी हुई बुद्धि के कारण उसी प्रकार अविद्यामय बन रहा है, जैसे कि काले दर्पण से इस ओर आने वाला स्वस्वरूप से श्वेत भी सूर्य्यप्रकाश काला बना रहता है। इसी आधार पर आर्षप्रजा की मान्यता है कि 'अच्छा-बुरा-सबकुछ ईश्वरेच्छा पर ही अवलम्बित है। प्रकृत स्थिति से बतलाना यही है कि जब तक बुद्धिगत अविद्यावरण नहीं हट जाता, तब तक अन्य प्रयत्नसहस्रों से भी अव्ययात्मा के शुद्ध-सात्त्विक-निर्म्मल ज्ञानप्रकाश का जीवात्मा के साथ योग नहीं हो सकता। और यही स्थिति कामकामी विषयासक्त-बाह्यदृष्टिपरायण जीवात्मा की 'अयुक्त' दशा कहलाई है। ऐसे यथाजात (प्राकृत) शास्त्रोपदेशशून्य जीवात्मा की बुद्धि कुण्ठित रहती है, थोड़े से द्वन्द्वाक्रमण से वह हतबुद्धि (स्तब्ध) हो

१ यजुर्वेद ३१।१८।

२ "यदा चर्म्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः।
तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति"॥ श्वेता० उप० ६।२०।

३ गीता ६।५।

जाता है, अपने इसके स्वभाव में निष्ठुरता-शठता-दम्भ-विषाद-दीर्घसूत्रता आलस्य आदि का समावेश रहता है।[1] युक्त-अयुक्त मानवों की इसी स्थिति का यों स्पष्टीकरण हुआ हैं—

"युक्तः कर्म्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम् ।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते" ।।[2]

आवश्यक है कि, शोकात्यन्त निवृत्ति के लिए बुद्धिभुक्त अविद्यावरण को हटाया जाय। कैसे यह आवरण हटे ? इसी प्रश्न के समाधान के लिए गीताशास्त्र ने 'आत्मयोग' का विश्लेषण किया है। 'आत्मयोग' शब्द में 'आत्मा-योग' इन दो शब्दों का समावेश है, जिनके द्वारा अव्ययात्मा की ब्रह्म, तथा योगविभूति की ओर सङ्केत हुआ है। इन दोनों लक्ष्यों की पूर्त्ति के लिए गीता ने आत्मा (ब्रह्म), और तदनुगत योग, दोनों का सविस्तार प्रतिपादन किया है। आत्मस्वरूपप्रतिपादन विद्यास्वरूपनिर्वचन है, एवं योगस्वरूपप्रतिपादन बुद्धियोगस्वरूपनिर्वचन है। अव्ययात्मा का विद्यात्मक ब्रह्मभाग अव्यय, अव्यययुक्त अक्षर, अक्षर, अक्षरयुक्त आत्मक्षर भेद से चतुष्पात् है। फलतः ब्रह्म के चार विवर्त्त हो जाते हैं। अतएव ब्रह्मविद्या चार भागों में विभक्त हो जाती है। इन चार ब्रह्मविद्याओं के भेद से अव्ययात्मा के कर्म्मात्मिक योगभाग के भी चार ही विवर्त्त हो जाते हैं। इस प्रकार-चार आत्मा, चार योग, इस रूप से अविद्यानिवर्त्तक 'आत्मयोग' आठ भागों में विभक्त हो जाता है। आत्मविभूति विद्याचतुष्टयी है। योग विभूति कर्म्मचतुष्टयी है। विद्याचतुष्टयी अव्ययात्मा के रसात्मक ब्रह्म भाग से, तथा योगचतुष्टयी अव्ययात्मा के बलात्मक कर्म्मभाग से अनुगृहीत है। आत्मानुगता इस योग चतुष्टयी के अनुष्ठान से ही बुद्धिभुक्त अविद्यावरण की निवृत्ति होती है। इस अविद्यावरण के हटते ही मेघापाये सूर्य्यवत् अव्ययात्मा के अनुकूल योग का बुद्धि द्वारा जीवात्मा के साथ सम्बन्ध हो जाता है। यही जीवात्मा का अव्ययात्मा के साथ योग है, यही आत्मसाक्षात्काररलक्षण 'आत्मयोग' है, जिसका प्रतिपादन करता हुआ गीताशास्त्र आत्मानुगता विद्याचतुष्टयी सम्बन्ध से एक ओर जहाँ ब्रह्मविद्याशास्त्र बन रहा है, वहाँ योगानुगता बुद्धियोगचतुष्टयी सम्बन्ध से-यह शास्त्र 'योगशास्त्र' बन रहा है। ब्रह्मविद्या का विश्लेषण आत्मस्वरूप विश्लेषण है, योग का विश्लेषण बुद्धियोगस्वरूप विश्लेषण है। यही आत्मा और योग की समष्टि रूप 'आत्मयोग' नाम की प्रधान शिक्षा है, जिसे इसी प्रधानता के कारण प्रकृत परिच्छेद में हमने प्रथम स्थान दिया है।

२-आत्मशिक्षा द्वितीया-

'आत्मयोग' नाम की शिक्षा गीताशास्त्र की मूल शिक्षा है। आगे प्रतिपादित होने वाली नवों शिक्षाएँ इसी आत्मयोग-शिक्षा के मूलरूपमात्र हैं एवं इसी दृष्टि से नवों शिक्षाओं का समन्वय अभीष्ट है। क्रमप्राप्त दूसरी आत्मशिक्षा का तात्पर्य्य है—आत्मयोगशिक्षा से सम्बन्ध रखने वाले आत्मपदार्थ

---

१ "अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः ।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते" ।।गीता १८।२८ ।

२ गीता ५।१२ ।

का स्वरूप विश्लेषण । यद्यपि गीताचार्य्य आर्षश्रीकृष्ण का अपना सिद्धान्त राजर्षिविद्यानुगत 'वैराग्य-बुद्धियोग' ही है एवं इस वैराग्यबुद्धियोग की दृष्टि से आर्षगीता का मुख्य प्रतिपाद्य आत्मा 'अव्ययात्मा' ही है, तथापि आर्षगीता ने चूंकि लोकसंग्रह के लिए लोकप्रचलित ज्ञान-भक्ति-कर्म्मयोगों का बुद्धियोग सम्पत्तिप्रदान द्वारा ज्ञानबुद्धियोग-ऐश्वर्य्यबुद्धियोग-धर्म्मबुद्धियोग रूप से संग्रह कर लिया है, अतः गौणरूप से इस योगत्रयी से सम्बन्ध रखने वाले क्रमशः अव्ययगर्भित अक्षरात्मा, अक्षरात्मा, अक्षरगर्भितात्मक्षरात्मा, इन तीनों प्राकृतात्माओं का भी निरूपण करना पड़ता है और इसी दृष्टि से कहा जा सकता है कि गीता का आत्मपदार्थ परात्पर भिन्न अव्यय, अक्षर, आत्मक्षर समष्टिरूप षोडशीपुरुष ही है, जो उपनिषदों में 'अश्वत्थब्रह्म' नाम से व्यवहृत हुआ है ।

प्रथमशिक्षा में यह स्पष्ट किया गया है कि आत्मा के अनुकूल योग से वञ्चित रहने के कारण ही जीवात्मा शोकसंत्रस्त बना रहता है । इससे यह भी सिद्ध हो जाता है कि, विद्याबुद्धियोगानुष्ठान पूर्वक आत्मस्वरूपज्ञान ही–जो दर्शन भाषा में 'स्वात्मावबोधन' कहलाया है–शोकनिवृत्ति का मुख्य हेतु है । साम्प्रदायिक दृष्टिकोण के अनुग्रह से आत्मस्वरूप आज आर्षप्रजा के लिए एक महा विभीषिका बन रहा है । आत्मस्वरूप की यथार्थस्वरूपप्रतिपत्ति से वञ्चित रहने के कारण ही आज न केवल मुक्तिक्षेत्रों में हीं, अपि तु, भुक्तिक्षेत्रों में भी पदे पदे आर्षप्रजा संदिग्ध बन रही है । कोई कहता है–यदि आत्मा अजर अमर है, तो जन्म कौन लेता है ? किसी का कहना है कि यदि आत्मा सच्चिदानन्दघन है, तो जीव दुःखी क्यों रहता है ? किसी के उद्‌गार हैं कि यदि आत्मा साक्षात् ब्रह्म है, और वही ईश्वर है एवं उसी की प्रेरणा से अच्छा-बुरा सब कुछ होता है, तो फिर जीव को कर्म्मदण्ड क्यों भोगना पड़ता है ? किसी का प्रश्न होता है कि यदि आत्मा व्यापक है, तो लोकान्तर में गमनागमन कौन करता है एवं किसके लिए और्ध्वदैहिककर्म्म (श्राद्धादि) किए जाते हैं ? कोई पूछता है कि कर्म्मानुसार आत्मा पूर्वशरीर छोडने के अव्यवहितोत्तर काल में ही अन्य शरीर (योनि) धारण कर लेता है, तो फिर श्राद्ध किस आत्मा के लिए किया जाता है ? इस प्रकार आत्मस्वरूप याथातथ्याभाव से आज आर्षप्रजा पदे पदे संदिहान है । दार्शनिकों ने आत्मस्वरूप के सम्बन्ध में जो मीमांसा की है, वह भी विज्ञानसम्मत आत्मस्वरूप ज्ञान के विना संशयनिवृत्ति के स्थान में संशयप्रवृत्ति का ही कारण बन रहा है । लोकदृष्टि के अनुसार कहीं शरीर को ही आत्मा माना जा रहा है, तो कहीं मन को ही आत्मधर्म्मों से विभूषित किया जा रहा है । किसी की दृष्टि में बुद्धितत्त्व ने आत्मस्थान घेर रक्खा है, तो कोई पारमेष्ठ्य महान् को ही मुख्य आत्मा बतला रहा है । किसी के लिए भूतानुगता अर्थशक्ति, प्राणानुगता क्रियाशक्ति, चेतनानुगता ज्ञानशक्ति, इन तीनों शक्तियों की समष्टि ही आत्मा बना हुआ है । इस प्रकार आत्मा के सम्बन्ध में वैज्ञानिक दृष्टिकोणों के लुप्तप्राय हो जाने से आज आर्षप्रजा–'इदमित्थमेव' इस निश्चयात्मक प्रत्यय से वञ्चित हो रही है । इस वञ्चना के फलस्वरूप पदे पदे प्रज्ञापराध हो रहा है, प्रज्ञापराधवश आत्मा अनात्मा माना जा रहा है, अनात्मा आत्मा माना जा रहा है । अनात्मभावों के संरक्षण में व्यग्र आज की आर्षप्रजा आत्मदेवता की उपेक्षा कर प्रज्ञापराधवश–अपना सर्वनाश करा रही है । यही स्थिति आज गीताशास्त्र की हो रही है । व्याख्यादोष से, तथा साम्प्रदायिक दृष्टिकोण के अनुग्रह से विशुद्ध विज्ञानप्रधान गीताशास्त्र भी आज एक साम्प्रदायिक ग्रन्थ बनता हुआ अपने निश्चया-

त्मक आत्मस्वरूप से बञ्चित हो रहा है। उदाहरण के लिए–'**उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानम्**' वाक्य को ही लक्ष्य बनाइए। सर्वसाधारण ने आज इस वाक्य में पठित 'आत्मना-आत्मानम्' को अभिन्नार्थक मान रक्खा है। '**योगारूढो भूत्वा आत्मानं स्वं स्वयमेव संसारसागरादुद्धरेदित्यर्थः**'–अर्थ करने वाले दार्शनिक व्याख्याताओं ने यह विचार न किया कि, मोहगर्त्तपतित जीवात्मा अन्याश्रय के बिना स्वयं अपना उद्धार कैसे कर सकता है। '**तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्**'–इत्यादिरूप से अन्यत्र स्वयं गीताशास्त्र ने जब यह स्पष्ट कर दिया है कि, मोहगर्त्त का उद्धार ईश्वरीय शक्ति प्रदान पर ही निर्भर है, जो यहाँ व्याख्याता को 'स्वयं' का भान कैसे हो पड़ा ? यह उन्हीं से पूछना चाहिए। यथार्थ परिस्थिति तो यह है कि उन्हें यह विदित ही नहीं है कि, आत्मा का वास्तविक स्वरूप क्या है ? 'आत्मना'–यह तृतीयान्त पद जहाँ अध्यात्मस्थ अन्तर्य्यामी का निरूपक है, वहाँ 'आत्मानम्'–यह द्वितीयान्त पद जीवात्मा का वाचक है। '**ईश्वरात्मना बुद्धियोगद्वारा जीवात्मानमुद्धरेत्**' यही स्पष्ट एवं विज्ञानसिद्ध तात्पर्य्य है – निदर्शनमात्र है। ऐसे शतशः स्थल उद्धृत किए जा सकते हैं, जिनका आत्मस्वरूप ज्ञानाभाव से यों ही अस्तव्यस्त समन्वय हुआ है और ऐसी व्याख्याओं की भक्त आर्षप्रजा ने प्रज्ञापराधवश कल्पित पथों का आश्रय ले अपने आपको लक्ष्यच्युत बनाया है। इस लक्ष्यच्युति से त्राण पाने का एकमात्र उपाय है विज्ञानसम्मत आत्मस्वरूप-परिचय प्राप्त करना, जिसका गीता में व्यतिक्रम से विस्तार से विश्लेषण हुआ है।

अखण्डात्मा जहाँ एक है, वहाँ सोपाधिक खण्डात्मा अनेक हैं। अखण्डात्मस्वरूपबोध के लिए खण्डात्मविवर्त्तों का स्वरूपज्ञान प्राप्त करना अनिवार्य्य है और गीता ने अपने लक्ष्यीभूत अखण्डात्मा के साथ साथ विज्ञानसम्मत उन सब खण्डात्माओं का भी विस्पष्ट निरूपण किया है। अखण्डात्मा का क्या स्वरूप है ? खण्डात्मा कितने हैं ? किस खण्डात्मा का क्या कार्य्य है ? विज्ञानदृष्ट्या आत्मा का क्या स्वरूप है ? दर्शनदृष्ट्या आत्मा का क्या स्वरूप है ? आत्मस्वरूप सम्बन्धी इन सब प्रश्नों का इस छोटे से परिच्छेद में समाधान करना असम्भव था, अतएव इसके लिए हमें 'आत्मपरीक्षा' नाम से गीताभूमिका का एक स्वतन्त्र खण्ड लिखना पड़ा है। अन्तरङ्गपरीक्षात्मक द्वितीयखण्ड के 'क' विभागात्मक आत्मपरीक्षा नामक गीताभूमिकाखण्ड में केवल आत्मस्वरूप का ही विस्तार से विश्लेषण हुआ है। विशेष जिज्ञासा रखने वालों से निवेदन करेंगे कि वे इस 'आत्मशिक्षा' के वास्तविक स्वरूपपरिचय के लिए उस खण्ड का अवश्य अवलोकन करें। चूंकि सारपरीक्षात्मक इस अन्तिम खण्ड में सर्वविषय दिग्दर्शन प्रतिज्ञात है, अतएव सन्दर्भसङ्गति के लिए यहाँ उन आत्मविवर्त्तों के नाममात्र उद्धृत कर दिए जाते हैं, जिनके आधार पर आत्मशिक्षा का भलीभाँति अनुमान लगाया जा सकता है।

'**प्रजापतिस्त्वेवेदं सर्वमसृजत यदिदं किञ्च**'[1]–इत्यादि ब्राह्मणवचन के अनुसार भौतिक विश्वप्रपञ्च 'प्रजापति' की सत्ता से आक्रान्त है। '**यस्मादन्यो न परो अस्तिजातः**'[2]–इत्यादि श्रुतिद्वारा उपवर्णित षोडशीपुरुष ही वह प्रजापति है, जो सर्वत्र व्याप्त है। प्रत्यक्ष दृष्ट चेतन-अर्द्ध-

---

१ शत० ब्रा० ६।१।२।११। २ यजुर्वेद ८।३६।

चेतन-अचेतन पदार्थ यज्ञात्मक हैं एवं इन यज्ञात्मक यच्चयावत् पदार्थों का आलम्बन 'सत्यप्रजापति' नामक षोडशीपुरुष ही है, जिसके लिए **एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम्'**[1]–यह कहा गया है। इस यज्ञात्मक विश्वप्रपञ्च के द्वारा ही सत्यप्रजापति विश्व में वितत होता है, जैसाकि–**'यज्ञं कृत्वा सत्यं तनवामहै'**–इत्यादि ब्राह्मण–वचन से प्रमाणित है। यज्ञात्मक विश्व उस सत्यप्रजापति का शरीर है, एवं सत्यप्रजापति इस शरीर का आत्मा बनता हुआ विश्वेश्वर है। विश्वेश्वर सत्य-प्रजापति अपने इस यज्ञात्मक विश्वसम्बन्ध से अमृत-मृत्युमय बन रहा है। षोडशी-सत्यप्रजापति अमृतात्मा है, यज्ञात्मक पाञ्चभौतिक विश्व इस अमृतात्मा का मर्त्य शरीर है। इसी आधार पर **'अर्द्धं ह वै प्रजापतेरात्मनो मर्त्यमासीदर्द्धममृतम्'**[2] यह निगम प्रतिष्ठित है। विश्वातीत, निष्कल-निरञ्जन-सर्वबलविशिष्टरसैकघन, अमात्र परात्परतत्त्व ही मायादिषट्परिग्रहों के सम्बन्ध से मायी-प्रजापति, सकलप्रजापति, सगुणप्रजापति, सविकारप्रजापति, साञ्जनप्रजापति, सावरणप्रजापति भेदेन आत्मा के ये ६ विवर्त्त हो जाते हैं, जिनका भक्तियोगपरीक्षा-पूर्वोत्तरखण्डों में विस्तार से निरूपण किया जा चुका है। माया-कला-गुण-विकार-अञ्जन-आवरण–इन ६ परिग्रहों के सम्बन्ध से ही वह एक ही आत्मतत्त्व उक्त ६ संस्थाओं में परिणत हुआ है। इन ६ संस्थाओं में आरम्भ की संस्थात्रयी (मायी-सकल-सगुण) अमृतप्रधाना है, तीनों मिलकर विश्वात्मलक्षणा एक सत्यप्रजापतिसंस्था है एवं उत्तर-संस्थात्रयी (विकार-अञ्जन-आवरण) मृत्युप्रधाना है, तीनों मिलकर विश्वलक्षणा एक यज्ञप्रजापति–संस्था है। इस प्रकार अमृत-मृत्युभेद से ६ प्राजापत्य संस्थाओं का सत्यसंस्था, यज्ञसंस्था–रूप से दो संस्थाओं में अन्तर्भाव हो रहा है। संस्थात्रयीरूप सत्यप्रजापति 'ब्रह्म' (मौलिकतत्त्व-फिजिक्स) है, संस्थात्रयीरूप यज्ञप्रजापति 'यज्ञ' (यौगिकतत्त्व-केमेस्ट्री) है। मौलिकतत्त्वों के रासायनिक सम्मिश्रण से (मौलिकतत्त्वगर्भित रासायनिक संयोगयोग्य बलों की चिति से) ही यौगिकतत्त्वों का वितान हुआ है। तभी तो श्रुति का पूर्वोद्धृत–**'यज्ञं कृत्वा सत्यं तनवामहै'** वचन चरितार्थ होता है।

मायोपाधियुक्त मायीप्रजापति विशुद्ध अव्ययात्मा है, कलोपाधियुक्त सकलप्रजापति मायीगर्भित-पराप्रकृतिलक्षण अक्षरात्मा है, गुणोपाधियुक्त सगुणप्रजापति मायी-सकलगर्भित आत्मक्षरात्मा है। विश्वातीत एककल, किंवा निष्कल परात्पराभिन्न पञ्चकल मायी अव्यय, तद्गर्भीभूत पञ्चकल सकल-अक्षर, तद्गर्भीभूत पञ्चकल सगुण आत्मक्षर, इन चारों की समष्टि ही सत्यप्रजापतिलक्षण आत्मा है, यही षोडशी प्रजापति है, यही विश्वेश्वर-विश्वात्मा है। यही आत्मानामक प्रथमपर्व है, जिसे हम 'अमृतपर्व' कहेंगे। यहाँ केवल भावानुगत त्रित्त्व का साम्राज्य है, अतएव सत्तानुगतत्रित्त्वापेक्षया इस भावानुगत त्रित्त्व को हम त्रित्त्व न कहकर एकत्त्व ही कहेंगे, और परात्पर से आरम्भ कर आत्मक्षर–पर्य्यन्त भावाद्वैतमूलक एक ही आत्मसत्ता स्वीकार करेंगे, जिसे–**'आत्मा उ एकः सन्नेतत् त्रयम्, त्रयं-सदयमेक आत्मा'**[3] इत्यादि ब्राह्मणश्रुति का समर्थन प्राप्त है।

अब दूसरी यज्ञसंस्था का विचार कीजिए। सत्यसंस्थावत् यज्ञसंस्था में भी विकार-अञ्जन-

१ कठोप० १।२।१७। २ शत० ब्रा० १०।१।३।२। ५ शत० ब्रा० १४।४।४।३।

आवरण—इन तीन संस्थाओं का अन्तर्भाव बतलाया गया है। यहाँ का त्रित्व सत्तात्मक है और इस सत्तात्मक त्रित्व का कारण है मृत्युतत्त्व का प्राधान्य। अमृततत्त्व जहाँ एकत्व का–अभिन्न सत्ता का संग्राहक है वहाँ मृत्यु तत्त्व नानात्व का—भिन्न सत्ता का प्रवर्त्तक माना गया है, जैसा कि–'**मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति**'[1] इत्यादि उपनिषत्-श्रुति से प्रमाणित है। अतएव सत्यात्मसंस्था अमृतप्रधानता से मायी-सकल-सगुण–तीन भावों के रहते भी जहाँ एक ही मानी गई थी, वहाँ यह यज्ञात्मसंस्था मृत्युप्रधानता से सविकार-साञ्जन-सगुणभावों के कारण तीन भागों में विभक्त मानी जाएगी एवं यज्ञात्मक मर्त्यविश्वनिबन्धन एवं उक्त तीन मृत्युप्रधान तत्त्वों को लक्ष्य बनाकर ही–'**तिस्रो मात्रा मृत्युमत्यः प्रयुक्ताः**'[2]–यह अनुगमश्रुति प्रवृत्त हुई है। इसे अनुगम-श्रुति इसलिए कहा गया है कि इसका यज्ञसंस्थावत् सत्यसंस्था के साथ भी समन्वय हो रहा है। यह ठीक है कि यज्ञात्मानुगत तीनों मृत्युभावों की अपेक्षा त्रिमूर्त्ति सत्यात्मा अमृतात्मा है, और वह एक है। परन्तु स्वयं सत्यात्मा के पर्वों की परस्परापेक्षा से उसमें भी अमृत-मृत्यु, दोनों भावों का भाव स्वीकार करना पड़ता है। अन्तर दोनों संस्थाओं के त्रित्व में केवल यही है कि, यज्ञसंस्था का त्रित्व मृत्युप्रधानता से सत्तासिद्ध है, एवं सत्यसंस्था का त्रित्व अमृतप्रधानता से भातिसिद्ध है। सत्यसंस्था में परात्पर अमृत है, तदपेक्षया मायी अव्यय, सकल-अक्षर, सगुण आत्मक्षर, तीनों मृत्युमती मात्राएँ हैं, और यों सत्यात्मसंस्था में भी '**तिस्रो मात्रा मृत्युमत्यः प्रयुक्ताः**'–श्रुति चरितार्थ होती हुई अपनी अनुगम-मर्य्यादा प्रमाणित कर रही है। इस अनुगम–मर्य्यादा की दृष्टि से ही सत्यात्मरूप आत्मा, यज्ञरूपविश्व, दोनों के समष्टि-व्यष्टिलक्षण तीन प्रणव हो जाते हैं, जिनका भी प्रसङ्गवश दिग्दर्शन करा दिया जाता है।

परात्पर अर्द्धमात्रा है, मायी अव्यय अकार है, सकल अक्षर उकार है, सगुण आत्मक्षर मकार है, समष्टि ओङ्कार है, यही सत्यात्मानुगत व्यष्टिलक्षण प्रथम प्रणव है। परात्पर-अव्यय-अक्षरगर्भित सगुण आत्मक्षर अर्द्धमात्रा है, सविकार पञ्चविकारक्षर अकार है, साञ्जन पञ्चपुरञ्जन उकार है, सावरण पञ्चपुर मकार है, समष्टि ओङ्कार है, यही यज्ञात्मानुगत व्यष्टिलक्षण द्वितीय प्रणव है। परात्पर-अव्यय-अक्षर-आत्मक्षरसमष्टिरूप सत्यषोडशी प्रजापति (आत्मा) अर्द्धमात्रा है, विकार-पुरञ्जन -पुर–तीनों क्रमशः अकार-उकार-मकार हैं, समष्टि ओङ्कार है, यही आत्मा तथा विश्व समष्टि-अनुगत समष्टि-लक्षण तृतीय प्रणव है। यदि और भी सूक्ष्म मीमांसा की जाती है, तो परात्पर को छोड़कर–प्रजापति के मायी-सकल-सगुण-सविकार-साञ्जन-सावरण–इन ६ओं विवर्त्तों में (प्रत्येक में) स्व-स्व पर्व-भेद से चतुष्पात्-प्रणव का उपभोग सिद्ध हो रहा है। यही तो विज्ञानानुगता आत्मपरीक्षा-आत्मशिक्षा का वह रहस्यात्मक वैज्ञानिक विश्लेषण है, जिसे न जानने के कारण आत्मस्वरूप आज संशयास्पद बना हुआ है। पूर्वप्रतिपादित विषय का आगे की तालिका से भलीभाँति स्पष्टीकरण हो जाता है—

१ कठोप० २।४।१०। २ प्रश्नोप० ५।६।

आत्मशरीरविशिष्टः-प्रजापतिर्विश्वेश्वरः-आत्मन्वी
'प्रजापतिस्त्वेवेदं सर्वमसृजत यदिदं किञ्च'

सर्वबलविशिष्ट रसैकघनोऽखण्डः परात्परः–विश्वातीतः

↓

(१) १–मायोपाधियुक्तः—मायी प्रजापतिः (अव्ययः)

(२) २–कलोपाधियुक्तः–सकलः प्रजापतिः (अक्षरः)

(३) ३–गुणोपाधियुक्तः–सगुणः प्रजापतिः (आत्मक्षरः)

→ **सत्यप्रजापतिः (आत्मा) १**

---

(४) १–विकारोपाधियुक्तः-सविकारः प्रजापतिः (विकारक्षरः)

(५) २–अञ्जनोपाधियुक्तः–साञ्जनः प्रजापतिः (पुरञ्जनाः)

(६) ३–आवरणोपाधियुक्तः–सावरणः प्रजापतिः (पुराणि)

→ **यज्ञप्रजापतिः (विश्वम्) २**



(१) व्यष्टिलक्षणः–आत्मानुगतः प्रणवः—

परात्परः- मायातीतः →अर्द्धमात्रा

१ – अव्ययः—— मायी →अकारः

२ – अक्षरः— —सकलः →उकारः

३ – आत्मक्षरः —सगुणः →मकारः

स एष सत्यप्रजापतिर्विश्वात्मा
'तस्य वाचकः–प्रणवः'

---

(२) व्यष्टिलक्षणः–विश्वानुगतः प्रणवः—

परात्पराव्ययाक्षरगर्भितः-आत्मक्षरः →अर्द्धमात्रा

१ – विकारक्षरः →अकारः

२ – विश्वसृट्-पञ्चजन-गर्भितः पञ्चजनः →उकारः

३ – सर्वगर्भितानि पुराणि →मकारः

स एष यज्ञप्रजापतिर्विश्वम्
'तस्यापि वाचकः-प्रणवः'

---

(३) समष्टिलक्षणः–सर्वानुगतः प्रणवः—

परात्पराव्ययाक्षरात्मक्षरमूर्त्तिः	षोडशीप्रजापतिरात्मा	→अर्द्धमात्रा	स एष सर्वप्रजापतिः सर्वम् । 'तस्य वाचकः–प्रणवः'
१ – विकारक्षरः-	सविकारप्रजापतिः	→अकारः	
२ – पञ्जजनः-	साञ्जनप्रजापतिः	→उकारः	
३ – पुरम्-	सावरणप्रजापतिः	→मकारः	

(४) महामायावच्छिन्नमायीप्रजापतिरनुगतः प्रणवः—(१)

मायातीतः परात्परः		→अर्द्धमात्रा	स एष मायीप्रजापतिरव्ययः–प्रणवमूर्त्तिः
१ – आनन्दविज्ञानघनोऽव्ययात्मा मायी	(विद्याव्ययः)	→अकारः	
२ – मनोघनोऽव्ययात्मा मायी	(उभयाव्ययः)	→उकारः	
३ – प्राणवाग्घनोऽव्ययात्मा मायी	(कर्म्माव्ययः)	→मकारः	

(५) कलापरिग्रहावच्छिन्नसकलप्रजापतिरनुगतः प्रणवः—(२)

परात्परगर्भितः	पञ्चकलोऽव्ययपुरुषः	→अर्द्धमात्रा	स एष सकलः प्रजापतिरक्षरः–प्रणवमूर्त्तिः
१ – अमृतलक्षणब्रह्मा-विष्णवक्षरौ	सकलौ	→अकारः	
२ – अमृतलक्षणेन्द्राक्षरः	सकलः	→उकारः	
३ – अमृतलक्षणाग्निषोमाक्षरौ	सकलौ	→मकारः	

(६) गुणपरिग्रहावच्छिन्नसगुणप्रजापतिरनुगतः प्रणवः--(३)

परात्पराव्ययगर्भितः	पञ्चकालोऽक्षरः	→अर्द्धमात्रा	स एष सगुणप्रजापतिरात्मक्षरः-प्रणवमूर्त्तिः
१ – मृत्युलक्षणब्रह्म-विष्णवात्मक्षरौ	सगुणौ	→अकारः	
२ – मृत्युलक्षणेन्द्रात्मक्षरः	सगुणः	→उकारः	
३ – मृत्युलक्षणाग्निषोमात्मक्षरौ	सगुणौ	→मकारः	

(७) विकारपरिग्रहावच्छिन्नसविकारप्रजापतिरनुगतः प्रणवः (४)

परात्पराव्ययाक्षरगर्भितः पञ्चकलः- आत्मक्षरः		→अर्द्धमात्रा	स एष सविकार-प्रजापतिर्विकारक्षरः-प्रणवमूर्त्तिः
१ – अपञ्चीकृतप्राणः, आपश्च	(विकारक्षरौ)	→अकारः	
२ – अपञ्चीकृता वाक्	(विकारक्षरः)	→उकारः	
३ – अपञ्चीकृतोऽन्नादः, अन्नञ्च	(विकारक्षरौ)	→मकारः	

(८) अञ्जनपरिग्रहावच्छिन्नसाञ्जनप्रजापतिरनुगतः प्रणवः (५)

परात्पराव्ययाक्षरात्मक्षरगर्भितः-पञ्चकलो विकारक्षरः	→अर्द्धमात्रा	स एष साञ्जन-प्रजापतिःपुरञ्जनः-प्रणवमूर्त्तिः
१ – विश्वसृट्-पञ्चजनगर्भितौ वेदलोकौ-पुरञ्जनौ	→अकारः	
२ – विश्वसृट्-पञ्चजनगर्भितः-देवः-पुरञ्जनः	→उकारः	
३ – विश्वसृट्-पञ्जनगर्भितौ भूतपशुभागौ-पुरञ्जनौ	→मकारः	

(६) आवरणपरिग्रहावच्छिन्नसावरणप्रजापतिरनुगतः प्रणवः (६)

परात्पराव्ययाक्षरात्मक्षरविकारक्षरगर्भितः पञ्चकलः पुरञ्जनः→अर्द्धमात्रा		स एष सावरण-प्रजापतिः-पुरं-प्रणव-मूर्त्तिः
१ – वेद-लोक पुरञ्जनगर्भितः स्वयम्भुपरमेष्ठिपुरे	→अकारः	
२ – देवपुरञ्जनगर्भितं सूर्य्यपुरम्	→उकारः	
३ – भूत-पशुपुरञ्जनगर्भिते भू-चन्द्रपुरे	→मकारः	

प्रकृतमनुसरामः। सत्यात्मप्रजापति को पूर्व में षोडशीपुरुष कहा गया है एवं इसके परात्पर-अव्यय-अक्षर-आत्मक्षर, ये चार पर्व बतलाए गए हैं। पर्वचतुष्टयात्मक यह षोडशी सत्यात्मा परात्परापेक्षया यज्ञात्मक विश्वकर्म्म के प्रति किसी भी प्रकार की कारणता नहीं रख रहा है, अतएव इस परात्पर-दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि–'आत्मा सर्वथा असङ्ग है, वह विश्वातीत है, उसका विश्व के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। विश्व केवल मायिक है। उधर आत्मा (परात्पर) मायातीत है। वही सत्यात्मा परात्परगर्भित अव्यय की अपेक्षा से यज्ञात्मकविश्वकर्म्म का केवल अधिष्ठान (आलम्बन) बनता है। सत्यात्मा के इस अव्ययात्मपर्व की दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि–'आत्मा विश्व का न निमित्त–कारण है, न उपादानकारण। आत्मा तो साक्षीरूप से केवल आधार है।' वही सत्यात्मा परात्पराव्ययगर्भित अक्षर की अपेक्षा से यज्ञात्मकविश्वकर्म्म का निमित्तकारण बना हुआ है। सत्यात्मा के इस अक्षरात्मपर्व की दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि–'आत्मा असङ्गरूप से विश्वकर्त्ता-निमित्त बना हुआ है।' वही सत्यात्मा परात्पराव्ययाक्षरगर्भित आत्मक्षर की अपेक्षा से यज्ञात्मकविश्वकर्म्म का आरम्भण (उपादानकारण) बना हुआ है। सत्यात्मा के इस आत्मक्षरात्मपर्व की दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि–'आत्मा ही विश्वरूप में परिणत हो रहा है।' उपनिषदों में इन सभी आत्मस्वरूपों का विश्लेषण हुआ है। उधर आत्मस्वरूपव्यवच्छेद से वर्त्तमान आर्षप्रजा अपरिचित है। अतएव उसके लिए वे वचन सन्देह के कारण बन रहे हैं। 'आत्मा विश्वातीत है, आत्मा आलम्बन है–कर्त्ता नहीं, आत्मा कर्त्ता है–उपादान नहीं, आत्मा ही विश्व है' इन परस्परात्यन्तविरोधी वचनों का आर्षप्रजा तब तक निर्विरोध समन्वय करने में असमर्थ है, जब तक कि वह आत्मा के इन सर्वथा विभक्त सोपाधिकस्वरूपों का परिचय प्राप्त नहीं कर लेती।

षोडशीपुरुषलक्षण एवंविध सत्यप्रजापति के आधार पर प्रतिष्ठित यज्ञप्रजापति का क्या स्वरूप है? प्रश्न का उत्तर यज्ञप्रजापति के विकार-अञ्जन-आवरणनामक पूर्वोक्त तीनों परिग्रहों से गतार्थ है। विकारपरिग्रह प्राणात्मक है, अञ्जनपरिग्रह वित्तात्मक है, एवं आवरणपरिग्रह पाप्मास्वरूप है। **'प्राण-वित्त-पाप्मा'** इन तीनों में यज्ञस्वरूपसंरक्षकतत्त्व मध्यस्थ वित्त ही बनता है। अन्न ही वित्त है, अन्नाहुति ही यज्ञ है। अतएव अन्यत्र इसी वित्त को 'अन्न' शब्द से व्यवहृत किया गया है, जैसाकि अनुपद में ही स्पष्ट होने वाला है। प्राण-वित्त-पाप्मात्मक यज्ञलक्षणविश्व में से विश्वेश्वर सत्यप्रजापति (आत्मा) का प्रधान सम्बन्ध वित्तपर्य्यन्त ही माना गया है। **'यावद्वित्तं, तावदात्मा'** इस निगमश्रुति के

अनुसार वित्तपर्य्यन्त ही आत्मरश्मियों का प्रधान वितान प्रामाणिक है। तत्त्व यही है कि, उक्थ-अर्क-अशिति-भेद से प्रजापति त्रिपर्वा माने गए हैं। हृदयस्थ आत्मा उक्थ है; आत्मा का भोग्य अशिति है, अशितिलक्षण भोग्य का उक्थ आत्मा के साथ सम्बन्ध कराने वाली आत्मरश्मियाँ अर्क हैं। प्राण अर्क है, वित्त अशिति है, स्वयं सत्यप्रजापति आत्मा है, इस आत्मा, प्राण, वित्त की समष्टि ही आत्मन्वी (विश्वविशिष्ट) प्रजापति है। रह जाता है-शेष आवरणलक्षण पाप्मा। नामरूपविकासात्मक इस पाप्मा का प्रधानरूप से जीववर्ग के साथ ही सम्बन्ध माना गया है। आवरणपरिग्रह का सत्पात्र जीव ही बना करता है, यही तात्पर्य्य है।

षोडशी सत्यप्रजापति के अक्षरभाग को हमने यज्ञात्मक विश्व का निमित्तकारण बतलाते हुए इसे विश्वकर्त्ता कहा है। विश्वकर्त्ता यह अक्षरात्मा ऊर्ध्वस्थ ज्ञानघन अव्ययात्मा के ज्ञानभोग से सर्वज्ञ बनता हुआ ज्ञानशक्तिमय (ज्ञानवान्) बन रहा है। अधोऽवस्थित अर्थघन आत्मक्षरात्मा के अर्थभोग से सर्ववित् बनता हुआ अर्थशक्तिमय बन रहा है एवं अपने स्वरूप से क्रियाशक्तिमय बन रहा है। स्वानुगत अव्यय-ज्ञान से यही अक्षर विश्व का आलम्बन बनता है, स्वानुगत अक्षरक्रिया से यही अक्षर विश्व का निमित्त बनता है एवं स्वानुगत क्षरार्थ से यही अक्षर विश्व का उपादान बनता है और यों अपनी मध्यस्थता से सर्वात्मक (सर्वज्ञत्वेन अव्ययात्मक, सर्वक्रियात्वेन अक्षरात्मक, सर्वार्थत्वेन क्षरात्मक) बनता हुआ सब कुछ बना हुआ है। इसी आधार पर प्रकृतिवादी (अक्षरवादी) प्राधानिकों का **'प्रकृतिः कर्त्री, पुरुषस्तु पुष्करपलाशवन्निर्लेपः'**-यह सिद्धान्त स्थापित हुआ है। **'मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्'**[1]-यह गीतावचन भी इसी स्थिति का समर्थन कर रहा है। परात्परयुक्त अव्ययगर्भित तथा आत्मक्षरगर्भित, अतएव सर्वज्ञ-सर्ववित्-सर्वशक्तिमान् एवंविध अक्षर ही आत्मप्रजापति है, यही सत्यप्रजापति है, परात्परगर्भित-अव्ययदृष्टचा यही अक्षर मायीप्रजापति है, स्वदृष्टचा यही सकलप्रजापति है, आत्मक्षरदृष्टचा यही सगुण प्रजापति है। इस प्रकार यहाँ आकर यह कहा जा सकता है कि पूर्व में जिस षोडशीपुरुष को सत्यात्मा कहा गया था, वह यही अक्षरप्रजापति है, जो अपनी मध्यस्थता से षोडशी सम्पत्ति से युक्त हो रहा है। अक्षरात्मक इस सर्वज्ञ-सर्ववित् षोडशी का स्वरूप है-ब्रह्मेन्द्रविष्णुसमष्टि। गतितत्त्व ही अक्षर है। आगति, गति, गतिसमष्टि (स्थिति) ही अक्षर का तात्विक स्वरूप है। आगतिरूपा गति विष्णवक्षर है। गतिरूपा गति इन्द्राक्षर है, गतिसमष्टि-रूपा गति (स्थिति) ब्रह्माक्षर है। विष्णवक्षर 'हृ' है, इन्द्राक्षर 'द' है, ब्रह्माक्षर 'यम्' है, समष्टि 'हृदयम्' है। हृदय ही विज्ञानभाषा में 'सत्यभाव' कहलाया है, अतएव त्र्यक्षरमूर्त्ति हृदयात्मक इस षोडशीअक्षर को अवश्य ही सत्यप्रजापति कहा जा सकता है। जब अक्षरप्रजापति यों सत्यात्मक बन जाता है, तो उस स्थिति में अव्ययपुरुष 'सत्यस्य सत्यम्' बन जाता है।

उक्तलक्षण अक्षरात्मक षोडशीसत्यप्रजापति से **प्रतिष्ठा, ज्योति, यज्ञ,** इन तीनों भावों का सर्जन होता है। अक्षरप्रजापति स्वयं उक्थरूप है। इससे विनिर्गत प्राणरश्मियाँ (ब्रह्मनिःश्वसित नामक

---

१ गीता ९।१०।

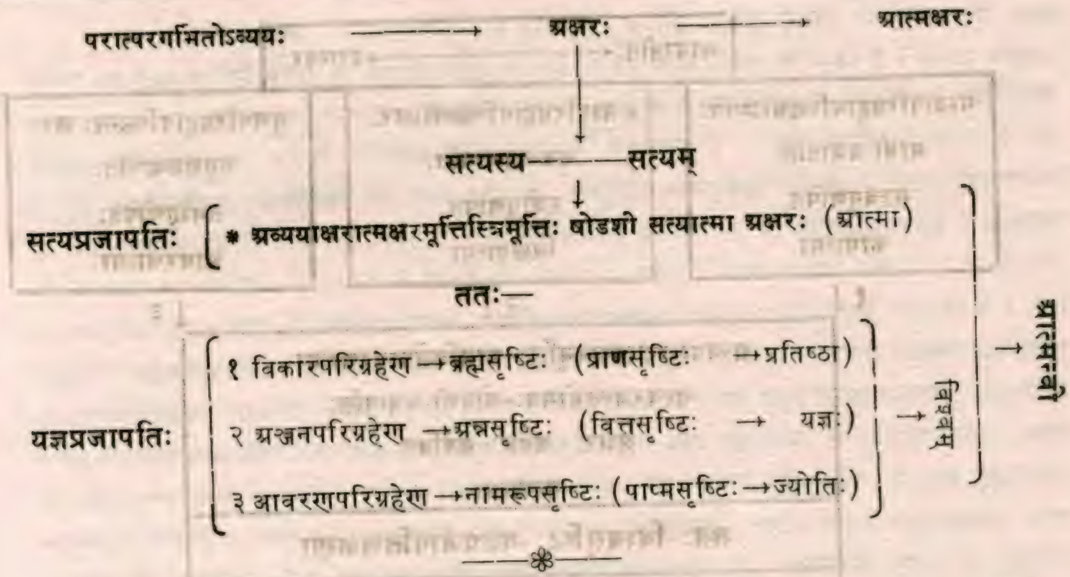
प्राणघन अपौरुषेयवेद) ही प्रतिष्ठा तत्त्व हैं। यही प्राणप्रतिष्ठा विश्वानुगता भूत-भौतिकसर्गों का मूलाधार बनती है। इसी आधारभाव के कारण **बिभर्त्ति सर्वम्**' निर्वचन से इसे '**ब्रह्म**' कहा जा सकता है। इस ब्रह्मप्रतिष्ठा पर प्रतिष्ठित अग्नि में अन्नसोम की आहुति होती है। इस आहुति से अग्निसोमात्मक विश्व का भौतिक स्वरूप सम्पन्न होता है। यही दूसरी यज्ञसृष्टि है। इसका स्वरूप चूँकि अन्नसोमाहुति से सम्पन्न हुआ है, अतएव इस यज्ञसर्ग को '**अन्नम्**' नाम से व्यवहृत किया जा सकता है। तीसरा सर्ग ज्योतिर्लक्षण है। प्रतिष्ठाब्रह्म (प्राण) के आधार पर वित्तलक्षण अन्नात्मक यज्ञ (भौतिक विश्व) का स्वरूप तो सम्पन्न हो गया, परन्तु अभी यज्ञात्मकविश्व जीवसर्ग के लिए उपयोगी न बन सका। नाम और रूप के द्वारा ही वस्तु का उपयोग निर्भर है। नाम-रूप से ही वस्तुस्वरूप प्रकाशित-विकसित हुआ करता है, अतएव इस नामरूप को अवश्य ही ज्योति कहा जा सकता है। जीवोपयोग-दृष्टि से नाम-रूपसमष्टि अवश्य ज्योति है, परन्तु तत्त्वतः नाम-रूप पाप्मा हैं, अतएव ब्राह्मण श्रुति ने नाम को 'ग्रह' कहा है।[1] जिस प्रकार ग्रहदशायुक्त मानव अपने आत्मस्वातन्त्र्य से वञ्चित बना रहता है, एवमेव भौतिकपदार्थों के नामरूप में आसक्त मानव अपना आत्मविकास खो बैठता है, अतएव आसक्तिलक्षण इस आवरण की दृष्टि से उपयोगितादृष्ट्या ज्योतिःपद्भाक् बनी हुई भी नामरूपसमष्टि को हम 'पाप्मा' ही कहेंगे, जिस पाप्मा ने प्राणिमात्र को उसी प्रकार भयार्त्त बना रक्खा है, जैसे कि मानव किसी यक्ष-अभ्व की कल्पना से भयार्त्त बन जाया करता है। इसी आधार पर–'**ते हैते ब्रह्मणो महती अभ्वे, महती यक्षे**'–इत्यादिरूप से श्रुति ने नामरूप को अभ्व-यक्ष नामों से व्यवहृत किया है। निष्कर्ष यह निकला कि–षोडशी अक्षरसत्यात्मा से विकारपरिग्रह द्वारा प्रतिष्ठाप्राणात्मिका ब्रह्मसृष्टि (वेदसृष्टि) होती है, अञ्जनपरिग्रह द्वारा यज्ञात्मिका अन्नसृष्टि होती है, एवं आवरणपरिग्रह द्वारा ज्योतिर्लक्षणा नामरूपसृष्टि होती है। इन तीनों सर्गों में विश्वानुगत यच्चयावत् इतर सर्गों का अन्तर्भाव है। प्राणात्मक ब्रह्म, वित्तात्मक अन्न–ये दो सर्ग तो ईश्वरात्मानुगत हैं, एवं पाप्मात्मक नामरूपसर्ग का प्रधानतया जीवसर्ग के साथ सम्बन्ध है। षोडशी अक्षरलक्षण सत्यप्रजापति से समुद्भूत यज्ञप्रजापति का यही तात्त्विकस्वरूपविश्लेषण है, जो यज्ञप्रजापति विकार-अञ्जन-आवरणपरिग्रहभेद से क्रमशः प्राणात्मक ब्रह्म-वित्तात्मक अन्न-पाप्मात्मक नामरूप, इन तीन विवर्त्तभावों में परिणत होता हुआ विश्व-स्वरूपसंग्राहक सिद्ध हो रहा है। निम्नलिखित उपनिषत्–श्रुति अक्षरानुगत इसी सृष्टित्रयी-विवर्त्त का स्पष्टीकरण कर रही है—

"यः सर्वज्ञः सर्ववित्–यस्य ज्ञानमयं तपः ।
तस्मादेतद्-ब्रह्म नाम रूपमन्नं च जायते" ।।[2]

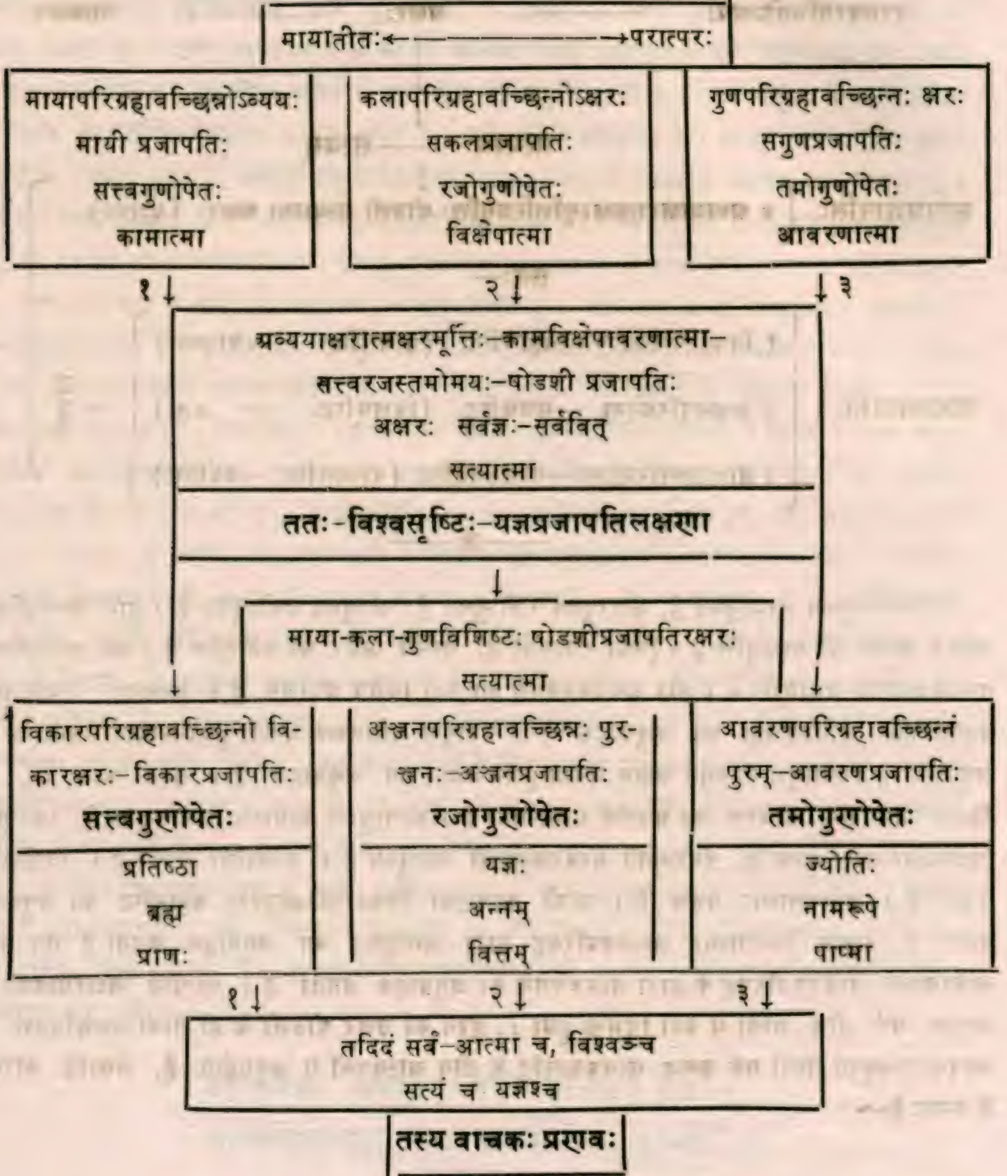
---

१ 'नामैव ग्रहः । नाम्ना हीदं सर्वं गृहीतम्' शत० ब्रा० ४।६।५।२ ।

२ मुण्डकोप० १।१।६ ।



अव्ययपुरुष सत्त्वानुगत है, अक्षरपुरुष रजोऽनुगत है, क्षरपुरुष तमोऽनुगत है। ज्ञान सत्त्वमूर्त्ति है, तद्घन अव्यय भी सत्त्वमूर्त्ति है। क्रिया रजोमयी है, तन्मय अक्षर भी रजोमूर्त्ति है। अर्थ तमोमूर्त्ति है, तन्मय क्षर भी तमोमूर्त्ति है। और इस विश्लेषण का यहाँ विशेष प्रयोजन है। सत्त्वगुण स्थितिलक्षण बनता हुआ प्रतिष्ठाब्रह्म का अनुग्राहक है। रजोगुण गतिलक्षण बनता हुआ आदानविसर्गधर्म्म का अनुग्राहक है। तमोगुण स्तम्भन लक्षण बनता हुआ जड़ता का अनुग्राहक है। सत्त्व काम का, रज विक्षेप का, तम आवरण का प्रवर्त्तक माना गया है। सत्त्वानुगत कामात्मा अव्ययपुरुष है, रजोऽनुगत विक्षेपात्मा अक्षर पुरुष है, तमोऽनुगत आवरणआत्मा क्षरपुरुष है। कामात्मा मायी है। विक्षेपात्मा सकल है। आवरणात्मा सगुण है। मायी कामात्मा विकारपरिग्रहद्वारा ब्रह्मसृष्टि का अनुग्राहक बनता है, सकल विक्षेपात्मा अञ्जनपरिग्रह द्वारा अन्नसृष्टि का अनुग्राहक बनता है एवं सगुण आवरणात्मा आवरणपरिग्रह के द्वारा नामरूपसर्ग का अनुग्राहक बनता है। तात्पर्य्य अक्षरषोडशी से उत्पन्न सर्ग तीन भागों में क्यों विभक्त हुआ ?, प्रश्न का उत्तर षोडशी के ही तीनों आत्मविवर्त्त हैं। यज्ञप्रजापत्यनुगत तीनों सर्ग क्रमशः सत्यप्रजापति के तीन आत्मपर्वों से अनुगृहीत हैं, जैसाकि परिलेख से स्पष्ट है—


मायातीतः← ————→परात्परः
मायापरिग्रहावच्छिन्नोऽव्ययः
मायी प्रजापतिः
सत्त्वगुणोपेतः
कामात्मा
कलापरिग्रहावच्छिन्नोऽक्षरः
सकलप्रजापतिः
रजोगुणोपेतः
विक्षेपात्मा
गुणपरिग्रहावच्छिन्नः क्षरः
सगुणप्रजापतिः
तमोगुणोपेतः
आवरणात्मा
१ ↓
२ ↓
↓ ३
अव्ययाक्षरात्मक्षरमूर्त्तिः–कामविक्षेपावरणात्मा–
सत्त्वरजस्तमोमयः–षोडशी प्रजापतिः
अक्षरः सर्वज्ञः–सर्ववित्
सत्यात्मा
ततः-विश्वसृष्टिः–यज्ञप्रजापतिलक्षणा
माया-कला-गुणविशिष्टः षोडशीप्रजापतिरक्षरः
सत्यात्मा
विकारपरिग्रहावच्छिन्नो वि-
कारक्षरः–विकारप्रजापतिः
सत्त्वगुणोपेतः
प्रतिष्ठा
ब्रह्म
प्राणः
अञ्जनपरिग्रहावच्छिन्नः पुर-
ञ्जनः–अञ्जनप्रजापतिः
रजोगुणोपेतः
यज्ञः
अन्नम्
वित्तम्
आवरणपरिग्रहावच्छिन्नं
पुरम्–आवरणप्रजापतिः
तमोगुणोपेतः
ज्योतिः
नामरूपे
पाप्मा
१ ↓
२ ↓
३ ↓
तदिदं सर्वं–आत्मा च, विश्वञ्च
सत्यं च यज्ञश्च
तस्य वाचकः प्रणवः

'कस्य वाचकः प्रणवः' ?, प्रश्न उपस्थित होता है। क्योंकि ओङ्कारमूर्त्ति विश्वेश्वर के साथ पाप्मा का सम्बन्ध नहीं माना जा सकता, जैसा कि पूर्व में भी स्पष्ट किया जा चुका है। पाप्मा नामक-नामरूपात्मक यक्ष-अम्बलक्षण आवरण (कामासक्ति) का सम्बन्ध केवल जीवसर्ग से ही है। **'ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानम्'** इस रूप से उपनिषत्-श्रुति आत्मा की प्रणवरूप से उपासना करने का आदेश दे रही है। उधर-**'यावद्वित्तं, तावदात्मा'** इस अन्य श्रुति के अनुसार अञ्जनपरिग्रहात्मक वित्तपरिग्रहपर्य्यन्त ही आत्मस्वरूपविकास सिद्ध हो रहा है। आवरणक्षेत्र में भुक्त होकर तो आत्मा जड़धर्म्म से आक्रान्त होकर अपने स्वाभाविक आत्मधर्म्म से आवृत हो जाता है। फलतः 'कस्य वाचकः प्रणवः ?, प्रश्नोत्थान स्वाभाविक बन जाता है, जिसका उत्तर 'यावद्वित्तं तावदात्मा' श्रुति से ही गतार्थ बन रहा है। इस दृष्टि से 'अर्द्धमात्रा' से परात्पर का ग्रहण किया जाएगा, 'अकार' से सत्यात्मलक्षण षोडशी अक्षरात्मा का ग्रहण किया जायगा, 'उकार' से विकारपरिग्रहात्मक प्राण का ग्रहण किया जाएगा, 'मकार' से अञ्जनपरिग्रहात्मक वित्त का (यज्ञ का) ग्रहण किया जाएगा, और इस दृष्टि से समष्ट्यात्मक प्रणव का यह स्वरूप माना जायगा। अबतक प्रतिपादित विषय का निष्कर्ष यही है कि जो कुछ हमें चर्म्म-चक्षुओं से दिखाई पड़ रहा है, वह यज्ञप्रजापति है, इसका आधारभूत अदृष्ट-अश्रुत-अमृत-सुसूक्ष्म तत्त्व सत्यषोडशी प्रजापति है। सत्ययज्ञसमष्टि सर्वप्रजापति आत्मन्वी है। सत्यात्मा आत्मा है, यज्ञात्मा (विश्व) इसका शरीर है, उभयसमष्टि सर्वप्रजापति है। इन दोनों विवर्त्तों में से यज्ञलक्षण शरीरविवर्त्त सविकार-साञ्जन-सावरण नामक तीन विवर्त्त हैं। तीनों क्रमशः प्राण-वित्त-पाप्मास्वरूप हैं। तीनों में से पाप्मा-विवर्त्त जीवकोटि में समाविष्ट है। फलतः ईश्वरसंस्था में सविकार प्राण, साञ्जन वित्त ये दो ही विवर्त्त रह जाते हैं। इस दृष्टि से अर्द्धमात्रलक्षण परात्पर, षोडशीअक्षरलक्षण आत्मा, विकारलक्षण प्राण, अञ्जनलक्षण वित्त-ये चार पाद हो जाते हैं। चारों में से आत्मा-प्राण-वित्त-ये तीनों मायासहकृत बनते हुए, अतएव **'तिस्रो मात्रा मृत्युमत्यः प्रयुक्ताः'**[1] कोटि में आते हुए क्रमशः अकार-उकार-मकार हैं। चौथा मायातीतपरात्पर मायातीत होने से अमृत बनता हुआ अर्द्धमात्रा है-यही प्रणवब्रह्म है और यही गीतात्मानुगता आत्मशिक्षा का प्राथमिक दृष्टिकोण है।

अब दो शब्दों में अन्य दृष्टिकोण से भी आत्मशिक्षा का समन्वय कर दिया जाता है। सत्य-यज्ञसमष्टिलक्षण जिस प्रजापति का पूर्व में दिग्दर्शन कराया गया है, उसे उपनिषत् ने-'अश्वत्थब्रह्म' नाम से व्यवहृत किया है एवं-**'तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते'**[2] कहते हुए उपनिषत् ने उस अश्वत्थ ब्रह्म को अमृत-ब्रह्म-शुक्रात्मक बतलाया है। सर्वान्त में-**'तस्मिँल्लोकाः श्रिताः सर्वे'** कहते हुए उपनिषत् ने सम्पूर्णलोक इस अमृत-ब्रह्म-शुक्रमूर्त्ति अश्वत्थ के आश्रित बतलाए हैं। कहने में विषय साधारणसा प्रतीत हो रहा है, परन्तु समन्वय में समस्या जटिल है। आइए, इस जटिलता की मीमांसा करें।

सत्यप्रजापति को आत्मा कहा गया है, यज्ञप्रजापति को विश्व माना गया है, समष्टि को सर्व-प्रजापति कहा गया है, सर्वप्रजापति को अश्वत्थब्रह्म माना गया है एवं इस अश्वत्थब्रह्म के अमृत-ब्रह्म-

१ प्रश्नोप० ५।६। २ कठोप० २।६।१।

शुक्र ये तीन विवर्त्त बतलाए गए हैं। साथ ही आगे जाकर यह कहा गया है कि सम्पूर्ण लोक एवंविध अश्वत्थ के आश्रित है। जटिल समस्या यह है कि यज्ञ को एक ओर विश्व मानते हुए उसे अश्वत्थ में अन्तर्भूत माना जा रहा है, दूसरी ओर विश्वात्मक लोकों को अश्वत्थ के आश्रित माना जा रहा है। लोक ही तो विश्व है, विश्व ही तो लोक है। फिर या तो विश्व का अश्वत्थस्वरूप में अन्तर्भाव नहीं होना चाहिए। यदि अन्तर्भाव है, तो–**'तस्मिल्लोकाः श्रिताः सर्वे'** का क्या अर्थ? यही समस्या है, जिसके निराकरण के लिए ही अन्य दृष्टिकोण से आत्मशिक्षास्वरूपविश्लेषण आवश्यक समझा गया है।

विज्ञानमर्य्यादा के अनुसार कोई शब्द किसी शब्द का पर्य्याय नहीं है। सब शब्द विभिन्नार्थों के ही वाचक हैं। फलतः विश्व और लोक शब्दों के भी विभिन्नार्थकता ही स्वीकार करनी पड़ेगी। अवश्य ही यज्ञात्मक विश्वपदार्थ अश्वत्थस्वरूप में अन्तर्भूत हैं एवं अवश्य ही लोक इस अश्वत्थ के आश्रित है। 'विश्व' शब्द का निर्वचन है–**'विशति-यत्रात्मा।'** जहां आत्मा प्रवेश करे–प्रविष्ट रहे वही विश्व है। लोक में भी आत्मा प्रविष्ट रहता है, अतएव लोकप्रवेशापेक्षया आत्मा लोकी भी माना गया है, परन्तु यज्ञात्मकविश्व केवल विश्व है, लोक नहीं। उधर लोक को गौणदृष्टया विश्व भी कहा जा सकता है। लोक का आलोक से सम्बन्ध है, आलोक (भूतप्रकाश) का सूर्य्य से सम्बन्ध है और सूर्य्य पुरभावात्मक बनता हुआ आवरणपरिग्रहावच्छिन्न पुरप्रजापति से सम्बन्ध रख रहा है। उधर जिस यज्ञात्मक विश्व का अश्वत्थस्वरूप में अन्तर्भाव किया गया है वह पिण्डात्मक पुर नहीं है अपि तु, पुरञ्जनात्मक, अतएव तत्त्वात्मक वह आयतन है, जिसमें षोडशी अक्षरात्मा प्रविष्ट रहता है। अक्षरात्म-प्रवेश से इस पुरञ्जनात्मक तत्त्वलक्षण आयतन को विश्व अवश्य कहा जा सकता है, किन्तु सूर्य्यालोकानुगत लोकमर्य्यादा से बहिर्भूत रहने के कारण इसे लोक नहीं कहा जा सकता। तात्पर्य्य यही है कि विश्व का पुरञ्जनात्मक शुक्र से सम्बन्ध है एवं लोक का शुक्र द्वारा विनिर्म्मित, किंवा शुक्रात्मक वेदादि पुरञ्जनादि द्वारा विनिर्म्मित प्रत्यक्षदृष्ट पाञ्चभौतिक विश्व से सम्बन्ध है। लोक उस आत्मा का स्थूलशरीर है, विश्व उस आत्मा का सूक्ष्मशरीर है। सूक्ष्मशरीरात्मक विश्व का अश्वत्थब्रह्म में अन्तर्भाव है। स्थूलशरीरात्मक लोक इस अश्वत्थब्रह्म के आश्रित हैं और यों–**'तस्मिल्लोकाः श्रिताः सर्वे'** का निर्विरोध समन्वय हो रहा है।

उक्त समन्वय से एक निष्कर्ष और निकल आया। पूर्व में हमने सत्यप्रजापति को आत्मा एवं यज्ञप्रजापति को विश्व कहा था। लोकात्मक विश्व की दृष्टि से अब यज्ञात्मक विश्व का भी आत्मस्वरूप में ही अन्तर्भाव माना जाएगा। आत्मा के परात्परगर्भित अव्यय, अक्षर, आत्मक्षर ये तीन विवर्त्त बतलाए थे एवं यज्ञात्मक शरीर के विकारक्षर, पुरञ्जन–ये दो विवर्त्त बतलाए गए थे। अब इन दोनों यज्ञविवर्त्तों का आत्मक्षर में अन्तर्भाव माना जाएगा, क्योंकि आत्मक्षर इनका उपादानकारण है एवं उपादानकारण स्वकार्य्यसत्ता से अभिन्न है। इस प्रकार परात्पर से आरम्भ कर पुरञ्जनपर्य्यन्त का विवर्त्त आत्मा माना जायगा एवं लोकात्मक पाञ्चभौतिक विश्वपुर इस आत्मा का शरीर (स्थूलशरीर) माना जाएगा। इसी व्यवच्छेद को लक्ष्य बनाकर अश्वत्थात्मा के अमृत-ब्रह्म-शुक्र पदार्थों की मीमांसा की जायगी—

१ – परात्परगर्भितोऽव्ययः	—मायी			
२ – अक्षरः	—सकलः	—→सत्यात्मा (आत्मा)		
३ – आत्मक्षरः	—सगुणः		→अश्वत्थात्मा	
४ – विकारक्षरः (प्राणाः)	—सविकारः	→यज्ञात्मा (विश्वम्)		आत्मसर्वो
५ – पुरञ्जनः (वित्तम्)	—साञ्जनः			
६ – पुराणि (पाप्मानः)	सावरणानि	→भूतात्मा (लोकाः)	अश्वत्थाश्रितं →विश्वं (लोकात्मकम्)	

परिलेख को लक्ष्य बनाते हुए सर्वप्रथम अश्वत्थ के अमृतपर्व का विचार कीजिए। परात्परगर्भित अव्ययात्मा ही 'अमृतम्' है। सदा समानरस बने रहने से ही इसे 'अमृतम्' कहना अन्वर्थ बन रहा है। दूसरा है–पञ्चकल अक्षरतत्त्व। यही सर्वप्रतिष्ठा बनता हुआ '**ब्रह्म**' नाम से व्यवहृत हुआ है। '**ब्रह्मास्य सर्वस्य प्रतिष्ठा**' के अनुसार प्रतिष्ठातत्त्व का ही नाम ब्रह्म है। अक्षर अपने आगे के आत्मक्षरादि कीतो प्रतिष्ठा बनता है। परन्तु क्या यह परात्परगर्भित उस अव्यय की भी प्रतिष्ठा माना जाएगा जिस अव्यय को सर्वाधार माना गया है? प्रश्न का समाधान चितिविज्ञान पर अवलम्बित है। अव्ययस्वरूप निष्कल था, एकल था। 'चेतना' नाम से प्रसिद्ध गति-आगतिधर्म्मा मध्यस्थ अक्षर के द्वारा होने वाली रसबलचिति से ही निष्कल अव्यय अन्तश्चिति-बहिश्चितियों से युक्त होकर पञ्चकल बना एवं इस पञ्चचिति (आनन्द-विज्ञान-मनः-प्राण-वाक्चिति) से ही अव्यय चिदात्मा कहलाया। '**चेतयते या सा चेतना**'–निर्वचनानुसार चिति करने वाली अव्ययपुरुष की अन्तरङ्गभूता पराप्रकृति है जिसे 'अक्षर' नाम से व्यवहृत किया जाता है। चेतना द्वारा चितअव्यय ही चिदात्मा है। इस चितिदृष्टि से अक्षर को चिदात्मलक्षण अव्यय की भी प्रतिष्ठा (स्वरूपाधार) माना जा सकता है और इसीलिए अक्षर को सर्वप्रतिष्ठा कहा जा सकता है, अतएव च–अक्षर को प्रतिष्ठात्मक 'ब्रह्म' कहना अन्वर्थ बन जाता है।

अब तीसरे शुक्रतत्त्व का विचार कीजिए। 'शुक्र' का तात्पर्य्यार्थ है–भौतिक विश्व (लोक) का उपादानकारण, बीज, रेत। जिस रेत की आहुति से भौतिक विश्व का स्वरूप निष्पन्न होता है वह रेत ही शुक्र है। भौतिक विश्व के बीज ४ भागों में विभक्त हैं। चारों में पहला तथा मुख्य बीज परिणामी-उपादानकारणभूत–'**आत्मक्षर**'[1] है–जिसकी मर्त्यलक्षण-ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, अग्नि, सोम ये पाँच कलाएँ मानी गई हैं। इन पांचों आत्मक्षरों से विनिर्गत प्रथम–अपञ्चीकृत पञ्चविकार क्रमशः प्राण-आपः-वाक्-अन्न-अन्नाद इन नामों से व्यवहृत हुए हैं। पञ्चविकारक्षरसमष्टि ही 'विकारक्षर' है। यहीं से स्थूलविश्वानुगता स्थूलता का चूंकि उपक्रम होता है, अतएव इन अपञ्चीकृतों को 'विश्वसृट्' नाम से व्यवहृत किया जाता है। यही अपञ्चीकृत पञ्चविकारक्षरसमष्टि '**विश्वसृट्**'[2] नामक दूसरा

विश्वबीज है । आगे चलकर विश्वसृट् नामक अपञ्चीकृत विकारक्षरों की विशुद्ध प्राणादि पाँचों कलाओं की परस्पर आहुति होती है । यही आहुतिक्रम सुप्रसिद्ध 'पञ्चीकरण-प्रक्रिया' कहलाई है । पञ्चीकरण प्रक्रिया से कृतरूप पञ्चात्मक ये प्राणादि ही **'पञ्चजन'**[3] नाम से व्यवहृत हुए हैं-जिनके नाम **तद्वाद०-न्याय** से प्राणादि ही रहते हैं । यही पञ्च-पञ्चजनात्मक तीसरा बीज है । पञ्चजन प्राणादि का समन्वय समधर्म्मानुगत है । आगे जाकर इन सबकी सबमें आहुति होती है-जो आहुतिप्रक्रिया 'सर्वहुतयज्ञ' नाम से व्यवहृत हुई है । इस यज्ञ से समुत्पन्न पञ्चविंशति-पञ्चविंशति कल प्राणादि ही **'पुरञ्जन'**[4] कहलाए हैं एवं इनका यह स्वरूप विषम धर्म्मानुगत है, अतएव इनसे उत्पन्न पुरों का स्वरूप परस्पर विभिन्न धर्म्मा बनता है । इसी विषमता के कारण पुरञ्जन की पाँचों कलाओं के प्राणादि नाम न रहकर क्रमशः **वेद-लोक-देव-भूत-पशु**-ये नाम हो जाते हैं । इन पाँचों पुरञ्जनों से क्रमशः (आवरण-परिग्रह द्वारा) स्वयम्भूपुर, परमेष्ठीपुर, सूर्य्यपुर, भूपुर, चद्रपुर-इन पाँचपुरों की सृष्टि होती है । यह पञ्चपुरसमष्टि ही लोकात्मक विश्व है-जिसे अश्वत्थब्रह्म के आश्रित बतलाया गया है ।

आत्मक्षर पहला शुक्र, विश्वसृट् नामक विकारक्षर दूसरा शुक्र, पञ्चजन नामक तीसरा शुक्र, पुरञ्जन नामक चौथा शुक्र-ये चारों शुक्र तत्त्वतः अभिन्न हैं । क्योंकि आत्मक्षर ही विकारावस्था में विश्वसृट् कहलाया है, विश्वसृट् ही पञ्चीकृतावस्था में पञ्चजन कहलाया है एवं पञ्चजन ही पञ्च-पञ्चीकृतावस्था में पुरञ्जन कहलाया है, अतएव अमृताव्यय, ब्रह्माक्षरवत् शुक्रात्मक्षर की भी तत्त्वतः प्राण-आपः-वाक्-अन्न-अन्नाद-ये पाँच ही कलाएँ मानीं जाएँगी । पुरञ्जनपर्य्यंत आत्मक्षरात्मक शुक्र की व्याप्ति मानी जाएगी-यही तात्पर्य्य है । और इस दृष्टिकोण से कहा जा सकता है कि परात्परगर्भित आनन्दादि पञ्चकलोपत अव्यय अश्वत्थब्रह्म का 'अमृत' पर्व है-यही अमृतात्मा है-यही आत्मयोनि है-(सर्वेषाम्)-यही ज्ञानात्मा है । अमृतब्रह्मादि पञ्चकलोपेत अक्षर अश्वत्थवृक्ष का 'ब्रह्म' पर्व है-यही ब्रह्मात्मा है-यही प्रकृतियोनि है-(सर्वेषाम्)-यही कर्म्मात्मा है । मर्त्यब्रह्मादि पञ्चकलोपेत-मर्त्यविश्वसृट्-पञ्चजन-पुरञ्जनविशिष्ट आत्मक्षर अश्वत्थवृक्ष का 'शुक्र' पर्व है-यही शुक्रात्मा है-यही विकृतियोनि है-(सर्वेषाम्)-यही भूतात्मा है । अव्यय अमृतम् है, अक्षर ब्रह्म है, आत्मक्षर शुक्र है । प्राणलक्षण विकारक्षर (विश्वसृट् और पञ्चजन) वित्तलक्षण विकारक्षर (पुरञ्जन) एवं पाप्मलक्षण पुर-ये तीनों इसी त्रिकल-आत्मा के आधार पर प्रतिष्ठित हैं । इनमें प्राणलक्षण विकार, वित्तलक्षण विकार-इन दोनों का तो आत्मक्षरात्मक शुक्रस्वरूप में ही (आत्मस्वरूप में ही) अन्तर्भाव है, शेष बचा हुआ पाप्मलक्षण विकार (पुर) इस त्रिकल आत्मा के आश्रय में रहने वाला लोकात्मक विश्व है और यही अमृत-ब्रह्म-शुक्रत्रयी का संक्षिप्त स्वरूपनिदर्शन है-जैसाकि परिलेख से स्पष्ट है—

(१) परात्परगर्भितः–आनन्द–विज्ञान–मनः–प्राण –वाग्घनोऽव्ययः ————→अमृतम्
(२) अमृत –ब्रह्मा –विष्णु –इन्द्र–सोम –अग्निरूपोऽक्षरः ————→ब्रह्म
(३) मर्त्य –ब्रह्मा –विष्णु –इन्द्र–सोम –अग्निरूपः–आत्मक्षरः
(४) विशुद्ध –प्राण –आप –वाक्–अन्न–अन्नादरूपो विश्वसृट्
(५) पञ्चीकृत –प्राण –आप –वाक्–अन्न–अन्नादरूपः पञ्चजनः
(६) पञ्चपञ्चीकृत –वेद –लोक –देव –पशु–भूतरूपः पुरञ्जनः
(७) सर्वात्मकं –स्वयम्भू–परमेष्ठि –सूर्य्य–चन्द्र–भूपिण्डरूपं पुरम्

(४)–(५) } →प्राणः
(५)–(६) } →वित्तम्
(३)–(६) } →शुक्रम्
(७) } →पाप्मा } लोकाः[2] (विश्वम्)
(१)–(३) } आत्मा[1]

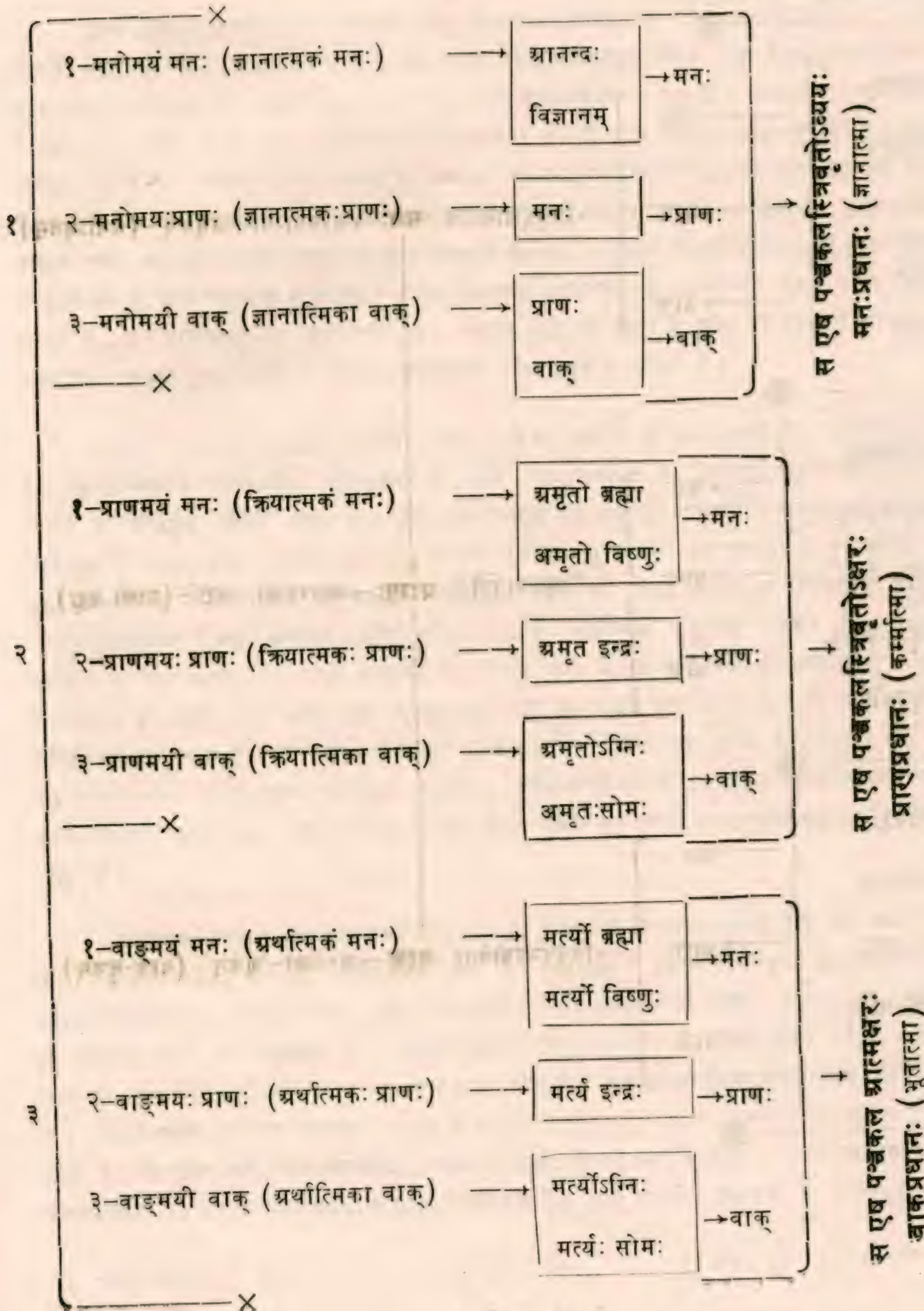
१ – अव्ययः ————→ अमृतात्मा, आत्मयोनिः, ज्ञानात्मा
२ – अक्षरः ————→ ब्रह्मात्मा, प्रकृतियोनिः, कर्म्मात्मा
३ – आत्मक्षरः (१) → शुक्रात्मा, विकृतियोनिः, भूतात्मा
विश्वसृट् (२)
पञ्चजनः (३)
पुरञ्जनः (४)
४ – पुराणि } ——→आत्मायतनम् – भूतयोनिः ————→विश्वम्

(१–३) } →आत्मा त्रिकलः
} आत्मन्वी

दूसरी दृष्टि से अश्वत्थानुगत अमृत-ब्रह्म-शुक्र का समन्वय कीजिए। **'मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय !'–'अहं सर्वस्य प्रभवः–मत्तः सर्वं प्रवर्त्तते'–प्रभवः प्रलयःस्थानं निधानं बीजमव्ययम्'**– इत्यादि गीतावचनों के अनुसार आनन्दविज्ञानमनःप्राणवाग्घन परात्परगर्भित अव्ययात्मा ही आगे के सर्वप्रपञ्च का प्रभव है। इसी आधार पर **'तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते'** इत्यादि श्रुति पठित 'तदेव' पद का समन्वय हो रहा है। वही अव्यय अमृत है, वही अव्यय अक्षर है, वही अव्यय आत्मक्षर है **'आत्मैवेदं सर्वम्,[1] पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्'[2]**। कैसे ? इस प्रश्न का उत्तर मनःप्राणवाङ्मय आत्मा के त्रिवृद्भाव-विज्ञान पर अवलम्बित है। अव्ययपुरुष की आनन्द-विज्ञान-मन-प्राण-वाक्–इन पाँच कलाओं के त्रिवृद्भाव से ही–जिस त्रिवृद्भाव को मनःप्राणवाक् का त्रिवृद्भाव कहा जाएगा–

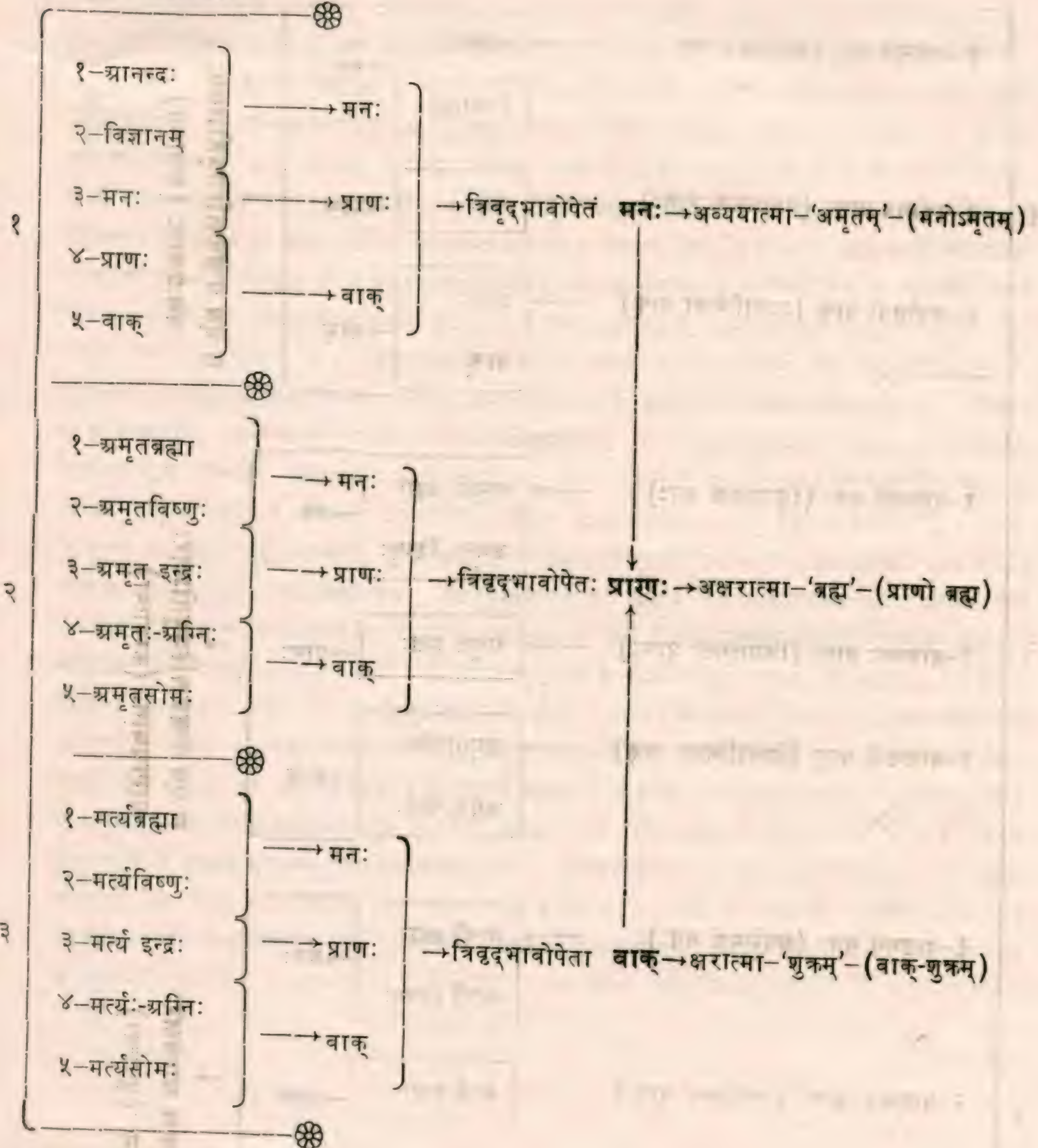
१ छान्दोग्योप० ७।२५।२।   २ सामवेद पू० ६।३।१३।५।

पञ्चकल अव्यय, पञ्चकल अक्षर, पञ्चकल आत्मक्षर-इन तीनों अमृत-ब्रह्म-शुक्रपर्वों का विकास हुआ है। मन से ज्ञानशक्ति अभिप्रेत है, प्राण से क्रियाशक्ति अभिप्रेत है एवं वाक् से अर्थशक्ति अभिप्रेत है। ज्ञानशक्ति-लक्षण मन भी अपने त्रिवृद्भाव के कारण मनः-प्राण-वाङ्मय है, क्रियाशक्तिलक्षण प्राण भी प्राण के त्रिवृद्भाव के कारण मनःप्राणवाङ्मय है एवं अर्थशक्तिलक्षण वाक् भी वाक् के त्रिवृद्भाव के कारण मनःप्राणवाङ्मयी है। त्रिवृत् मन से सम्बन्ध रखने वाले मनः-प्राण-वाक् तीनों पर्व ज्ञानप्रधान हैं—ये ही अव्ययात्मा के स्वरूपसंग्राहक हैं। त्रिवृत् प्राण से सम्बन्ध रखने वाले मनः, प्राण, वाक्—तीनों पर्व क्रियाप्रधान हैं-ये ही अक्षरात्मा के स्वरूपसंग्राहक हैं। त्रिवृता वाक् से सम्बन्ध रखने वाले मनःप्राण-वाक् तीनों पर्व अर्थप्रधान हैं-ये ही आत्मक्षरात्मा के स्वरूप संग्राहक हैं। त्रिवृत्-मन से सम्बन्ध रखने वाला मनोमय मन 'आनन्दविज्ञानघन' है, मनोमय प्राण मनोघन है, मनोमयीवाक् प्राणवाग्घना है-यही पहला अव्ययात्मविवर्त्त है। त्रिवृत्प्राण से सम्बन्ध रखने वाला प्राणमय मन अमृतब्रह्माविष्णु है, प्राणमय प्राण अमृतेन्द्र है, प्राणमयी वाक् अमृताग्निसोम है—यही दूसरा अक्षरात्मविवर्त्त है। त्रिवृता वाक् से सम्बन्ध रखने वाला वाङ्मय मन मर्त्यब्रह्माविष्णु है, वाङ्मय प्राण मर्त्येन्द्र है, वाङ्मयीवाक् मर्त्याग्निसोम है—यही तीसरा आत्मक्षरात्मविवर्त्त है। इसी से यह भी सिद्ध हो गया कि पञ्चकल अव्यय त्रिवृन्मनोमूर्त्ति है, पञ्चकल अक्षर त्रिवृतप्राणमय है, पञ्चकल आत्मक्षर त्रिवृता वाङ्मय है। फलतः 'अमृत' मन है, 'ब्रह्म' प्राण है, 'शुक्र' वाक् है। त्रिवृन्मनोघन का अर्थ है—मनःप्राणवाग्घन—और इसका अर्थ है—आनन्दविज्ञानमनःप्राणवाग्घन। त्रिवृत्प्राणमय का अर्थ है—मनःप्राणवाङ्मय—और इसका अर्थ है—अमृतब्रह्माविष्ण्वन्द्राग्निसोममय। त्रिवृतावाङ्मय का अर्थ है—मनःप्राणवाङ्मय और—इसका अर्थ है—मर्त्यब्रह्माविष्ण्वन्द्राग्निसोममय। यही तो वह त्रिवृद्भाव है—जिसके द्वारा एक ही आत्मा सर्वरूप में विभूत हुआ है। यही तो वह त्रिवृद्विज्ञान है—जिसे न जानने के कारण केवल मनःप्राणवागादि के नामसाम्य के भ्रम में पड़कर व्याख्याता लोग सर्वथा विभक्त भी आत्मस्वरूपों का संकर कर दिया करते हैं। यही तो वह त्रिवृद्भाव है—जिसके मूलरूपों के आधार पर ब्राह्मणग्रन्थों के तत्त्वप्रतिपादक वे अनुगम-निगम वचन प्रतिष्ठित हुए हैं—जिन्हें वेदशास्त्र के परिभाषासूत्र कहा गया है एवं जिनके ज्ञानाभाव में वेदार्थ समन्वय असम्भव माना गया है और यही तो वह रहस्यपूर्ण त्रिवृद्भाव है—जिसके परिज्ञान के बिना गीताशास्त्र की आत्मशिक्षा सर्वथा तटस्थ बनी रह जाती है। परिलेख द्वारा उक्त त्रिवृद्भाव को लक्ष्य बनाइए और तदाधारेण अमृत-ब्रह्म-शुक्रानुगता प्रस्तुत द्वितीयदृष्टि का समन्वय कीजिए—



१
१–मनोमयं मनः (ज्ञानात्मकं मनः)
आनन्दः
विज्ञानम्
→मनः
२–मनोमयःप्राणः (ज्ञानात्मकःप्राणः)
मनः
→प्राणः
३–मनोमयी वाक् (ज्ञानात्मिका वाक्)
प्राणः
वाक्
→वाक्
स एष पञ्चकलस्त्रिवृतोऽव्ययः मनःप्रधानः (ज्ञानात्मा)
२
१–प्राणमयं मनः (क्रियात्मकं मनः)
अमृतो ब्रह्मा
अमृतो विष्णुः
→मनः
२–प्राणमयः प्राणः (क्रियात्मकः प्राणः)
अमृत इन्द्रः
→प्राणः
३–प्राणमयी वाक् (क्रियात्मिका वाक्)
अमृतोऽग्निः
अमृतःसोमः
→वाक्
स एष पञ्चकलस्त्रिवृतोऽक्षरः प्राणप्रधानः (कर्म्मात्मा)
३
१–वाङ्मयं मनः (अर्थात्मकं मनः)
मर्त्यो ब्रह्मा
मर्त्यो विष्णुः
→मनः
२–वाङ्मयः प्राणः (अर्थात्मकः प्राणः)
मर्त्य इन्द्रः
→प्राणः
३–वाङ्मयी वाक् (अर्थात्मिका वाक्)
मर्त्योऽग्निः
मर्त्यः सोमः
→वाक्
स एष पञ्चकल आत्मक्षरः वाक्प्रधानः (भूतात्मा)

प्रकारान्तरेण—


१
१–आनन्दः
२–विज्ञानम्
३–मनः
४–प्राणः
५–वाक्
→मनः
→प्राणः
→वाक्
→त्रिवृद्भावोपेतं मनः→अव्ययात्मा–'अमृतम्'–(मनोऽमृतम्)
२
१–अमृतब्रह्मा
२–अमृतविष्णुः
३–अमृत इन्द्रः
४–अमृतः-अग्निः
५–अमृतसोमः
→मनः
→प्राणः
→वाक्
→त्रिवृद्भावोपेतः प्राणः→अक्षरात्मा–'ब्रह्म'–(प्राणो ब्रह्म)
३
१–मर्त्यब्रह्मा
२–मर्त्यविष्णुः
३–मर्त्य इन्द्रः
४–मर्त्यः-अग्निः
५–मर्त्यसोमः
→मनः
→प्राणः
→वाक्
→त्रिवृद्भावोपेता वाक्→क्षरात्मा–'शुक्रम्'–(वाक्-शुक्रम्)

अन्य दृष्टि से अमृत–ब्रह्म–शुक्रत्रयी का समन्वय कीजिए–जो दृष्टि तत्त्ववाददृष्टि से विशेष महत्त्व रख रही है। बतलाया गया है कि–'तदेव' सिद्धान्तानुसार अमृत, ब्रह्म, शुक्र- ये तीनों एक ही अव्ययात्मा के विवर्त्त हैं। कैसे ? प्रश्न का उत्तर स्वयं अव्ययपुरुष दे रहा है। अव्ययपुरुष की आनन्द, विज्ञान, मनः, प्राण, वाक्–इन पाँचों कलाओं के विस्तार का ही नाम 'अमृतं- ब्रह्म- शुक्रम्' है। आनन्द-विज्ञान दोनों का एक स्वतन्त्र विभाग है, मन का एक स्वतन्त्र विभाग है, प्राण-वाक् का एक स्वतन्त्र विभाग है। आनन्दविज्ञानघन वही अव्ययात्मा ज्ञानात्मा है, मनोघन वही अव्ययात्मा कामात्मा है, प्राणवाग्घन वही अव्ययात्मा कर्म्मात्मा है। मध्यस्थ मन का सम्बन्ध 'देहलीदीपकन्याय'–से विद्याव्यय के साथ भी है, कर्म्माव्यय के साथ भी। फलतः आनन्दविज्ञानमन–यह ज्ञानात्मा का स्वरूप सिद्ध हो जाता है, मनःप्राणवाक्–यह कर्म्मात्मा का स्वरूप सिद्ध हो जाता है और यों मध्यस्थ काममय मन उभयात्मक बनता हुआ अव्यय के ज्ञान-कर्म्मविवर्त्तों में अन्तर्भूत हो जाता है।

अव्ययात्मानुगत आनन्द, विज्ञान, मन तीनों की समष्टि ही अव्ययात्मा का प्रातिस्विकस्वरूप है। यह अव्ययमन 'अन्तर्म्मन' कहलाया है, जिसे विज्ञानभाषा में 'श्वोवसीयस्'–श्वोवस्यस–आदि नामों से व्यवहृत किया गया है। यही अश्वत्थब्रह्म का पहला ज्ञानप्रधान अमृतात्मविवर्त्त, किंवा 'अमृतम्' है। अन्तर्म्मन (अव्यय) ही आगे जाकर **'एकोऽहं बहु स्याम्'**–इस कामना से सृष्ट्युन्मुख बनता हुआ बलचिति के तारतम्य से क्रमशः–मनः, प्राण, वाक्–इन तीनों स्वरूपों में परिणत हो जाता है। सृष्ट्युन्मुखावस्था में वही अन्तर्म्मन बहिश्चितिसम्बन्ध से 'बहिर्म्मन' कहलाने लगता है। बहिर्धर्म्मा-वच्छिन्न यह मन बलचिति से पहले प्राणरूप में परिणत होता है, अन्त में प्राण ही बलचिति से वाग्रूप में परिणत हो जाता है। और यों सृष्ट्युन्मुख वही अव्ययमन मनः-प्राण-वाग्रूपों में परिणत होकर सृष्टिकर्त्ता बन जाता है। आगे होने वाले यच्चयावत् सर्गों में मनोऽनुगत **काम**, प्राणानुगत **तप**, वागनुगत **श्रम**–ये तीनों सृष्ट्यनुबन्ध अपेक्षित रहते हैं। सृष्टिकर्त्ता मनःप्राणवाङ्मय–कर्म्माव्ययलक्षण यही अव्ययविवर्त्त 'अक्षरात्मा' कहलाया है। यही अश्वत्थब्रह्म का दूसरा कर्म्मप्रधान ब्रह्मात्मविवर्त्त, किंवा **'ब्रह्म'** है।

मनःप्राणवाङ्मय अक्षरात्मा का वाक्भाग ही विश्व का उपादान बनता है। दो शब्दों में इस की उपादनकारणता का भी स्वरूपविश्लेषण कर लीजिए। विश्वोपादनभूता इस अव्ययवाक् का वास्तविकस्वरूप है–'वौक्'। जिस 'वौक्' शब्द अर्थ है–**'मनःप्राणगर्भिता वाक्'**। अकार मन का वाचक है, उकार प्राण का वाचक है। अकार–उकार (मनः–प्राण)–दोनों को अपने गर्भ में रखने वाली वाक् ही 'वा–उ–अ–च्' रूप से वा–ओ–अच् द्वारा वौक् है। मनःप्राणगर्भिता यही 'वाक्' सत्या वेदवाक् है। **'सोऽपोऽसृजत वाच एव लोकात्'**[1]–श्रुति के अनुसार यही वाक् अंशरूप से सर्वप्रथम अब्रूप में परिणत होती है, जैसाकि–**'अप एव ससर्जादौ'**[2]–इत्यादि स्मृति से भी प्रमाणित है। **'तस्य वा एतस्याग्नेर्वागे-वोपनिषत्'**[3]–सिद्धान्तानुसार वेदवाक् सत्याग्निलक्षणा है। यही वागग्नि अब्रूप में परिणत हुआ है,

१ शत० ब्रा० ६।१।१।६।   २ मनुस्मृति १।८।   ३ शत० ब्रा० १०।५।१।१।

अतएव-'अग्नेरापः'[1]-सिद्धान्त का भी समन्वय हो रहा है। मनोरूप आलम्बन पर प्रतिष्ठित प्राण गति-तत्त्व है, वाक् स्थितितत्त्व है। गतिमान् प्राण वायु है, स्थितिमती वाक् आकाश है, प्राणवायु 'यत्' है, वागाकाश 'जू' है। यत्-जू की समष्टि 'यज्जू' है-यही अपौरुषेय यजुर्वेद है[2]। प्राणव्यापाररूप संघर्ष से वागग्नि द्रुत हो जाता है। वाक् की यह द्रुत अवस्था ही आपः है। प्राणवाग्रूपतत्त्व ब्रह्म था, उसका यह अब्रूप 'सुब्रह्म' कहलाया है[3] आपोमय इस सुब्रह्म में वागग्निमय ब्रह्म के प्राणानुगत गतिधर्म्म के तथावागनुगत स्थितिधर्म्मके समावेश से विकास-संकोच-ये धर्म्म उत्पन्न हो जाते हैं। आपः की विकासावस्था तेज-तत्त्व है, यही 'अङ्गिरा' कहलाया है। आपः की संकोचावस्था स्नेहतत्त्व है-यही भृगु कहलाया है। घन-तरल-विरलावस्थाभेद से गत्यनुगत तेजोलक्षण आपोमय अङ्गिरा की आगे चलकर अग्निः, यमः, आदित्य-ये तीन अवस्था हो जाती हैं। एवमेव स्नेहलक्षण आपोमय भृगु की भी आपः, वायुः, सोमः-ये तीन अवस्था हो जाती हैं। इस प्रकार भृगुत्रयी, अङ्गिरा-त्रयी के समन्वय से इस सुब्रह्म नामक 'आपः' के अवान्तर ६ विवर्त्त हो जाते हैं, अतएव इस आपोमय सुब्रह्म को-'षड्ब्रह्म' कहा जा सकता है। इस दृष्टि से षड्ब्रह्मात्मक सुब्रह्म के प्रभवभूत यजुर्ब्रह्म को 'यत्-जू' भेद से **'द्विब्रह्म'** माना गया है। द्विब्रह्म अग्नि है, सुब्रह्म सोम है। मातरिश्वावायु द्वारा द्विब्रह्माग्नि में षड्ब्रह्मसोम की आहुति होती है। इन दोनों नर-नारियों (ब्रह्म-सुब्रह्मों) के दाम्पत्य से ही दशकलोपेत विराट् का जन्म हुआ है-जिस विराट्-जन्म का विशद वैज्ञानिक विश्लेषण 'भक्तियोग परीक्षा' पूर्वखण्ड में विस्तार से किया जा चुका है। उक्त विश्लेषण से प्रकृत में बतलाना यही है कि यजुर्वाक् से समुत्पन्न आपः के ६ रूप ही 'आपः, अग्नि' शुक्रों के स्वरूपसंग्राहक बनते हैं। बतलाया गया है कि आपः का स्नेहलक्षण भृगुतत्त्व आपः-वायुः-सोम भेद से त्रिधाविभक्त है। आपः नील हैं, वायु हरित है, सोम पीत है। नील-हरित-पीतवर्णानुगत आपः, वायुः, सोम तीनों की समष्टि ही **'आपः शुक्रम्'** है। आपः का तेजोलक्षण अङ्गिरातत्त्व अग्नि-वायु-आदित्य, भेद से त्रिधाविभक्त है। अग्नि धूम्र है, वायु रक्त है, आदित्य हिरण्य है। धूम्र-रक्त-हिरण्यवर्णानुगत अग्नि, वायु, आदित्य-तीनों की समष्टि ही **'अग्निः शुक्रम्'** है। इन आपोमय दोनों शुक्रों का मूलप्रभव, अतएव मध्यस्थ कहा जा सकने वाला मनःप्राणगर्भित वाक्तत्त्व ही **'वाक्-शुक्र'** है, जो कि वर्णतः 'कृष्ण' माना गया है। इस प्रकार कृष्ण, नील, हरित, पीत, धूम्र, रक्त, हिरण्य-इन सातवर्णों की समष्टिरूप वाक्-आपः-अग्नि ही (वाक्-भृगु-अङ्गिरा ही) वह शुक्रत्रयी है, जिस का मनःप्राणगर्भिता अव्ययवाक् से विकास हुआ है। मनःप्राणगर्भित वाक्, आपः, अग्निलक्षण आत्म-क्षरविवर्त्त ही 'आत्मक्षरात्मा' कहलाया है। यही अश्वत्थब्रह्म का तीसरा अर्थप्रधान शुक्रात्मविवर्त्त किंवा 'शुक्र' है। इस प्रकार आनन्द-विज्ञान-मनोघन अव्ययात्मा के वितान से षोडशीपुरुष अमृत, ब्रह्म, शुक्र--इन तीन विवर्त्तभावों में परिणत हो रहा है, जैसाकि परिलेख से स्पष्ट है

१ तैत्ति० उप० २।१।

२ शत० ब्रा० १०।३।५।२।

३ द्रष्टव्य गोपथ ब्रा०

१	१–आनन्दः २–विज्ञानम् ३–मनः ४–प्राणः ५–वाक्	→(१)–आनन्दः →(२)–विज्ञानम् →(३)–मनः	→अव्ययात्मा–'अमृतम्' (सैषा अमृतत्रयी) →(अन्तर्म्मनः)
२	१–अमृतब्रह्मा २–अमृतविष्णुः ३–अमृत इन्द्रः ४–अमृतः-अग्निः ५–अमृतसोमः	→(१)–मनः →(२)–प्राणः →(३)–वाक्	→(बहिर्म्मनः) →अक्षरात्मा–'ब्रह्म' (सैषा ब्रह्मत्रयी)
३	१–मर्त्यब्रह्मा २–मर्त्यविष्णुः ३–मर्त्य इन्द्रः ४–मर्त्यः-अग्निः ५–मर्त्यसोमः	→(१)–वाक् →(२)–आपः (भृगुः) →(३)–अग्निः (अङ्गिरा)	→आत्मक्षरात्मा-'शुक्रम्' (सैषा शुक्रत्रयी)

त्रिवृद्वा अयमात्मा ब्रह्म

विश्वोपादनभूत वाक्–आपः–शुक्रमय क्षरात्मा ही आगे चलकर शुक्रद्वारा पञ्चपुरोत्पत्ति का कारण बनता हुआ पञ्च प्राकृतात्माओं का स्वरूपसंग्राहक बनता है। वाक्, आपः, अग्नि–ये तीनों शुक्र अमृत-मृत्युभेद से दो दो भागों में विभक्त हैं। फलतः ३ के ६ शुक्र हो जाते हैं। इनमें अमृतशुक्रत्रयी

अमृतविश्व की प्रतिष्ठा बनती है एवं मर्त्या शुक्रत्रयी मर्त्यविश्व की प्रतिष्ठा बनती है। अमृत-वाक्-शुक्र स्वयम्भू-पुर का, अमृतवाक्शुक्रगर्भित अमृत-आप-शुक्र परमेष्ठी-पुर का, अमृत-वाक्-अब्गर्भित अमृताग्निशुक्र अमृतसूर्य्य का स्वरूपसमर्पक बनता है। स्वयम्भू, परमेष्ठी, अमृतसूर्य्य–ये तीनों विश्वपर्वों की समष्टि ही अमृतविश्व है, जिसे विश्वकर्म्मा का परमधाम माना गया है। अमृतशुक्र का उपक्रमस्थान स्वयम्भू है, उपसंहारस्थान अमृतसूर्य्य है, अतएव स्वयम्भू में वाक्शुक्र की, परमेष्ठी में वाक्–आपः इन दो शुक्रों की एवं अमृतसूर्य्य में वाक्, आपः, अग्नि–इन तीन अमृतशुक्रों की सत्ता सिद्ध हो जाती है। मर्त्याशुक्रत्रयी का उपक्रमस्थान भूपिण्ड है, उपसंहारस्थान मर्त्यसूर्य्य है। जिसका तात्पर्य्य यह है कि मर्त्यवाक्शुक्र से भूपुर का, मर्त्यवाक्शुक्रगर्भित आपः शुक्र से चन्द्रपुर का, मर्त्यवाक्–अब्गर्भित मर्त्याग्निशुक्र से मर्त्यसूर्य्य का स्वरूप सम्पन्न होता है। फलतः भूपुर में मर्त्यवाक्शुक्र की, चन्द्रपुर में मर्त्यआपः-वाक्–इन शुक्रों की एवं मर्त्यसूर्य्य में मर्त्यवाक्-आपः-अग्नि–ये तीन शुक्रों की सत्ता सिद्ध हो जाती है। स्वयम्भू केवल अमृतवाङ्मय है, परमेष्ठी केवल अमृतवागापोमय है, चन्द्रमा केवल मर्त्यवागापोमय है, भूपिण्ड केवल मर्त्यवाङ्मय है। किन्तु मध्यस्थ सूर्य्य 'अमृतमर्त्यवागापोऽग्निमय' बनता हुआ सर्वरूप है। इसी आधार पर रोदसी तथा स्तौम्य त्रिलोकी का तथा तत्प्रतिष्ठ जड़–चेतन प्रजा का आत्मा सूर्य्य ही मान लिया जाता है, जैसा कि **'नूनं जनाः सूर्य्येण प्रसूताः'–'सूर्य्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च'**–इत्यादि श्रुतियों से प्रमाणित है। सूर्य्य से ऊपर परमधामात्मक अमृतशुक्र का साम्राज्य, सूर्य्य से नीचे–**'तद्यत् किञ्चार्वाचीनमादित्यात्–सर्वं तन्मृत्युनाऽऽप्तम्'**–के अनुसार मर्त्यशुक्र का साम्राज्य एवं सूर्य्य में मर्त्य–अमृत दोनों शुक्रों का साम्राज्य है, जैसा कि परिलेख से स्पष्ट है—

१	१–अमृता वाक्	→अमृता वाक् (वाक्)→१	→ततः स्वयम्भुपुरोत्पत्तिः	→स्वयम्भूः	→अमृतम्	परमधाम
२	१–अमृता वाक् २–अमृता आपः	→अमृता आपः (आपः)→२	→ततः परमेष्ठिपुरोत्पत्तिः	→परमेष्ठी		
३	१–अमृता वाक् २–अमृता आपः ३–अमृतोऽग्निः → ४–मर्त्योऽग्निः → ५–मर्त्या आपः ६–मर्त्या वाक्	→अमृतोऽग्निः (अग्निः)→३ →मर्त्योऽग्निः (अग्निः)→३	→ततः सूर्य्यपुरोत्पत्तिः	→सूर्य्यः	→अमृतमृत्युः	मध्यमधाम
४	१–मर्त्या आपः २–मर्त्या वाक्	→मर्त्या आपः (आपः)→२	→ततः चन्द्रपुरोत्पत्तिः	→चन्द्रमाः	→मृत्युः	अवमधाम
५	१–मर्त्या वाक्	→मर्त्या वाक् (वाक्)→ १	→ततः भूपुरोत्पत्तिः	→भूः		

विश्वमर्य्यादा के गर्भ से सम्बन्ध रखने वाले ऋषि-पित्तर-देव-असुर-गन्धर्व-मानव-पशु सब कुछ इसी क्षरानुगत शुक्रात्मा के आश्रित हैं, जिस शुक्रात्मा का मौलिकस्वरूप 'वाक्-शुक्र' माना गया है। पाठक पूर्वतालिका में देख रहे हैं कि उपक्रम में (स्वयम्भू में) भी वाक् है, उपसंहार (भूपिण्ड) में भी वाक् है। इस प्रकार अवारपारीण वाक् ही व्याप्त हो रही है, जो वाक् प्राणेन्द्र सम्बन्ध से विज्ञानभाषा में 'इन्द्रपत्नी' कहलाई है। इसी आधार पर सम्पूर्ण विश्वप्रपञ्च वाङ्मय माना गया है, जैसाकि निम्नलिखित श्रुतियों से स्पष्ट है—

१—"वागक्षरं प्रथमजा ऋतस्य वेदानां माताऽमृतस्य नाभिः।
सा नो जुषाणोपयज्ञमागादवन्ती देवी सुहवा मेऽस्तु ॥[1]

२—वाचं देवा उपजीवन्ति विश्वे, वाचं गन्धर्वाः, पशवो मनुष्याः।
'वाचीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता' सा नो हवं जुषतामिन्द्रपत्नी ॥[2]

३—वाचा वै वेदाः सन्धीयन्ते, वाचा छन्दांसि वाचा मित्राणि संदधति,
वाचा सर्वाणि भूतानि। अथो वागेवेदं सर्वम्" ॥[3]

मनोब्रह्म अमृतात्मा है, प्राणब्रह्म ब्रह्मात्मा है, वाग्ब्रह्म शुक्रात्मा है और यों अमृत-ब्रह्म-शुक्ररूप से आत्मा सर्वत्र व्याप्त हो रहा है। शुक्रात्मा के सम्बन्ध में एक विश्लेषण और कर लेना चाहिए। पूर्व में हमने शुक्रात्मा को आत्मक्षरात्मा कहा है। वस्तुगत्या शुक्रात्मा का विकारकोटि में ही अन्तर्भाव माना जाएगा। कारण स्पष्ट है। जिस वाक् तत्व से वाक्, आपः, अग्नि-इन तीन शुक्रों का वितान बतलाया गया है, उसी वाक् को हमने पूर्व में 'यजुर्वाक्' कहा है, आपः को भृग्वङ्गिरा-मय सुब्रह्म कहा है। यजुर्भाव वेदपुरञ्जन है, इसी के **ब्रह्मनिःश्वसित, ब्रह्मस्वेद, गायत्रीमात्रिक**, नामक तीन विवर्त्त हो जाते हैं। स्वायम्भुवी वाक् ब्रह्मनिःश्वसित त्रयीवेद है, यही वाक्शुक्र है, यही वेदपुरञ्जन है, इसी से स्वयम्भूपुर उत्पन्न हुआ है। पारमेष्ठ्य आपः ब्रह्मस्वेदवेद है, यही चतुर्थ अथर्ववेद है, यही आपः शुक्र है, यही लोकपुरञ्जन है, इसी से परमेष्ठिपुर का स्वरूप निर्म्माण हुआ है। सौर अग्नि गायत्रीमात्रिक-वेद है, यही पौरुषेय वेदत्रयी है, यही अग्निशुक्र है, यही देवपुरञ्जन है, इसी से सूर्य्यपुर समुद्भूत है। इस प्रकार वाक्–आपः–अग्निः इन तीनों शुक्रों का पुरञ्जनत्व सिद्ध हो रहा है। पुरञ्जन पञ्च पञ्चीकृत हैं, इनके मूल पञ्चीकृत प्राणादि हैं, पञ्चीकृत प्राणादि के मूल अपञ्चीकृत विशुद्ध विश्वसृट् नामक विकारक्षर हैं और इन विकारक्षरों के मूल आत्मक्षर हैं। इस परम्परा से आत्मक्षर का विकारकोटि में भी अन्तर्भाव माना जा सकता है एवं आत्मकोटि में भी। आत्मक्षर चूंकि उभयधर्म्माक्रान्त है, अतएव अमृतात्म-

१ तै० ब्रा० २।८।८।५।
२ तै० ब्रा० २।८।८।४-५।
३ ऐ० आ० ३।१।६।

सम्बन्ध से इसे–आत्मा, मर्त्यविकारसम्बन्ध से क्षर, समष्टिरूप से 'आत्म-क्षर' कहा गया है। आत्मक्षर से उत्पन्न विकार, तदुत्पन्न–पञ्चजन, तदुत्पन्न पुरञ्जनरूप शुक्रों का तो इस दृष्टि से सर्वथा वैकारिकत्व ही सिद्ध हो रहा है।

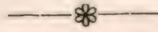
उक्त विश्लेषण का प्रकृत में एक विशेष प्रयोजन है। आत्मशिक्षा से सम्बन्ध रखने वाला आत्मविवर्त्त अमृतविवर्त्त, ब्रह्मविवर्त्त, शुक्रविवर्त्त–इन तीन भागों में विभक्त माना गया है। तीनों क्रमशः '४–५–३'–इस संख्याक्रम में विभक्त हैं। सम्भूय ईश्वरात्मविवर्त्त के अवान्तर १२ विवर्त्त हो जाते हैं। परात्पर, अव्यय, अक्षर, आत्मक्षर–ये चार अमृतात्मविवर्त्त हैं। प्राणमय स्वयम्भू, आपोमय परमेष्ठी, वाङ्मय सूर्य्य, अन्नमय चन्द्रमा, अन्नादमय भूपिण्ड–ये पाँच ब्रह्मात्मविवर्त्त हैं एवं इन्द्रमय सर्वज्ञ, वायुमय हिरण्यगर्भ, अग्निमय विराट्–ये तीन शुक्रात्मविवर्त्त हैं। शुक्रात्मत्रयी वैकारिक है, ब्रह्मात्मपञ्चक प्राकृतिक है, अमृतात्मचतुष्टयी पौरुष है। अमृतात्म विवर्त्त अमृतसत्य है, ब्रह्मात्मविवर्त्त ब्रह्मसत्य है, शुक्रात्मविवर्त्त देवसत्य है। देवसत्य **ईश्वरात्मा** है, ब्रह्मसत्य **उपेश्वरात्मा** है, अमृतसत्य **महेश्वरात्मा** है। विश्व में महेश्वर एक है, उपेश्वर पाँच हैं, ईश्वर एक है। पूर्व में शुक्रस्वरूप निरूपण द्वारा पञ्चोपेश्वरों का ही निरूपण हुआ है। स्वयम्भु–परमेष्ठि–सूर्य्य–चन्द्र–भू–पाँचों पुरत्वेन विश्व हैं एवं हृदयस्थ प्राकृतात्मदृष्टया ये ही प्राकृतात्मा हैं। इस प्राकृतात्म-स्वरूप परिचय के लिए इन पाँचों के **'आत्मा-पदं-पुनःपदम्'**–इन तीनों विवर्त्तों का स्वरूप-परिचय प्राप्त कर लेना आवश्यक है। इन पाँचों के केन्द्र में अवस्थित क्रमशः प्राण–आपः–वाक्–अन्न–अन्नादप्रधान विकारक्षरात्मा आत्मा है। इसी दृष्टि से स्वयम्भु आदि पुरों को 'आत्मा' (ब्रह्मात्मा–उपेश्वर) कहा जाएगा। हृदयावच्छिन्न पाँचों पिण्ड 'पदम्' नाम से व्यवहृत हुए हैं। इन पदात्मक स्वयम्भू आदि पाँचों पिण्डों में पिण्डापेक्षया स्वयम्भू सर्वोपरि है, इस से नीचे परमेष्ठी है, परमेष्ठी से नीचे सूर्य्य है, सूर्य्य से नीचे चन्द्रमा (दृश्यस्थित्यनुसार) है, सर्वान्त में भूपिण्ड है। इन पदात्मक पिण्डों के आत्मा का सम्बन्ध जहाँ प्राणादिपञ्चविकारक्षर नामक पञ्च ब्रह्मों से है, वहाँ स्वयं पदात्मक पिण्डों का स्वरूप निर्म्माण पूर्वकथानुसार वागापः-अग्निः शुक्रों से हुआ है। ब्रह्मात्मानुगत स्वयम्भू–परमेष्ठ्यादि जहाँ प्राण–आपः–वाक्–अन्न–अन्नादमय कहलाए हैं, वहाँ शुक्रानुगत स्वयम्भू–परमेष्ठ्यादि वाक्–आपः–अग्निमयादि कहलाए हैं। पाँचों पदात्मक पिण्डों से हृदय को मूल बनाकर तत्तत् पदानुगत प्राणवितान से बहिर्म्मण्डल का स्वरूप सम्पन्न होता है, जो बहिर्म्मण्डल–**'साहस्री-वैश्वरूप-महिमा'** आदि नामों से व्यवहृत हुआ है। यही बहिर्म्मण्डल 'पुनः पदम्' कहलाया है। यही उस हृदयस्थ आत्मा की विभूति है। स्वयम्भू का बहिर्म्मण्डल **'आकाश'** नाम से, परमेष्ठी का **'समुद्र'** नाम से, सूर्य्य का **'सम्वत्सर'** नाम से, चन्द्रमा का **'नक्षत्र'** नाम से एवं भूपिण्ड का **'आन्द'** नाम से व्यवहृत हुआ है। स्वायम्भुव आकाशमण्डल में शेष चारों पिण्ड सबहिर्म्मण्डल प्रतिष्ठित हैं। पारमेष्ठ्य समुद्रमण्डल में शेष तीनों पिण्ड सबहिर्म्मण्डल अवस्थित हैं। सौर सम्वत्सरमण्डल में शेष दोनों पिण्ड सबहिर्म्मण्डल अवस्थित हैं। भौम आन्दमण्डल के गर्भ में सबहिर्म्मण्डल चन्द्रमा प्रतिष्ठित है। इस प्रकार से उत्तर-उत्तर का पिण्ड अपने-अपने बहिर्म्मण्डल सहित पूर्व-पूर्व के पिण्ड के बहिर्म्मण्डल में भुक्त है एवं इसी सम्बन्ध को **'वसुधानकोशात्मक-दहरोत्तरसम्बन्ध'** कहा गया है। तात्पर्य्य कहने का यही है कि शुक्र का सम्बन्ध पिण्डात्मक (पुरात्मक-विश्वात्मक) स्वयम्भू आदि के साथ है

एवं प्राणादिपञ्चलक्षण विकारात्मा लक्षण ब्रह्म का सम्बन्ध पिण्डहृदयस्थ आत्मा के साथ है। ब्रह्मानुगत आत्मविवर्त्त, शुक्रानुगत पिण्डविवर्त्त दोनों नामदृष्टया समान हैं। इस नामसाम्य से चूँकि ब्रह्म-शुक्र विभेद में सन्देह स्वाभाविक था, अतएव 'आत्मा-पदं-पुनःपदम्' रूप से इसका प्रासङ्गिक विश्लेषण करना पड़ा।

अब प्रश्न शेष रह गया शुक्रात्मा का। शुक्रषट्क से स्वयम्भू–आदि पाँच पदात्मक पिण्डों का स्वरूप निर्म्माण हो गया। इन शुक्रात्मक पाँच पिण्डों से सम्बन्ध रखने वाले प्राणादि लक्षण पाँच आत्म-विवर्त्त तो ब्रह्मात्मक हैं, पिण्ड आत्मा कहला नहीं सकते। फिर शुक्रात्मा के वे तीन विवर्त्त कौन से रहे, जिन्हें देवसत्यलक्षण ईश्वरात्मा कहा गया है? **'देवसत्य-विज्ञान'** ही इस प्रश्न का समाधान कर रहा है। पाँचों शुक्रात्मक पिण्डों में से सर्वान्त के वाक्-शुक्रमय भूपिण्ड को लक्ष्य बनाइए। यह शुक्रदृष्टया जहाँ वाङ्मय है, वहाँ ब्रह्मदृष्टया अग्निमय है। वाक् और अग्नि तत्त्वतः अभिन्न हैं। इस वागग्नि के गर्भ में प्राणाग्नि प्रतिष्ठित है, प्राणाधार मन है। मन पर प्राणाग्नि हित है, प्राणाग्नि पर वागग्नि उपहित है। इसी आधार पर **'प्राणो हितः, वागुपहिता'** निगम प्रतिष्ठित हुआ है। उपहित वागग्नि मर्त्याग्नि है, इससे भूपिण्ड का मर्त्यस्वरूप सम्पन्न हुआ है। यही मर्त्यवागग्नि 'भूताग्नि-चित्याग्नि' आदि नामों से व्यवहृत हुआ है, जिसका ब्रह्मसत्य में अन्तर्भाव है। दूसरा प्राणाग्नि अमृताग्नि है, यही 'देवाग्नि-चितेनिधेयाग्नि' आदि नामों से व्यवहृत हुआ है, जिसे 'देवसत्य' कहा जाता है। देवसत्यात्मक यह भौम प्राणाग्नि भूपिण्ड केन्द्र से आरम्भ कर इन्द्राविष्णू द्वारा होने वाली अप्-स्पर्द्धा से ऊर्ध्व वितत होता है। ऊर्ध्व वितत यही प्राणाग्निमण्डल 'यदप्रथयत्' मर्य्यादा से 'पृथिवी' कहलाया है, जो पार्थिव-मण्डल पूर्व में 'आन्द' नाम से व्यवहृत हुआ है। इस पार्थिवमण्डल के २१वें अहर्गणपर्य्यन्त व्याप्त रहने वाले इस प्राणाग्नि की घनावस्था अग्नि है, तरलावस्था वायु है, विरलावस्था आदित्य है और ये ही प्राणाग्नि के तीनों विवर्त्त त्रिवृत्स्तोमावच्छिन्न महापृथिविभुक्त पृथिवीलोक, पञ्चदशस्तोमावच्छिन्न महापृथिवीभुक्त अन्तरिक्षलोक, एकविंशस्तोमावच्छिन्न महापृथिवीभुक्त द्युलोक, इन तीनों स्तौम्य-पार्थिव लोकों के अतिष्ठावा माने गए हैं। इनमें त्रिवृत् प्राणाग्नि अर्थप्रधान है, पञ्चदश प्राणाग्नि (वायु) क्रियाप्रधान है, एकविंश प्राणाग्नि (आदित्य) ज्ञानप्रधान है। अर्थप्रधान प्राणाग्नि (अग्नि) में इतर दोनों अग्नियों (वाय्वादित्यों) की आहुति से समुत्पन्न अग्निवाय्वादित्यमूर्त्ति अग्निप्रधान, अतएव अर्थ-प्रधान देवता **'विराट्'** कहलाया है। क्रियाप्रधान प्राणाग्नि (वायु) में इतर दोनों अग्नियों (अग्न्या-दित्यों) की आहुति से समुत्पन्न अग्निवाय्वादित्यमूर्त्ति वायुप्रधान, अतएव क्रियाप्रधान देवता **'हिरण्य-गर्भ'** कहलाया है। ज्ञानप्रधान प्राणाग्नि (आदित्य) में इतर दोनों अग्नियों (अग्नि-वायु) की आहुति से समुत्पन्न अग्निवाय्वादित्यमूर्त्ति आदित्यप्रधान, अतएव ज्ञानप्रधान देवता **'सर्वज्ञ'** कहलाया है। 'सर्वज्ञ-हिरण्यगर्भ-विराट्' इन तीनों देवात्माओं की समष्टि ही शुक्रात्मा है, यही 'साक्षी देवसत्यात्मा' है। इसी का उपनिषदों में **'सर्वभूतान्तरात्मा'** नाम से यशोगान हुआ है। यही जीवात्मसंस्था का साक्षी-सुपर्ण है और यही ईश्वरात्मानुगता आत्मशिक्षा का संक्षिप्त वैज्ञानिक विश्लेषण है, जिसका निम्न-लिखित परिलेखों से स्पष्टीकरण हो रहा है—

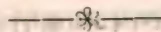
शुक्रविवर्त्तपरिलेखः-

१-अमृता वाक्→वाक्→	ततः स्वयम्भुपदोद्भवः	
२-अमृता आपः→आपः→	ततः परमेष्ठिपदोद्भवः	पुरञ्जनात्मिका-शुक्रानुगता-
३-अमृतोऽग्निः→अग्निः ४-मर्त्योऽग्निः→अग्निः	→ततः सूर्य्यपदोद्भवः	→लोकसृष्टिः तदिदं- भूतसत्यम्
५-मर्त्या आपः→आपः→	ततः चन्द्रपदोद्भवः	
६-मर्त्या वाक्→वाक्→	ततः भूपिण्डपदोद्भवः	



पुरञ्जनपरिलेखः-

१-ब्रह्मनिःश्वसितवेदः	(ब्रह्म)→प्राणमयोवेदः	(तन्मया वेदाः-	वेदपुरञ्जनम्-वाक्शुक्रम्)
२-ब्रह्मस्वेदवेदः	(सुब्रह्म)→आपोमयोवेदः	(तन्मया लोकाः-	लोकपुरञ्जनम्-आपःशुक्रम्)
३-गायत्रीमात्रिकवेदः	(ब्रह्म)→वाङ्मयोवेदः	(तन्मया देवाः-	देवपुरञ्जनम्-अग्निःशुक्रम्)
४-यज्ञमात्रिकवेदः	(सुब्रह्म)→अन्नमयो वेदः	(तन्मयाः पशवः-	पशुपुरञ्जनम्-आपःशुक्रम्)
५-भूतमात्रिकवेदः	(ब्रह्म)→अन्नादमयो वेदः	(तन्मयानि भूतानि-	भूतपुरञ्जनम्-वाक्शुक्रम्)



देवसत्यानुगतपार्थिवत्रैलोक्यपरिलेखः—

३-एकविंशस्तोमावच्छिन्ना द्यौः→आदित्यमयी	
२-पञ्चदशस्तोमावच्छिन्नमन्तरिक्षम्→वायुमयम्	→त्रैलोक्यात्मिका महापृथिवी (स्तौम्यत्रिलोकी)
१-त्रिवृत्स्तोमावच्छिन्ना पृथिवी——→अग्निमयी	

*—भूपिण्डः ↑

१–पुरञ्जनात्मक (शुक्रद्वारासमुद्भूत) भूतात्म (विश्व) परिलेखः—

१–वाङ्मयः→स्वयम्भुपिण्डः २–वागापोमयः→परमेष्ठिपिण्डः	→अमृतविश्वम्		→मर्त्यविश्वं–'भूतात्मा' १ (ईश्वरशरीरलक्षणः)
३–वागापोऽग्निमयः ३–अग्न्यापोवाङ्मयः	→सूर्य्यपिण्डः]	→अमृतमर्त्यविश्वम्	
२–वागापोमयः→चन्द्रपिण्डः १–वाङ्मयः——→भूपिण्डः	→मर्त्यविश्वम्		



२–शुक्रात्मक-देवसत्यमयसर्वभूतान्तरात्मपरिलेखः—

३–अग्निवाय्वादित्यमूर्त्तिः, आदित्यप्रधानः, ज्ञानप्रधानः सर्वज्ञात्मा २–अग्निवाय्वादित्यमूर्त्तिः, वायुप्रधानः, क्रियाप्रधानो हिरण्यगर्भात्मा १–अग्निवाय्वादित्यमूर्त्तिः, अग्निप्रधानः, अर्थप्रधानो विराडात्मा	→सर्वभूतान्तरात्मा शुक्रात्मा २ (ईश्वरलक्षणः)



३–ब्रह्मात्मक-ब्रह्मसत्यमयप्राकृतात्मपञ्चकपरिलेखः—

१–स्वयम्भूः–प्राणप्रकृतिकः→प्राणात्मा ब्रह्म २–परमेष्ठी–अप्प्रकृतिकः–→अबात्मा ब्रह्म ३–सूर्य्य ——वाक्प्रकृतिकः→वागात्मा ब्रह्म ४–चन्द्रमाः–अन्नप्रकृतिकः→अन्नात्मा ब्रह्म ५–भूपिण्डः-अन्नादप्रकृतिकः→अन्नादात्मा ब्रह्म	→पञ्चधाविभक्तो ब्रह्म सत्यात्मा (प्राकृतः)– (उपेश्वरलक्षणः)



आत्म-पद–पुनःपदरूपेण समहिमोपेश्वरविवर्त्तपरिलेखः—

१ आत्मा	२ पदम् (पिण्डः)	३ पुनःपदम् (मण्डलम्)	
१–प्राणात्मा-स्वयम्भूः→	१–वाङ्मयः स्वयम्भूः→	आकाशः	आत्मपदपुनः–→पदविशिष्टो ब्रह्मसत्यात्मा
२–अबात्मा परमेष्ठी→	२–आपोमयः परमेष्ठी→	समुद्रः	
३–वागात्मा सूर्य्यः→	३–आग्नेयः सूर्य्यः—→	सम्वत्सरः	
४–अन्नात्मा चन्द्रमाः→	४–आपोमयश्चन्द्रमाः→	नक्षत्रम्	
५–अन्नादात्मा भूपिण्डः→	५–वाङ्मयो भूपिण्डः→	आन्दम्	

(१) ब्रह्मसत्यात्मा→(२)→ब्रह्मसत्यात्मनः→(३)→शरीरमहिमा
(आत्मा) शरीरम् (पदम्) (पुनः पदम्)



४–अमृतात्मक-अमृतसत्यमयपौरुषात्मचतुष्टयी-परिलेखः—

१–सर्वबलविशिष्टरसैकघनः परात्परो भूमा→परात्परात्मा	→चतुष्पर्वा-अमृतसत्यात्मा
२–आनन्दविज्ञानमनः प्राणवाग्घनोऽव्ययः→अव्ययात्मा	
३–अमृतब्रह्मेन्द्रविष्णवग्निसोमरूपोऽक्षरः →अक्षरात्मा	
४–मर्त्यब्रह्मेन्द्रविष्णवग्निसोमरूपः–आत्मक्षरः→आत्मक्षरात्मा	



सर्वसंग्रहपरिलेखः —

१–	(१)–१–सर्वबलविशिष्टैकरसघनः———परात्परात्मा	(१२)	–चतुष्पर्वा मायी 'महेश्वरः' (अमृतात्मा) अमृतसत्यात्मा-'अमृतम्'
	(२)–२–आनन्दविज्ञानमनप्राणवाग्घनः——अव्ययात्मा	(११)	
	(३)–३–अमृतब्रह्माविष्णुइन्द्रअग्निसोममयः- अक्षरात्मा	(१०)	
	(४)–४–मर्त्यब्रह्माविष्णुइन्द्रअग्निसोममयः—आत्मक्षरात्मा	(९)	
२–	(५)–१–वाङ्मयस्वयम्भुपिण्डहृदये प्रतिष्ठितः— प्राणमयः स्वयम्भूः	(८)	→पञ्चपर्वा-उपेश्वरः (ब्रह्मात्मा) ब्रह्मसत्यात्मा 'ब्रह्म'
	(६)–२–आपोमयपरमेष्ठिपिण्डहृदये प्रतिष्ठितः–आपोमयः परमेष्ठी	(७)	
	(७)–३–वाग्अग्निमयसूर्य्यपिण्डहृदये प्रतिष्ठितः— वाङ्मयः सूर्य्यः	(६)	
	(८)–४–आपोमयचन्द्रपिण्डहृदये प्रतिष्ठितः——अन्नमयश्चन्द्रमाः	(५)	
	(९)–५–वाङ्मयभूपिण्डहृदये प्रतिष्ठितः———अन्नादमयो भूपिण्डः	(४)	
३–	(१०)–१–अग्निवाय्वादित्यमूर्त्तिः—आदित्यप्रधानः— सर्वज्ञात्मा	(३)	→त्रिपर्वा ईश्वरः (शुक्रात्मा) देवसत्यात्मा 'शुक्रम्'
	(११)–२–अग्निवाय्वादित्यमूर्त्तिः—वायुप्रधानः—— हिरण्यगर्भात्मा	(२)	
	(१२)–३–अग्निवाय्वादित्यमूर्त्तिः– अग्निप्रधानः—–विराडात्मा	(१)	

स एष द्वादशधा विभक्तः-ईश्वरात्मव्यूहः-द्वादशाक्षरजगतीछन्दोऽनुगत-जगद्विभूत्वा सम्परिष्वक्तः-यत् किञ्चजगत्यां जगत्-तत्सर्वमत्र द्वादशम्-कर्ता-ईशात्मनि-प्रतिष्ठितः-इत्याहुराचार्य्याः—

'ईशावास्यमिदं सर्वं, यत् किञ्च जगत्यां जगत्'



आत्मशिक्षा का लक्ष्य है-जीवात्मा, अतएव जीवात्मस्वरूप परिचय इस शिक्षा से प्रधानरूपेण सम्बद्ध है। ईश्वरात्मा ही जीवात्मा का वास्तविक स्वरूप है, अतएव इस द्वितीय आत्मशिक्षा में सर्वप्रथम ईश्वरात्मविवर्तों का दिग्दर्शन कराना पड़ा, जिससे जीवात्मस्वरूप-निरूपण भी गतार्थ बन रहा है। जो आत्मपर्व ईश्वरसंस्था में हैं, वे ही आत्मपर्व इस जीवसंस्था में हैं। केवल शुक्रवर्गीय आत्मविवर्तों के स्वरूप में विभेद है। ईश्वरीय अमृतात्मसम्बन्धी परात्परात्मा **अभयात्मा** है। अव्ययात्मा **आलम्बनात्मा**

है, अक्षरात्मा **नियन्तात्मा** है, आत्मक्षरात्मा परिणाम्यात्मा है, इन चारों की समष्टि अध्यात्मानुगत पुरुषात्मा है, यही आध्यात्मिक अमृतसत्यात्मा है। ईश्वरीय ब्रह्मात्मसम्बन्धी स्वायम्भुनामक प्राणात्मा यहाँ **शान्तात्मा** कहलाया है, यही दर्शनभाषा में 'अव्यक्तम्' कहलाया है। परमेष्ठि नामक अबात्मा यहाँ **महानात्मा** कहलाया है, यही दार्शनिक 'महान्' है। सूर्य्यनामक वागात्मा यहाँ **विज्ञानात्मा** कहलाया है, वही दर्शनानुगता 'बुद्धि' है। चन्द्रमा नामक अन्नात्मा यहाँ **प्रज्ञानात्मा** कहलाया है, यही दर्शनसम्मत 'मन' है। भूपिण्डनामक अन्नात्मा से सम्बन्धपश्वदेववर्गानुगत भूतात्मा यहाँ **प्राणात्मा** कहलाया है, यही दर्शनाभिमत 'इन्द्रिय' है। इन पाँचों की समष्टि ही आध्यात्मिक प्राकृतात्मा है, यही आध्यात्मिक ब्रह्मसत्या है।

अब तीसरे शुक्रवर्गीय आत्मविवर्त को लक्ष्य बनाइए। ईश्वरात्मविवर्त में शुक्रात्मविवर्त जहाँ तीन भागों में विभक्त था, वहाँ जीवात्मविवर्त में इसी शुक्रात्मा के अवान्तर ९ विवर्त हो जाते हैं। फलतः १२ के स्थान में जीवसंस्था में १८ आत्मविवर्त हो जाते हैं। पार्थिव अग्नि से **शरीरात्मा** का स्वरूप सम्पन्न होता है, यही बाह्यात्मा है। पार्थिव भूवायु से **हंसात्मा** का स्वरूप निष्पन्न होता है। पार्थिव इन्द्र से यज्ञ द्वारा **दिव्यात्मा** का स्वरूपनिर्म्माण होता है और इस आत्मा का केवल यज्ञिय मानवों से ही सम्बन्ध है। पार्थिव विराडात्मा का अंश यहाँ **वैश्वानरात्मा** कहलाया है, हिरण्यगर्भात्मा का अंश यहाँ **तैजसात्मा** कहलाया है, सर्वज्ञ का अंश यहाँ 'प्राज्ञ' कहलाया है। इन ६ आत्मविवर्तों के अतिरिक्त त्रिविध ईश्वरात्मा का इस जीवसंस्था में भोग और हो रहा है। अध्यात्मभुक्त वे तीनों ईश्वरीय विवर्त ऊर्क्लक्षण **सत्यात्मा**, श्रीलक्षण **यज्ञात्मा**, विभूतिलक्षण **सर्वभूतान्तरात्मा**–इन नामों से व्यवहृत हुए हैं। शरीरात्मा, हंसात्मा, दिव्यात्मा तीनों क्रमशः भूत-वायु-प्राणात्मक बनते हुए क्रमशः वाक्-आपः-अग्नि–इन शुक्रों से सम्बद्ध हैं, यही प्रथम त्रिकसमष्टि-रूप से 'आध्यात्मिक' 'भूतात्मा' कहलाया है। वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञ तीनों क्रमशः अग्नि-वायु-इन्द्रमय बनते हुए क्रमशः अग्नि-आपः-वाक् शुक्रों से सम्बद्ध हैं। तीनों की समष्टि आध्यात्मिक 'जीवात्मा' है। सत्यात्मा-यज्ञात्मा-सर्वभूतान्तरात्मा तीनों क्रमशः ऊर्क्, श्री, विभूतिमय बनते हुए क्रमशः वाक्-आपः-अग्निः इन शुक्रों से सम्बद्ध हैं। तीनों की समष्टि ही आध्यात्मिक **ईश्वरात्मा** कहलाया है। इस प्रकार वाक्-आपः-अग्निः–इन तीन शुक्रों के व्युदूहन से शुक्रवर्गीय नो आत्मा हो जाते हैं, जिनका अन्यान्य दृष्टियों से भी समन्वय किया जा सकता है। जिनका अन्यत्र (आत्मपरीक्षाखण्ड 'क' विभाग में) विश्लेषण किया जा चुका है। प्रकृत में यही कहना है कि ४ अमृतात्मा, ५ ब्रह्मात्मा, ९ शुक्रात्मा–इस प्रकार अध्यात्मसंस्था में १८ आत्मविवर्तों की सत्ता सिद्ध हो जाती है। सत्ता क्या सिद्ध हो जाती है, भातिसिद्ध हो जाती है। सत्ता दृष्टि से तो एक ही आत्मा है। उस सत्तासिद्ध एक ही निरूपाधिक आत्मा के भातिसिद्ध ये १८ विवर्त हैं, जिनका परिलेख से स्पष्टीकरण हो रहा है—

जीवात्मानुगत आत्मविवर्त्तपरिलेखः—

१– तदेवामृतमुच्यते

क्रम	आत्मा	संख्या	
(१)–१–अव्ययात्मा (सर्वबलविशिष्टरसैकघनः)		(१८)	→विश्वातीतोऽमृतात्मा (तदेव)
(२)–१–आलम्बनात्मा (आनन्दविज्ञानमनःप्राणवाग्घनः)		(१७)	विश्वेश्वरोऽमृतात्मा
(३)–२–नियन्तात्मा (अमृतब्रह्मेन्द्रविष्ण्वग्निसोममयः)		(१६)	
(४)–३–परिणाम्यात्मा (मर्त्यब्रह्मेन्द्रविष्ण्वग्निसोममयः)		(१५)	

अमृत-सत्यात्मा अमृतम्–४

२– तद्-ब्रह्म

(१)–१–शान्तात्मा (प्राणमयः)—(अव्यक्तम्)	(१४)	→ब्रह्मसत्यात्मा ५ (ब्रह्म)
(२)–२–महानात्मा (आपोमयः)—(महान्)	(१३)	
(३)–३–विज्ञानात्मा (वाङ्मयः)—(बुद्धिः)	(१२)	
(४)–४–प्रज्ञानात्मा (अन्नमयः)—(मनः)	(११)	
(५)–५–प्राणात्मा (अन्नादमयः)—(इन्द्रियाणि)	(१०)	

३– तदेव शुक्रम्

(१)–१–शरीरात्मा (वाङ्मयः—भूतशरीरी)	(६)	त्रिविधो भूतात्मा	→भूतानुगतदेवसत्यात्मा ६ (शुक्रम्)
(२)–२–हंसात्मा (आपोमयः वायुशरीरी)	(८)		
(३)–३–दिव्यात्मा (अग्निमयः-अग्निशरीरी)	(७)		
(४)–१–वैश्वानरात्मा (अग्निमयः—अग्निदैवत्यः)	(६)	त्रिविधो जीवात्मा	
(५)–२–तैजसात्मा (आपोमयः——वायुदैवत्यः)	(५)		
(६)–३–प्राज्ञात्मा (वाङ्मयः— –इन्द्रदैवत्यः)	(४)		
(७)–१–सत्यात्मा (आपोमयः—ऊर्ग्दैवत्यः)	(३)	त्रिविध-ईश्वरात्मा	
(८)–२–यज्ञात्मा (अग्निमयः - श्रीदैवत्यः)	(२)		
(९)–३–सर्वभूतान्तरात्मा (वाङ्मयः—विभूतिदैवत्यः)	(१)		

आधिदैविक ईश्वरात्मा तथा आध्यात्मिक जीवात्मा- इन दोनों आत्मविवर्तों में जिन अवान्तर आत्मविवर्तों का नामोल्लेख हुआ है, उनका शास्त्रीयमूल क्या है ? इनके परिज्ञान से आध्यात्मिकदृष्टया क्या लाभ है ? एक ही आत्मा के अनेक विवर्त कैसे हो गए ? इन अनेक आत्मविवर्तों को स्वीकार कर लेने पर भी श्रुतिसिद्ध अद्वैतमूलक अभिन्नात्मवाद कैसे सुरक्षित रह जाता है ? व्याख्याताओं की प्रचलित व्याख्याओं में एवंविध विश्लेषण क्यों उपलब्ध नहीं होता ? आत्मशिक्षा से सम्बन्ध रखने वाले इन सम्पूर्ण प्रश्नों का आत्मपरीक्षाखण्ड में विस्तार से निरूपण किया जा चुका है, अतएव पिष्टपेषण अनावश्यक है । आत्मशिक्षा से सम्बन्ध रखने वाले ईश्वरात्मविवर्त तथा जीवात्मविवर्त का प्रसंगवश विवेचन करना पड़ा । अब दो शब्दों में इन पूर्वोक्त आत्मविवर्तों से सम्बन्ध रखने गीतालक्ष्य का भी समन्वय कर लीजिए । वेदशास्त्र ने इन आत्मविवर्तों से विकार (शुक्रात्मा), बहिरङ्ग पञ्चप्रकृति (ब्रह्मात्मा) आत्मक्षर नाम की व्यक्त अपराप्रकृति (क्षरात्मा), अक्षरनाम की अव्यक्त पराप्रकृति-ये दोनों अन्तरङ्ग-प्रकृति, इन सबसे परे प्रतिष्ठित व्यक्ताव्यक्तातीत सनातन 'अव्ययपुरुष' को ही मुख्य आत्मा माना है, जो अव्ययात्मा श्रुति में 'अज' कहलाया है, जिसका निम्नलिखित वचन से स्पष्टीकरण हुआ है—

"अचिकित्वाञ्चिकितुषश्चिदत्र कवीन् पृच्छामि विद्मने न विद्वान् ।
वि यस्तस्तम्भ षळिमा रजांस्यजस्य रूपे किमपि स्विदेकम्" ।।[1]

यद्यपि उक्त लक्षण अव्यय से परे पूर्व परिलेखों में एक 'परात्पर' नामक आत्मतत्त्व का उल्लेख और हुआ है । तथापि उसे हम 'आत्मा' शब्द से व्यवहृत नहीं कर सकते । 'आत्मा' शब्द सापेक्ष है । जिस प्रकार 'पिता' पुत्र के विना, 'राजा' प्रजा के विना अनुपपन्न है, एवमेव शरीर के विना आत्म-व्यवहार अनुपपन्न है । परात्पर विश्वातीत तत्त्व है, अतएव वह शरीरसम्बन्ध से एकान्ततः बहिर्भूत है, अतएव आत्मकोटि से पृथक् है । मायातीत, अतएव विश्वातीत परात्पर की इसी अविज्ञेयता-अनिर्व-चनीयता जो लक्ष्य में रखकर श्रुति ने इसे शास्त्रानधिकृत माना है । सापेक्ष व्यावर्त्तक शब्द प्रपञ्च से सम्बन्ध रखने वाला शब्दशास्त्र कभी उस निरपेक्ष-अव्यावृत्त परात्पर का निरूपण नहीं कर सकता-**'संविदन्ति न यं वेदाः'-'यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह'-'यस्यामतं तस्य मतम्'-'नेति नेतीत्युपनिषत्'**-इत्यादि वचनों के अनुसार वस्तुतः वह अखण्ड परात्पर शास्त्रीयमर्य्यादा के साथ-साथ वर्णाश्रमानुगत समस्त धर्म्म-कर्म्म कलापों से बहिर्भूत है ।

सचमुच भारतीय अध्यात्मशास्त्र के सम्बन्ध में यह एक दुःखपूर्ण साथ ही आश्चर्य्यप्रद घटना है कि कतिपय अर्वाचीन व्याख्याताओं ने अध्यात्मशास्त्र को विश्वातीत, अतएव शब्दातीत इस अखण्ड परात्परपरक लगाने की भ्रान्ति करते हुए इसके सुव्यवस्थित इतर सोपाधिक आत्मविवर्त्तों को भुलाकर समस्त आर्षधर्म्मकर्म्म को संदिग्ध बना डाला है । अव्यय-अक्षर-क्षर-अव्यक्त-महान्-विज्ञान-प्रज्ञानादि आत्मविवर्त्तों का विभिन्न दृष्टिकोण से जिस उपनिषच्छास्त्र में निरूपण हुआ है, वह निरूपण इसी व्याख्यादोष से आज अस्तप्राय हो चला है । किसी भी व्याख्या पर दृष्टि डालिए । देखेंगे प्रज्ञान-विज्ञान-

१ ऋग्वेद मं० १।१६४।६ ।

महान्-अव्यय-परात्पर सब परस्पर अभिन्न हैं। क्या यह दृष्टि विज्ञान-सम्मत है? नहीं; सर्वथा नहीं। मानते हैं–वही ये सब हैं, परन्तु ये सब तो परस्पर अभिन्न नहीं हैं। कान-नाक-आँख-मुखादि सब 'अहम्' हैं, परन्तु कान ही तो नाक नहीं है, नाक ही तो आँख नहीं है। **'गुणानां च परार्थत्वात्, असम्बन्धः समत्वात्'**–न्याय प्रसिद्ध है। **'अन्धेर नगरी अबूझ राजा, टकै सेर भाजी टकै सेर खाजा'**–इस किंवदन्ती को चरितार्थ करने वाला व्याख्याताओं का यह आत्माभेदप्रलाप किस प्रकार आर्षग्रन्थों को महत्त्वशून्य बना रहा है? इसका अनुभव उन्हें तब होगा, जब आर्षप्रजा विभिन्न आत्माओं से सम्बन्ध रखने वाले श्राद्धादि संशयरहित विभिन्न कर्म्मों के प्रति विभिन्न आत्मरूप ज्ञानभाव से संशयशील बनकर अपना आर्षपना सदा के लिए खो बैठेगी। आर्षप्रजा को विश्वास रखना चाहिए कि उसके यच्चयावत् विधि-विधान आत्मभेद से सर्वथा व्यवस्थित बनते हुए संशयरहित हैं। परात्परान्व्ययाक्षरात्मक्षराव्यक्तमहान्-विज्ञानप्रज्ञानादि परस्पर पर्य्याय नहीं हैं, जैसा कि उसने व्याख्यादोष से मान लिया है। ये सब विभिन्न तत्त्व हैं और इन सब सोपाधिक आत्मविवर्त्तों का मूल आत्मा परात्पर नहीं, अपि तु, 'अव्ययात्मा' है।

यह भी एक आश्चर्य्य का विषय है कि भारतीय दर्शनशास्त्रों में इस अव्ययात्मा का निरूपण ही नहीं हुआ है। उपनिषदों ने इसका निरूपण किया है, परन्तु सुसूक्ष्मरूप से। गीताशास्त्र की यही सबसे बडी विशेषता है कि उसी ने उपनिषदुपवर्णित इस अव्ययात्मा का विस्पष्ट प्रतिपादन किया है। इस प्रकार गीताशास्त्र इतर यच्चयावत् खण्डात्माओं का विस्पष्ट निरूपण करता हुआ तत्त्वतः 'अव्ययात्मत्व' सिद्धान्त स्थापित कर रहा है। विना इस अव्ययात्मा के स्वरूपबोध के न तो शाश्वतशान्ति ही मिल सकती है एवं न इतर आत्मविवर्त्तों का भी सम्यग्बोध प्राप्त हो सकता है। यही अव्ययात्मा गीता की आत्मशिक्षा का सार है, अतएव अवश्य ही आत्मदृष्टया गीता को **'अव्ययात्मनिरूपक शास्त्र'** कहा जा सकता है। निम्नलिखित वचन आत्मशिक्षा के सारभूत इसी अव्ययात्मा की प्रधानता का समर्थन कर रहे हैं—

१–"अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम्" ॥[1]

२–"परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति" ॥[2]

३–"पुरुषः स परः पार्थ ! भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम्" ॥[3]

॥ समाप्ता चेयमात्मशिक्षा अव्ययात्मिका ॥

॥ २ ॥

१ गीता ७।२४। २ गीता ८।२०। ३ गीता ८।२२।

अथ

आत्मधातुशिक्षा तृतीया

३

३–आत्मधातुशिक्षा तृतीया

अनेक भागों में विभक्त आत्मविवर्त्तों में से आर्षगीता का लक्षीभूत आत्मा शुक्रात्मक देवसत्यात्मा, पञ्चधाविभक्त ब्रह्मसत्यात्मा, आत्मक्षरलक्षण व्यक्तात्मा, अक्षरलक्षण अव्यक्तात्मा–इन सबसे परे रहने वाला सर्वाधाररूप 'अव्ययात्मा' है, यह पूर्व की आत्मयोगशिक्षा के उपसंहार में स्पष्ट किया जा चुका है। जो तत्त्व जिस वस्तु के स्वरूप को स्वस्वरूप से सुरक्षित रखता है, वह तत्त्व उस वस्तु का धारणात् 'धातु' कहलाया है। जिस प्रकार पृथिव्यादि पाँच भूत स्थूलशरीर के स्वरूप को धारण करने के कारण शरीरधातु कहलाए हैं, आयुर्वेददृष्टया वात-पित्त-कफ–ये तीन शरीरधातु कहलाए हैं, काम-क्रोध-लोभ-मोह-मद-मात्सर्य, ये ६ भाव मनोमय सूक्ष्मशरीर को धारण करते हुए सूक्ष्मधातु कहलाए हैं, अविद्या-काम-कर्म्म तीनों कारणशरीर को धारण करते हुए कारणधातु माने गए हैं, वाग्-गौः-द्यौः–तीन पार्थिव-धातु कहलाए हैं, रेतः-श्रद्धा-यशः तीन चान्द्रधातु कहलाए हैं, ज्योतिः-गौः-आयु–तीन सौरधातु कहलाए हैं, इट्-ऊर्क्-अन्न–तीन पारमेष्ठ्यधातु कहलाए हैं, वेदाः-सूत्रं-नियतिः–ये तीन स्वायम्भुवधातु कहलाए हैं, अग्नि-वायु-आदित्य–तीन देवसत्यात्मधातु कहलाए हैं, प्राणः-आपः-वाक्-अन्नं-अन्नादः–ये पाँच व्यक्तात्मधातु कहलाए हैं, गति-आगति-स्थिति–ये तीन अव्यक्तात्मधातु कहलाए हैं, एवमेव व्यक्ता-व्यक्तातीत अतएव सर्वातीत इस गीतालक्षीभूत अव्ययात्मा के सम्बन्ध में भी अव्ययात्मा के स्वरूप को यथावस्थित सुरक्षित रखने वाले धातुओं के सम्बन्ध में प्रश्न उपस्थित होता है। प्रस्तुत परिच्छेद में संक्षेप से धातुस्वरूपसम्बन्धिनी जिज्ञासा शान्त करने का ही प्रयास हुआ है।

अव्ययात्मा का स्वरूप जिन तत्त्वों से सुरक्षित रहेगा, उन्हें ही हम धातुशब्दनिर्वचनमर्य्यादानुसार अव्ययधातु, किंवा 'आत्मधातु' कहेंगे। आधारभूत तत्त्व ही धातु है। जो अव्ययात्मा सर्वाधार है–उसका आधार कौन ? यदि उसका कोई आधार नहीं है तो अव्ययात्मा सर्वाधार कैसे हुआ ? यदि इसका कोई आधार नहीं है तो आत्मधातुसम्बन्धी प्रश्न ही कैसे उठा ? समाधान कीजिए। सर्व से यहाँ सहस्रवल्श विश्व अभिप्रेत है। अव्ययात्मा **'तस्मिल्लोकाः श्रिताः सर्वे'**–के अनुसार विश्वाधार बनता हुआ विश्वदृष्टया अवश्य ही सर्वाधार माना जा सकता है। परन्तु केवल विश्व पर ही सर्वशब्द की व्याप्ति समाप्त नहीं हो जाती। विश्व से परे भी कुछ है। जो विश्व से परे है, वही 'विश्वातीत' कहलाया है। वही विश्वातीत तत्त्व 'परात्पर' कहलाया है, जिसका आत्मयोगशिक्षा में ही स्पष्टीकरण किया जा चुका है। इस विश्वातीत परात्पर के ही विश्वातीत-विश्वचर भेद से दो विवर्त बनते हैं। महामाया सीमा (परिधि) से बाहर रहने वाला दिग्देशकालानवच्छिन्न परात्पर विश्वातीत है एवं वही परात्पर अपने यत्किञ्चित् प्रदेश से महामाया द्वारा सीमित बनकर विश्वाधार बनने वाला विश्वचर परात्पर है। इस विश्वचर परात्पर के आगे चलकर विश्वोपहित-विश्वविशिष्ट भेद से दो रूप हो जाते हैं। विश्वगर्भ में सर्वत्र व्याप्त रहता हुआ भी विश्वकारणता से सर्वथा पृथक् रहने वाला केवल मायोपाधियुक्त विश्वचर परात्पर 'विश्वोपहित' कहलाया है, यह आत्मन्वी नहीं, अपि तु, केवल आत्मा है। विश्वगर्भ में व्याप्त रहने के साथ विश्व को अपना आयतन बनाने वाला, मायोपाधि के

साथ-साथ कलापरिग्रहसम्बन्ध से पञ्चकल बना रहने वाला, विश्वालम्बनात्मिका कारणता से युक्त वही विश्वचर परात्पर 'विश्वविशिष्ट' कहलाया है। कलापरिग्रहावच्छिन्न यही विश्वविशिष्ट आत्मा गीता-लक्षीभूत अव्ययात्मा है। इस अव्ययात्मा का आधार मायापरिग्रहावच्छिन्न विश्वोपहित आत्मा है, यही तुरीय परात्पर है। मायातीत व्यापक परात्पर आधाराधेय मर्य्यादा से सर्वथा बहिर्भूत है। जिस प्रकार मायातीत परात्पर विश्वातीत कहलाया है तथैव केवल मायायुक्त विश्वोपहित किन्तु विश्वव्याप्त विश्वचर परात्पर भी विश्वकारणातीत बनता हुआ विश्वातीत ही माना जाएगा। इस प्रकार केवल विश्वसीमा में ही विश्वातीत-विश्वोपहित-विश्वचर 'परात्पर' विश्वाध्यक्ष-विश्वविशिष्ट-विश्वचर 'अव्यय'–इन दो आत्म-विवर्तों की सत्ता सिद्ध हो जाती है। विश्वात्मा यदि सम्पूर्ण विश्व का आधार बनता हुआ सर्वाधार है तो विश्वातीत परात्मा इस विश्वात्मा का भी आधार बनता हुआ निराधारात्मक अखिलाधार है और यही अव्ययात्मा का धातु है–जिसका यहाँ स्वरूपविश्लेषण अपेक्षित है।

यह स्मरण रखने बात है कि 'तदेव' सिद्धान्त के अनुसार जो परात्पर है, वही अव्यय है। दोनों में केवल भातिसिद्ध विभेद है। निष्कलावस्था, केवल मायापरिग्रहावस्था में वही परात्पर है–सकलावस्था में वही अव्यय है। उसी आत्मा का परात्पररूप स्वभाग आधार है तो उसी आत्मा का अव्ययरूप स्वभाग आधेय है और यह स्वानुगत आधाराधेयभाव महिमालक्षण माना गया है, जिसके लिए–**'स्वे महिम्नि प्रतिष्ठितः'** कहा गया है। भातिदृष्टि से ही इस आधाराधेयभाव का समन्वय सम्भव है। यदि सत्ता-दृष्टि से विचार किया जाता है तो फिर उस दशा में परात्पर-अव्यय का अभिन्नसत्तात्मकत्व सिद्ध हो जाता है और उस दशा में आधाराधेयभाव की कल्पना भी नहीं की जा सकती, अतएव भातिभेद को लेकर जहाँ श्रुति ने **'स्वे महिम्नि प्रतिष्ठितः'**–कहा है, वहाँ सत्तारूप अभेद को लक्ष्य बनाकर **'अपि वा न स्वे महिम्नि'**–इत्यादिरूप से इस आधाराधेयभाव का खण्डन कर डाला है।

विश्वातीत-मायातीत 'परात्पर' न आत्मा है, न आत्मन्वी है। 'नेति-नेति' ही इसका निर्वचन है। न यह भूमा है, न अणिमा है। न सत् है, न असत् है। न आधार है, न आधेय है, अतएव वह शास्त्र-मर्य्यादा से एकान्ततः बहिर्भूत है। विश्व से परे रहने के कारण ही यह 'परात्पर' कहलाया है। मायापुर से बहिर्भूत (असंस्पृष्ट) रहने के कारण यह अपुरुषलक्षणपरात्पर है। इस अपुरुषलक्षणपरात्पर का ही यत्किञ्चित् प्रदेश मायापुर से सीमित बनकर पुरुषरूप में परिणत हो जाता है। मायातीत परात्पर जहाँ 'अपुरुष-परात्पर' कहलाया है, वहाँ यह मायावच्छिन्न परात्पर 'पुरुषपरात्पर' कहलाया है। यही विश्व का सर्वप्रथम 'आत्मतत्त्व' है। 'पर' अव्ययपुरुष का वाचक माना गया है। परात्पर चूँकि इस 'पर' नामक अव्यय से परे है अतएव **'परादपि परः'** निर्वचन से उसे 'परात्परः' कहना अन्वर्थ बन जाता है। अव्ययपुरुष से परे रहने वाले इस परात्पर के मायापुर-शबलित, मायातीत–ये दो विवर्त हैं। इसी भेद को व्यक्त करने के लिए मायातीत विशुद्ध परात्पर जहाँ केवल 'परात्पर' नाम से व्यवहृत किया गया है, वहाँ मायापुरयुक्त अतएव पुरुषभावात्मक विश्वव्यापक परात्पर के लिए 'परात्परपुरुष' नाम सम्बोधित हुआ है, जैसा कि **'परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्**–श्रुति से प्रमाणित है। अथवा इसी विषय का यों समन्वय कर लीजिए कि एक ही आत्मा के परात्पर, परात्परपुरुष, परपुरुष–ये तीन विवर्त हो जाते हैं। **'यस्यामतं तस्य मतं–संविदन्ति न यं वेदाः'**–इत्यादि श्रुति आत्मा के विश्वातीत मायातीत आत्म-अनात्मादि सापेक्षभावासंस्पृष्ट परात्पर विवर्त का निरूपण कर रही है। **'परात्परं**

पुरुषमुपैति दिव्यम् तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्'–इत्यादि श्रुति आत्मा के विश्वभुक्त किन्तु कारणतातीतत्वेन विश्वातीत-मायोपाधिक केवल आत्मशब्दवाच्य 'परात्परपुरुष' का निरूपण कर रही है एवं '**पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्' 'परेऽव्यये सर्व एकीभवन्ति**'–इत्यादि श्रुतियाँ आत्मा के विश्वभुक्त-विश्वात्मा-आलम्बन कारणतायुक्त-कलोपाधियुक्त 'आत्मन्वी' शब्द वाच्य परपुरुष (अव्ययपुरुष) का निरूपण कर रही है। सर्वोपाधिविनिर्मुक्त मायातीत परात्पर 'परमेश्वर' है। यह एक है। इसी के लिए–'**एकं वा इदं विबभूव सर्वम्**'–कहा गया है। मायोपाधियुक्त परात्परपुरुष '**मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्**'–के अनुसार 'महेश्वर' है। मायाबलानन्त्य से यह अनन्त (असंख्य) है। कलोपाधियुक्त परपुरुष 'विश्वेश्वर' है, यही वह अश्वत्थयुक्त अमृतात्मा है, जिसका आत्मयोग शिक्षा में स्पष्टीकरण हुआ है। इन तीनों विवर्तों में से मायातीत परमेश्वर नामक परात्पर विवर्त को छोडते हुए मायायुक्त महेश्वर नामक परात्परपुरुष एवं कलायुक्त विश्वेश्वर नामक परपुरुष–इन दो विवर्तों की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित करते हैं।

मायायुक्त परात्पर पुरुष केवल मायापुर को छोडकर सर्वात्मना मायातीत परात्पर-परमेश्वर से समतुलित है, इसलिए तो इसे 'परात्पर' कहना अन्वर्थ बनता है। साथ ही मायापुरोऽनुगत पुरुसम्बन्ध से इसे 'पुरुष' कहना अन्वर्थ बन रहा है, अतएव इसे 'परात्पर-पुरुष' कहना सुसङ्गत बन जाता है। साथ ही विश्वकारणतात्रयी (आलम्बन-निमित्त-उपादान) से असंस्पृष्ट रहने के कारण इसे विश्व में व्याप्त रहते हुए भी 'विश्वातीत' कहना भी अन्वर्थ बन जाता है। और यों इसका तत्त्वतः मायातीत परात्पर परमेश्वर में ही अन्तर्भाव सिद्ध हो जाता है, अतएव विश्वापेक्षया आत्मविचार करने पर हमें केवल अव्ययपुरुष पर ही विश्राम मान लेना पड़ता है। अतएव-च गीताशास्त्र ने केवल इस अव्ययात्मा पर आत्मस्वरूप का विश्राम मान लिया है। चूँकि धातुसम्बन्धिनी जिज्ञासा परात्पर पुरुष से सम्बन्ध रखती है, अतएव इस परिच्छेद में हमें धातुसम्बन्ध से परात्परविवर्त का प्रासङ्गिक दिग्दर्शन कराना पड़ा।

मायी परात्पर की पूर्वावस्था स्वयं मायी परात्पर है, अतएव इस पूर्वावस्था को हम 'कारणावस्था' कह सकते हैं। इसी की कलानुगता उत्तरावस्था परपुरुष है, अतएव इस उत्तरावस्था को हम 'कार्य्यावस्था' कह सकते हैं। कार्य्य आधेय माना गया है, कारण आधार माना गया है। कारणसत्ता ही कार्य्यसत्ता का आधार है। कारणसत्ता पर कार्य्यसत्ता धृत है। कारण ने ही कार्य्य को धारण कर रखा है, अतएव कारण को धातु, कार्य्य को धातुमय कहा जा सकता है। इस परिभाषा के अनुसार मायी परात्पर को धातु कहा जाएगा एवं सकल अव्यय को धातुमय कहा जाएगा। जिसका निष्कर्ष यही होगा कि अव्ययात्मा का स्वरूपनिर्म्मापक, स्वरूपसंरक्षक धातु मायी-परात्पर ही है। धातुभूत इस परात्पर का स्वरूप है–सर्वबलविशिष्टरसैकघन'। आत्मयोगशिक्षा में परात्पर का यही लक्षण हुआ है। रस सत्तासिद्ध है, बल भातिसिद्ध है, अतएव अद्वैतभाव अक्षुण्ण है। रस-बल नाम वस्तुतः उस परात्पर से सम्बद्ध हैं, जिसे मायातीत कहा है। जिस मायातीत परात्पर में यच्चयावत् बल सुप्त रहते हैं, केवल रस ही उद्बुद्ध रहता है, अतएव जिसे बलों के रहने पर भी बलसुषुप्ति के कारण रसैकघन

कहा जाता है, उस मायातीत परात्पर परमेश्वर के भाव ही को रस-बल कहा जाएगा, जो भाव धातु-मर्य्यादा से बहिर्भूत माने गए हैं। वही परात्पराांश मायाशबलित बनकर ससीम बन जाता है। सीमित-बल से ही इस मायात्मक सीमाभाव के सम्बन्ध से मायी परात्पर पुरुष के रस-बल का स्वरूप बदल जाता है। जो बल मायातीत परात्पर-परमेश्वर में सीमा के अभाव से सुप्त थे, अकुर्वाण थे, वे ही बल मायारूप सीमा के उदय से–रस की व्यापकता के हट जाने से बलवद् बनकर जाग्रत् हो जाते हैं। बल की जागृति से शान्तरस में भी क्षोभ का आविर्भाव हो जाता है। इस प्रकार मायाबलयुक्त मायी परात्पर पुरुष के रस-बल मायातीत परात्पर परमेश्वर के रस-बल की अपेक्षा अवस्थान्तर में आ जाते हैं। मायी परात्पर पुरुष का वही अवस्थान्तरितरस रस न कहलाकर 'ब्रह्म' कहलाया है एवं बल बल न कहलाकर 'कर्म्म' कहलाया है। शान्तरस रस है, क्षुब्धरस 'ब्रह्म' है। सुप्तबल बल है, जाग्रत्बल 'कर्म्म' है। सुप्तसर्वबलविशिष्ट-शान्तरसैकघन मायातीत परात्पर परमेश्वर तथा जाग्रद्बलविशिष्ट क्षुब्धरस-मूर्ति मायी परात्पर पुरुष-दोनों के स्वरूप में यही विशेष सु-सूक्ष्म अन्तर है। इसी विभेद को लक्ष्य में रखकर मायातीत के दोनों भाव जहाँ रस-बल कहलाए हैं, वहाँ मायी के दोनों भाव ब्रह्म-कर्म्म कहलाए हैं। रस-बल की क्षुब्ध जाग्रदवस्थारूप ब्रह्म-कर्म्ममय परात्पर पुरुष ही अव्यय-पुरुष की आधार भूमि है, अतएव 'परात्पर अव्ययात्मा का धातु है'–इसका यह भी अर्थ किया जा सकता है कि अव्ययात्मा के ब्रह्म-कर्म्म-ये धातु हैं। भारतीय वैज्ञानिकों ने तथा दार्शनिकों ने इन दोनों अव्ययात्मधातुओं का अनेक प्रकार से तात्त्विक समन्वय किया है–जो समन्वय तत्त्वजिज्ञासु के लिए एक आवश्यक विषय है। इसी आवश्यकता को लक्ष्य में रखते हुए हमने 'गीताभूमिका' अन्तरङ्गपरीक्षात्मक द्वितीयखण्ड के ख-विभाग में–'ब्रह्म-कर्म्म परीक्षा' नाम से इस धातुद्वयी का वैज्ञानिक-दार्शनिक, उभयदृष्टि से विस्तार से प्रतिपादन किया है। धातुद्वयी के स्वरूप के सम्बन्ध में विशेष जिज्ञासा रखने वालों के लिए वही प्रकरण द्रष्टव्य है। प्रकृत में सन्दर्भ-सङ्गति के लिए दो शब्दों में इस धातुशिक्षा का समन्वयमात्र कर दिया जाता है।

गीतालक्ष्यीभूत अव्ययात्मा के स्वरूपसंरक्षक धातु कौन? उत्तर है–ब्रह्मकर्म्मात्मक मायी परात्पर, किंवा मायी परात्परानुगत ब्रह्म और कर्म्म। ब्रह्मधातु कारण है। इस कारणभूत ब्रह्म-धातु से कार्य्यभूत अव्ययात्मा के जिस स्वरूप का आविर्भाव हुआ है–ब्रह्मात्मक वही अव्ययस्वरूप 'विद्या' नाम से व्यवहृत हुआ है। एवमेव कर्म्मधातु कारण है। कारणभूत इस कर्म्मधातु से कार्य्यभूत अव्ययात्मा के जिस स्वरूप का आविर्भाव हुआ है, कर्म्मात्मक वही अव्ययस्वरूप 'वीर्य्य' कहलाया है। तात्पर्य्य यही है कि जो तत्त्वद्वयी मायातीत परात्पर में रस-बल नाम से व्यवहृत हुई थी, वही मायी परात्पर में ब्रह्म-कर्म्म नाम से प्रसिद्ध हुई है एवं यही अव्ययात्मसंस्था में भुक्त होकर विद्या-वीर्य्य नाम से व्यवहृत हुई है। लौकिक ज्ञान ज्ञान है, आत्मज्ञान विद्या है। लौकिक कर्म्म कर्म्म है, आत्मकर्म्म वीर्य्य है। इस प्रकार आधारभूत परात्पर के ब्रह्म-कर्म्म धातुओं से कृतरूप अव्ययात्मा विद्या-वीर्य्यशाली बनता हुआ ज्ञानकर्म्ममय बन रहा है। यही आत्मस्वरूप का प्रत्यक्ष परिचय है। अपने विद्याभाग से आत्मा 'सर्वं जानाति' (सब कुछ जानता है) एवं अपने कर्म्मभाग से आत्मा 'सर्वं करोति' (सब कुछ करता है)–इस विद्या-वीर्य्यानुगत ज्ञान-कर्म्म के अतिरिक्त आत्मा का और क्या स्वरूप परिचय हो सकता है? जो

कुछ नहीं जानता, कुछ नहीं करता–वह आत्मकोटि से बहिर्भूत है। यह बतलाया जा चुका है कि ब्रह्म धातु से अव्ययात्मा के विद्याभाग का तथा कर्म्मधातु से अव्ययात्मा के वीर्य्यभाग का उदय हुआ है। विद्यात्मक अव्यय से किंवा अव्ययविद्या से आगे जाकर विश्वप्रभवानुगत जिस तत्त्व का प्रादुर्भाव हुआ है–वही 'ज्ञान' कहलाया है एवं वीर्य्यात्मक अव्यय से किंवा अव्ययवीर्य्य से उत्पन्न विश्वानुगत तत्त्व 'क्रिया' कहलाया है विद्या मूलावस्था है, ज्ञान तूलावस्था है। एवमेव वीर्य्य मूलावस्था है, क्रिया तूलावस्था है। तूलरूप ज्ञान के आधार पर अनुष्ठेय ज्ञानयोग का तथा तूलरूपा क्रिया के आधार पर अनुष्ठेय कर्म्मयोग का स्वरूप निर्म्माण हुआ है। तूलात्मक ज्ञान से सम्बद्ध ज्ञानयोग (सांख्यनिष्ठा) तथा तूलात्मिका क्रिया से सम्बद्ध कर्म्मयोग (योगनिष्ठा)–ये दोनों भी आर्षगीता के महत्त्वपूर्ण किन्तु गौण दृष्टिकोण हैं जिनका स्वरूप बोध इन दोनों के मूलभूत एवं अव्ययात्मा के तूलभूत ज्ञान-क्रिया के तत्त्वबोध पर ही अवलम्बित है। ज्ञान-क्रिया का तात्त्विकस्वरूप क्या है ? एवं ज्ञान से सम्बद्ध ज्ञान-योग तथा क्रिया से सम्बद्ध कर्म्मयोग-वर्णाश्रमाचारसिद्ध शास्त्रीय आर्षप्रजानुगत कर्म्मयोग–इनका क्या स्वरूप है ? इन प्रश्नों के समाधान के लिए ही गीताभूमिका 'अन्तरङ्गपरीक्षात्मक' द्वितीय खण्ड-कर्म्मयोगपरीक्षात्मक 'ग' विभाग, तथा ज्ञानयोगपरीक्षात्मक 'घ' विभाग–इन दो स्वतन्त्र भूमिका खण्डों की सृष्टि हुई है। ज्ञानक्रिया के माध्यम से एक तीसरे उभयसमन्वयात्मक अनुष्ठेय भक्तियोग का उदय और हो जाता है–जिसका सर्वान्तरतम परीक्षात्मक भक्तियोगपरीक्षा पूर्व, उत्तर-दो खण्डों में विस्तार से प्रतिपादन हुआ है। इस प्रकार अव्ययात्मा तन्मूलभूत ब्रह्म-कर्म्म धातु, ब्रह्मानुगता अव्यय-विद्या से सम्बद्ध ज्ञानात्मक ज्ञानयोग, कर्म्मानुगत अव्ययवीर्य्य से सम्बद्ध क्रियात्मक कर्म्मयोग, उभय समन्वयात्मक भक्तियोग–इन अव्ययात्मानुगत विवर्तों के तात्त्विकस्वरूप परिचय के लिए ही आत्म-परीक्षा, ब्रह्मकर्म्मपरीक्षा, ज्ञानयोगपरीक्षा, कर्म्मयोगपरीक्षा, भक्तियोगपरीक्षा–इन स्वतन्त्र भूमिका खण्डों की सृष्टि हुई है, जिसका इस गीतासार परीक्षात्मक अन्तिम खण्ड में सूचीरूप से दिग्दर्शन करा दिया गया है।

प्रकृतमनुसरामः। ब्रह्म-कर्म्म ये दो आत्मधातु हैं–यह स्पष्ट किया जा चुका है। व्यापक-माया-तीत-परात्पर के यत्किञ्चित्प्रदेश में मायाबल का उदय हुआ। इस उदय से हृदयबल का आविर्भाव हुआ। हृदयावच्छिन्न-रसात्मक ब्रह्म बलात्मककर्म्मोभयमूर्ति यही मायी तत्त्व 'श्वोवसीयस्' ब्रह्म कह-लाया, जिसे 'काममय मन' भी कहा गया है। यही मायी परात्पर का वास्तविकस्वरूप है–जो अभी निष्कल है। हृदयावच्छिन्न मन पर माया परिधिपर्य्यन्त व्याप्त ब्रह्म कर्म्म की चिति हुई। इस चिति से वही परात्पर पुरुष पञ्चकल बनता हुआ चिदात्मा बन गया। कर्म्मगर्भिता ब्रह्मचिति (बलगर्भिता रस-चिति) आनन्द, विज्ञान, मन–इन तीन भागों में विभक्त हुई, यही ब्रह्मचिति विद्याचिति कहलाई। ब्रह्म-गर्भिता कर्म्मचिति (रसगर्भिता बलचिति) मनः, प्राण, वाक्–इन तीन भागों में विभक्त हुई, यही कर्म्म-चिति वीर्य्यचिति कहलाई– **'कर्म्मणा विन्दते वीर्य्यम्'**। इस प्रकार परात्पर का मायिक ब्रह्मभाग अव्य-यात्मा की त्रिधाविभक्ता विद्याचिति का धातु बना एवं परात्पर का मायिक कर्म्मभाग अव्यात्मा की त्रिधा विभक्ता वीर्य्यचिति का धातु बना। और यों अव्ययात्मा अपने ब्रह्मकर्म्म धातुचयन से विद्या-वीर्य्यात्मक बनता हुआ पञ्चकल बन गया। इसी स्थिति का इन शब्दों में भी अभिनय किया जा सकता है कि ब्रह्मधातु विद्यात्मिका धातुत्रयीरूप में परिणत हुआ एवं कर्म्मधातु वीर्य्यात्मिका धातुत्रयी-

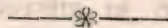
रूप में परिणत हुआ। और इसी दृष्टि से यह भी कहा जा सकता है कि अव्ययात्मा के ६ धातु हैं। यह आत्मधातु-मीमांसा निम्नलिखित परिलेखों से भलीभाँति स्पष्ट हो जाती है—

१—आत्मत्रयीविवर्त्तपरिलेखः—

१—दिग्देशकालानवच्छिन्नः-मायातीतः-परात्परः-परमेश्वरः→नायमात्मा, नापि वाङ्मात्मा

२—दिग्देशकालानवच्छिन्नः-मायी—परात्परपुरुषः-महेश्वरः→स एष आत्मैव

३—दिग्देशकालानवच्छिन्नः-सकलः-परपुरुषः-विश्वेश्वरः→स एष आत्मन्वी



२—परात्परत्रयी-विवर्त्तपरिलेखः—

१—मायातीतः परात्परः-सुप्तसर्वबलविशिष्टशान्तरसैकघनः→विश्वातीतः परात्परः (सर्वम्)

२—मायी परात्परपुरुषः-जाग्रत्सर्वबलविशिष्टक्षुब्धरसमूर्त्तिः→विश्वोपहितः परात्परः (परात्परः)

३—सकलः परपुरुषः-सृष्ट्यनुगतसर्वबलविशिष्टचीयमानरसात्मकः→विश्वविशिष्टः परात्परः (अव्ययः)



३—द्विभावानुगतात्मत्रयी-परिलेखः—

१—परात्परः-मायातीतः——→रसः, बलम्→सर्वातीतः

२—परात्परः-मायी———→ब्रह्म, कर्म्म→विश्वात्मधातुः

३—परात्परः-सकलः——→विद्या, वीर्य्यम्→विश्वात्मा

↓ ↓

ज्ञानम् क्रिया



४–विश्वात्मधातु-विश्वात्मानुगतगीताभूमिकाखण्डपरिलेखः–

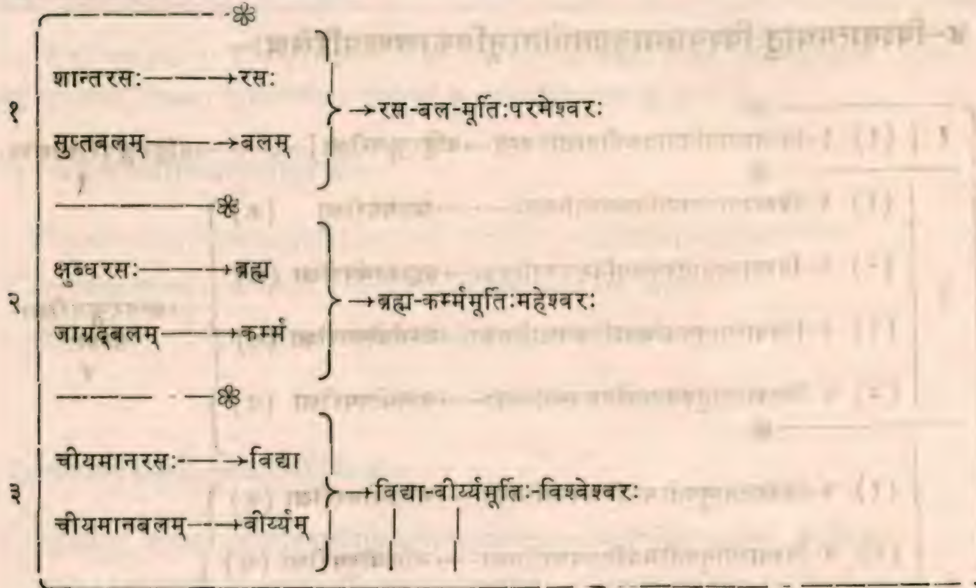
१ | (१) १–विश्वात्मप्रतिपादकगीताशास्त्रस्य→**बहिरङ्गपरीक्षा**] ——→बहिरङ्गपरीक्षाखण्डः १

२ | (१) २–विश्वात्मस्वरूपनिरूपणात्मिका——→**आत्मपरीक्षा** (क)
(२) ३–विश्वात्मधातुस्वरूपनिरूपणात्मिका→**ब्रह्मकर्म्मपरीक्षा** (ख)
(३) ४–विश्वात्मानुगतक्रियानिरूपणात्मिका→**कर्म्मयोगपरीक्षा** (ग)
(४) ५–विश्वात्मानुगतज्ञाननिरूपणात्मिका——→**ज्ञानयोगपरीक्षा** (घ)
} →अन्तरङ्गपरीक्षा-खण्डाः ४

३ | (१) ६–विश्वात्मानुगतोभयनिरूपणात्मिका——→**भक्तियोगपरीक्षा** (क)
(२) ७–विश्वात्मानुगतोभयनिरूपणात्मिका——→**भक्तियोगपरीक्षा** (ख)
(३) ८–विश्वात्मानुगततत्त्वनिरूपणात्मिका——→**बुद्धियोगपरीक्षा** (ग)
(४) ९–सर्वदिग्दर्शनात्मिका-प्रक्रान्ता———→**गीतासारपरीक्षा** (घ)
} →सर्वान्तरतम-परीक्षा-खण्डाः

सैषा-नवखण्डात्मिका-गीताभूमिका

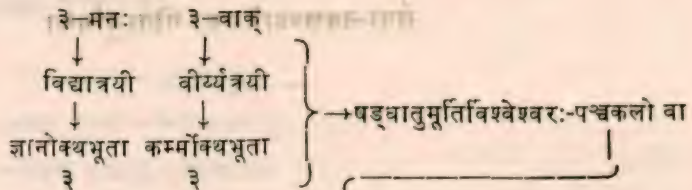
५–सर्वसंग्रहात्मकः परिलेखः–

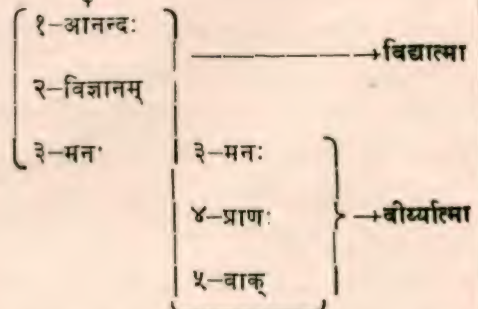


(विश्वेश्वरस्वरूपविस्तारः)

१–आनन्द १–मनः

२–विज्ञानम् २–प्राणः





ब्रह्म-कर्म्मचातुद्वयी से कृतरूप अव्ययात्मा विद्या-वीर्यात्मक है–यह स्पष्ट किया जा चुका है। अब इसी अव्ययात्मा के सम्बन्ध में प्रसङ्गोपात्त कुछ एक अव्ययविभूतियों का दिग्दर्शन और दिया जाता है। बतलाया गया है कि आनन्द-विज्ञान-मनोमय अव्यय ब्रह्मधात्वनुगत विद्याव्यय है। इसी विद्याव्यय से सृष्टिकर्म्म सहयोगी ज्ञान का उत्थान होता है। विद्याव्यय से उत्थित सृष्टच्युपयिक ज्ञान इसी पर प्रतिष्ठित रहता है एवं सृष्टिगर्भीभूत विभिन्न पदार्थों में विभिन्नरूप से प्रतिष्ठित इस ज्ञान में यह विद्याव्यय **'समोऽहं सर्वभूतेषु' 'अविभक्तं विभक्तेषु'**–के अनुसार समानरूप से प्रतिष्ठित हैं। इस प्रकार विद्याव्यय सृष्टचनुगत ज्ञान का उक्थ (प्रभव), ब्रह्म (प्रतिष्ठा), साम बना हुआ है। 'यो यस्य-उक्थं-ब्रह्म-साम, स तस्यात्मा'–इस वैज्ञानिक लक्षण के अनुसार विद्याव्यय को अवश्य ही सृष्टचनुगत ज्ञान का उक्थ-ब्रह्म-सामात्मक आत्मा कह सकते हैं एवं इसी दृष्टि से विद्याव्यय को ज्ञानात्मा भी कहा जा सकता है।

मनः-प्राण-वाङ्मय अव्यय कर्म्मधात्वनुगत वीर्य्याव्यय है। इसी वीर्य्याव्यय से सृष्टिकर्म्म-सहयोगिनी क्रिया का उत्थान होता है। वीर्य्याव्यय से उत्थित सृष्टच्युपयिक क्रिया इसी पर प्रतिष्ठित रहती है एवं सृष्टिगर्भीभूत विभिन्न पदार्थों में विभिन्नरूप से प्रतिष्ठित इस क्रिया में यह वीर्य्याव्यय समानरूप से प्रतिष्ठित है। इस प्रकार वीर्य्याव्यय सृष्टचनुगता क्रिया का उक्थ-ब्रह्म-सामात्मक आत्मा बना हुआ है, अतएव इस वीर्य्याव्यय को क्रियात्मा किंवा कर्म्मात्मा भी कहा जा सकता है। तात्पर्य्य पञ्चकल अव्ययपुरुष की आनन्द-विज्ञान-मनोमयी विद्याविभूति सृष्टचनुगत–ज्ञान का उक्थ-ब्रह्म-साम लक्षण आत्मा बनी हुई है एवं मनःप्राणवाङ्मयी वीर्य्यविभूति क्रिया का उक्थ-ब्रह्म-सामलक्षण आत्मा बनी हुई है। इस विश्लेषण से बतलाना यही है कि ज्ञान–क्रिया का आत्मा बनता हुआ विद्यावीर्य्यात्मक अव्यय इस ज्ञान–क्रिया की दृष्टि से सदसन्मूर्त्ति बन जाता है। ज्ञान सत् है, क्षणस्थायिनी क्रिया असत् है। असत् क्रिया का आत्मा वह अव्यय अपने वीर्य्यभाग से असत् कहलाने लगता है एवं सत्-ज्ञान का आत्मा वह अव्यय अपने विद्याभाग से सत् कहलाने लगता है। ज्ञानात्मक सद्रूप विद्याव्यय की अमृतविभूति है एवं क्रियात्मक असद्रूप वीर्य्याव्यय की मृत्युविभूति है। इस प्रकार केवल सदसल्लक्षण-सृष्टच्युन्मुख-ज्ञान-क्रिया के उक्थब्रह्मसामात्मक आत्मसम्बन्ध से अव्ययपुरुष विद्यावीर्य्यभाव के अति-रिक्त सदसल्लक्षण अमृत-मृत्युभाव का भी अनुगामी बन जाता है–जैसाकि–**'अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चा-हमर्जुन !'** इस वचन से प्रमाणित है। इसी आधार पर–**'अर्द्धं ह वै प्रजापतेरात्मनो मर्त्यमासीदर्द्धममृतम्'** यह निगम प्रतिष्ठित है।

ब्रह्म-कर्म्मधात्वनुगत-विद्या-वीर्य्यात्मक-ज्ञानकर्म्ममय-एवंविध इस अव्ययात्मा का सृष्टि में क्या उपयोग ? अव्ययात्मा क्या करता है ? दो शब्दों में इस प्रश्न की भी मीमांसा कर लीजिए। अव्ययात्मा का विद्यारूप रस प्रधान है, वीर्य्यरूप बलप्रधान है–यह पूर्व की सर्वसंग्रहात्मिका तालिका से स्पष्ट है। रस स्वभावतः विकासानुगामी है, अतएव रस से बलों का ग्रन्थिबन्धन टूट जाता है। ग्रन्थिबन्धन तोड़ना ही रस का मुख्य धर्म्म है, बल स्वभावतः संकोचानुगामी है, अतएव बल से ग्रन्थिबन्धन होता रहता है। असङ्ग रस जहाँ ग्रन्थिबन्धविमोकलक्षणा मुक्ति का साक्षी है, वहाँ ससंगबल ग्रन्थिबन्ध-

प्रवृत्तिलक्षणा सृष्टि का साक्षी बना रहता है। सृष्टिनिर्म्माण का साक्षी बल है, सृष्टिबन्धविमोक का साक्षी रस है। बनाना बल का काम है, बिगाड़ना रस का काम है। बनना सृष्टि है, बिगड़ना मुक्ति है। बस, अव्ययात्मा के ये ही दो मुख्य काम हैं। आनन्द-विज्ञान-मनोमय, रसप्रधान-विद्याव्यय रसप्राधान्य से सृष्टिबन्धन तोड़ता रहता एवं मनःप्राणवाङ्मय बलप्रधान वीर्य्याव्यय बलप्राधान्य से सृष्टिबन्धन लगाता रहता है। इसी आधार पर वैज्ञानिकों ने अव्यय के विद्यात्मकरूप को मुक्तिसाक्षी कहा है एवं वीर्य्यात्मकरूप को सृष्टिसाक्षी कहा है। मुक्ति और बन्धन–दोनों भावों का साक्षी बने रहना ही अव्यय का मुख्य कर्म्म है। यह भी स्मरण रखने की बात है कि मुक्ति-बन्धन–दोनों में अव्ययात्मा के दोनों स्वरूप संयुक्त रहते हैं। अन्तर केवल इतना ही है कि मुक्ति में विद्याव्यय प्रधान, वीर्य्याव्यय गौण तथा सृष्टि में वीर्य्याव्यय प्रधान, विद्याव्यय गौण रहता है, अतएव कहा जा सकता है कि मुक्ति-सृष्टि दोनों में दोनों स्वरूप साक्षी बने रहते हैं।

आनन्द-विज्ञान-मयोमय मुक्तिसाक्षी विद्याव्ययगर्भिता, मनःप्राणयुक्ता वाक् ही सृष्टि की मूलजननी बना करती है, जैसा कि आत्मयोगशिक्षा में आत्मकलानुगत त्रिवृद्‌भाव का स्पष्टीकरण करते हुए बतलाया जा चुका है। इसी आधार पर **'अथो वागेवेदं सर्वम्'–'वाचीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता'** सिद्धान्त स्थापित हुए हैं। वाक् प्राणगर्भिता है, प्राण मनोगर्भित है, वाक्-प्राण-मन तीनों की समष्टिरूप वीर्य्याव्यय ही सृष्टिसाक्षी है, जिसका मनःपर्व स्वस्वरूप से (अव्ययरूप से) सृष्टि का आलम्बन कारण बनता है, प्राणपर्व अक्षररूप से निमित्तकारण बनता है एवं वाक्पर्व क्षररूप से उपादानकारण बनता है। कारणत्रयसमष्टिरूप–मनःप्राणवाङ्मय-अव्ययाक्षरात्मक्षरमूर्ति यही सृष्टिसाक्षी अव्ययात्मा 'अच्युतकोश' कहलाया है। आत्मयोगशिक्षा में प्रतिपादित प्राण-अबादिमूर्ति पाँच ब्रह्मसत्यात्मा, सर्वज्ञादिलक्षण देवसत्यरूप वाक्–आपः–अग्निमय, शुक्रात्मा सब कुछ इसी विद्यागर्भितवीर्य्यात्मक मनःप्राणवाङ्मय अच्युतकोश में प्रतिष्ठित है।

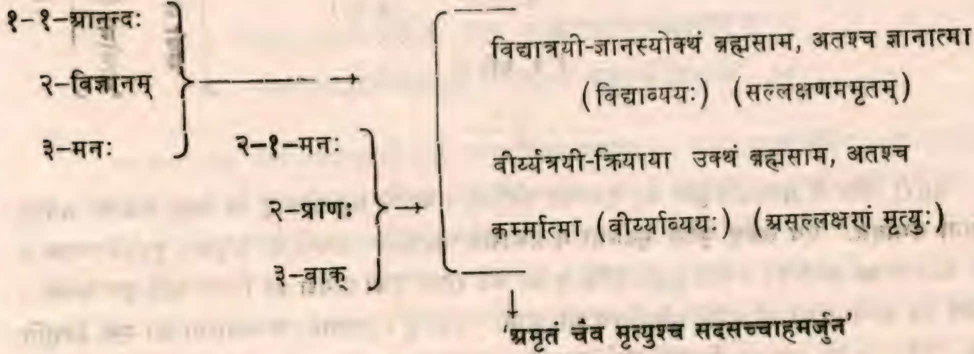
विद्या ज्ञानीय तत्त्व है, वीर्य्य कर्म्मात्मक है। विद्या-वीर्य्य का यही तात्त्विक स्वरूप-निर्वचन है। इस पारिभाषिक निर्वचन के अनुसार हम केवल वीर्य्यात्मक सृष्टिसाक्षी अव्ययात्मा में भी विद्या-वीर्य्यभावों का समन्वय कर सकते हैं। वीर्य्याव्यय का मनःकोश ज्ञानशक्तिमय है, ज्ञान ही विद्या है, अतएव इस मनःकोश को विद्या, किंवा 'विद्याकोश' कहा जा सकता है। वीर्य्याव्यय का प्राणकोश क्रियाशक्तिमय है। क्रिया ही कर्म्म है, कर्म्म ही वीर्य्य है, अतएव इस प्राणकोश को वीर्य्य किंवा 'वीर्य्यकोश' कहा जा सकता है। इस प्रकार केवल वीर्य्याव्यय में भी ज्ञान–क्रियामय मनः–प्राणसम्बन्ध से विद्यावीर्य्य भावों की सत्ता सिद्ध हो जाती है। तीसरा तत्त्व शेष रहता है–'वाक्'–जो कि अर्थशक्तिमयी है। अर्थ का याचना से सम्बन्ध है। मन की अशनाया से प्राण इस वाक्रूप अन्न की याचना करता है, अतएव इस वाक् को 'अर्थ' कहा गया है। अन्नाद प्राण के सम्बन्ध से अर्थात्मिका यही वाक् 'अन्न' कहलाई है–यही तीसरा अन्नकोश है जिसके आकाश-वायु-तेज-अप्-पृथिवी, ये पांच विवर्त्त माने गए हैं। आकाश नामक अन्न, किंवा अर्थ स्वयं वाक् है जिसका विद्याव्ययगर्भित मनःप्राणमय सृष्टिसाक्षी आत्मा से बलचिति द्वारा विकास हुआ है। यही वाग्रूप आकाश-अर्थ बलचिति की क्रमिक स्थूलता से क्रमशः

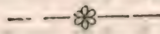
वायु-तेज-अप्-पृथिवी–इन रूपों में परिणत हो गया है। उपनिषत् श्रुति ने इस सृष्टिक्रम का यों विश्लेषण किया है—

"तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः, आकाशाद्वायुः, वायोरग्निः, अग्नेरापः, अद्भ्यः पृथिवी"।[1]

विद्याव्यय आनन्द-विज्ञान-मन, इन तीन कोशों में विभक्त है, वीर्य्याव्यय मनः-प्राण-वाक्- इन तीन कोशों में विभक्त है। मनः समतुलन से इन ६ कोशों के आगे जाकर ५ ही कोश रह जाते हैं। यही पञ्चकोशविभूतियुक्त अव्ययात्मा का एवं उसकी सर्वात्मकता का संक्षिप्त परिचय है। आनन्दमय-कोश, विज्ञानमय कोश-सृष्टि की अपेक्षा गर्भीभूत हैं। मनोलक्षण विद्याकोश, प्राणलक्षण वीर्य्यकोश, वाग्लक्षण अन्नकोश तीनों सृष्टचपेक्षा उद्बुद्ध हैं। इन तीनों में मनोमय विद्याकोश, प्राणमय वीर्य्य-कोश–दोनों आत्मकोटि में भुक्त रहते हुए अविकारभावप्राधान्य से अच्युतकोश हैं एवं वाङ्मय अन्न-कोश विश्वकोटि में भुक्त रहता हुआ विकारजनकत्वेन च्युतकोश है। निम्नलिखित परिलेखों से अव्ययात्मा की इस कोशात्मिका गर्भीभूत अच्युत-च्युत-तीनों विभूतियों का स्पष्टीकरण हो जाता है—

१–अव्ययात्मामृतमृत्युविभूतिपरिलेखः—





२–अव्ययात्मकर्म्मपरिलेखः—

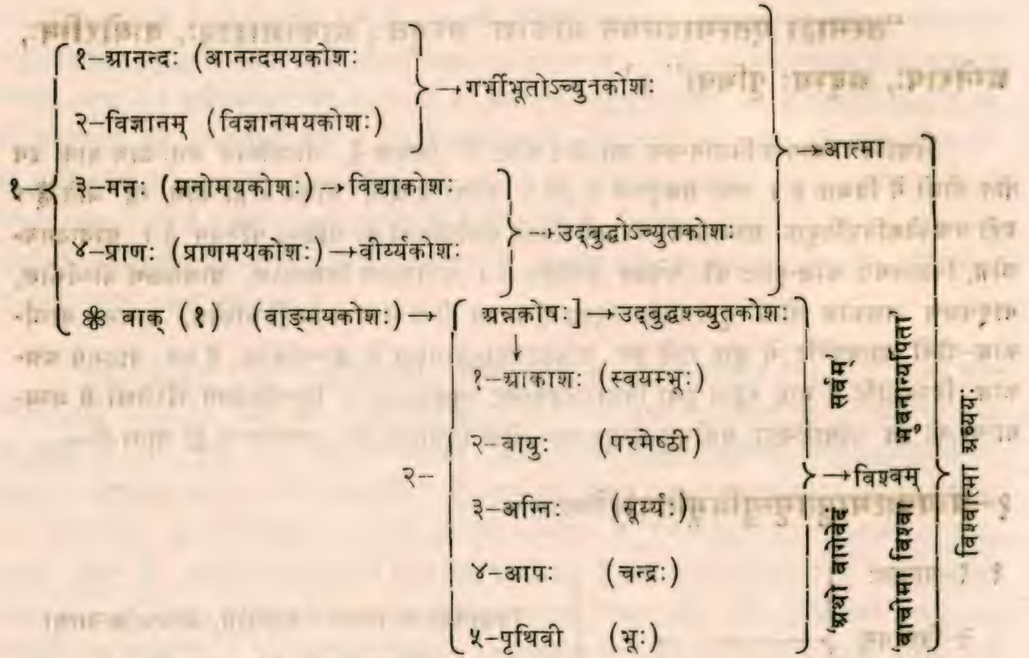
१-विद्याव्ययः→वीर्य्याव्ययगर्भितो विद्याव्ययः–मुक्तिसाक्षी-मुक्तेः प्रवर्त्तकः
२–वीर्य्याव्ययः→विद्याव्ययगर्भितो वीर्य्याव्ययः–सृष्टिसाक्षी–सृष्टेः प्रवर्त्तकः
} →सर्वप्रवर्त्तकोऽव्ययात्मा

'प्रभवः प्रलयस्थानं निधानं बीजमव्ययम्'

---

१ तै० उप० २।१।

३–अव्ययात्मानुगतविश्वविभूतिपरिलेखः —



——❀——

दूसरी दृष्टि से अव्ययविभूति का समन्वय कीजिए। यद्यपि यह ठीक है कि **'नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमाया समावृतः' 'एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते'**–इत्यादि वचनों के अनुसार गूढोत्मा नाम से प्रसिद्ध अव्ययात्मा सर्वान्तर बनता हुआ, बुद्धि से भी परे रहता हुआ प्रत्यक्ष का विषय नहीं बन सकता। इसीलिए इस अव्ययात्मा को स्वानुभवैकगम्य भी माना गया है। तथापि अव्ययात्मा की एक विभूति ऐसी है–जिसको लक्ष्य बनाकर विद्वान्, मूर्ख, बाल, वृद्ध, सब सामान्यरूप से इस अव्ययात्मा का साक्षात्कार कर सकते हैं, कर रहे हैं एवं इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि आत्मा परोक्ष नहीं, अपि तु सर्वथा प्रत्यक्ष है। अव्ययात्मा का प्रत्यक्षानुभव कराने वाली अव्ययात्मा की वह विभूति है–'सत्ता-तत्त्व'। 'अस्ति' ही सत्तातत्त्व है।'है'–यही सत्ता-भाव है। इस अस्तित्व के सामान्य, विशेष भेद से दो रूप विश्व में हमें उपलब्ध हो रहे हैं। जात्यनुगता सत्ता सामान्य-सत्ता है, व्यक्त्यनुगता सत्ता विशेष सत्ता है। उदाहरण के लिए पदार्थसत्ता सामान्यसत्ता है, जड़ पदार्थसत्ता तथा चेतनपदार्थसत्ता विशेषसत्ता है। जड़पदार्थसत्ता सामान्यसत्ता है, पृथिवी-जल-तेज-वायु-आकाशादि जड़ पदार्थसत्ता विशेषसत्ता है। चेतनपदार्थसत्ता सामान्यसत्ता है, मनुष्य-पशु-पक्षी-कीट-कृमि आदि चेतना पदार्थ सत्ता विशेष सत्ता है। पृथिवी-जल-तेज-वायु-आकाशादि जड़ पदार्थसत्ता सामान्यसत्ता है, पार्थिव घट-पट-मठादि जड़पदार्थसत्ता,

जलीय वापी-कूप-तड़ाग-सर-समुद्रादि जड़पदार्थसत्ता, तैजस-अग्नि-विद्युत्-तारक-आदि जड़पदार्थसत्ता, वायव्य रुद्र-मरुत्-मारुत-वात आदि जड़पदार्थसत्ता, आकाशात्मिका परमाकाश-पुराणाकाश-शरीराकाश-हृदयाकाश-घट-पट-मठाकाशादि जड़पदार्थसत्ता विशेषसत्ता है। मानव-पशु-पक्षी-कीट-कृमि आदि चेतनपदार्थसत्ता सामान्यसत्ता है, ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र-अन्त्यज-अन्त्यावसायी-दस्यु-म्लेच्छादि मानवीया चेतनपदार्थसत्ता, गौ-गज-अश्व-महिष-रासभादि पशव्या चेतनपदार्थसत्ता, कपोत-काक-गृद्ध-चटक-मयूरादि पक्ष्यनुगता चेतनपदार्थसत्ता, षट्-पद पिपीलिका-कीटादि चेतनपदार्थसत्ता, दशपाद-शतपाद-सहस्रपाद-सरीसृपसर्पादि चेतनपदार्थसत्ता विशेषसत्ता है। इसी प्रकार व्यापकभावों में रहने वाली पूर्व-पूर्व जड़-चेतनसत्ता सामान्यसत्ता है, उत्तर-उत्तर-सत्ता विशेषसत्ता है। इसीलिए सब सत्ताएँ पूर्वोत्तर सत्तापेक्षया सामान्य-विशेष, दोनों भावों से नित्ययुक्त हैं। सब सामान्य हैं-सब विशेष हैं। इस सामान्य का विश्राम वहाँ होगा, जहाँ से सामान्य-विशेषात्मक जड़-चेतन पदार्थ का सर्ग आरम्भ हुआ है और वह होगा सर्वमूलभूत अव्ययात्मा। विश्व में उससे बडा और कोई नहीं है, साथ ही ऐसा कोई भाव नहीं है-जिसमें अव्ययात्मा व्याप्त न हो, अतएव उसे केवल सामान्य ही कहा जाएगा, यही सामान्य परमसामान्य कहा जाएगा-जिसका साक्षात्कार विशेषभावपरित्याग पर ही सम्भव है। परमसामान्य ही परमसत्ता है-यही भेदजनक विशेषभावासंस्पृष्ट विशुद्धसत्ता ब्रह्म है। एवंविध सत्ता का बोध ही ब्रह्म का साक्षात्कार है-जैसा कि निम्नलिखित दार्शनिक वचन से स्पष्ट है—

"प्रत्यस्ताशेषभेदं यत् सत्तामात्रमगोचरम्।
वचसामात्मसंवेद्यं तज्ज्ञानं ब्रह्मसंज्ञितम्" ॥

परमसामान्य जहाँ परमभूमात्मिका परमसामान्यसत्ता है, वहाँ परमविशेष परमाणिमात्मिका परमविशेषसत्ता है। परमसामान्यसत्ता अव्ययात्मा का महतो महीयान् (सबसे बडा, अन्तिम बडा) स्वरूप है, परमविशेषसत्ता अव्ययात्मा का अणोरणीयान् (सबसे छोटा, अन्तिम छोटा) स्वरूप है। जो परमसामान्यसत्ता है, वही परमविशेषसत्ता है। परममहान् परमाकाशात्मा है, परमविशेष हृदयाकाशात्मा है। वैज्ञानिक कहते हैं-'हृदय' सबसे सूक्ष्मतत्त्व है। हृदय के साथ विष्कम्भ-व्यास-परिणाह आदि का कोई सम्बन्ध नहीं, अतएव हृदय का कोई आकार नहीं बतलाया जा सकता, जबकि सब आकार इसी के आधार पर प्रतिष्ठित हैं। हृदय और अन्तिम परिधिरूप महिमा (भूमा) दोनों अभिन्न हैं, अतएव यहाँ आकर सामान्य-विशेषद्वन्द्व का उच्छेद हो जाता है, रह जाती है केवल सामान्यसत्ता। यही अव्ययात्मा की वह विभूति है जो सर्वत्र भाव-अभावों में सामान्यरूप से 'अस्ति' द्वारा अपना बोध कराती हुई परोक्ष की अव्ययात्मा का प्रत्यक्षानुभव करा रही है। सूर्य्य 'है', चन्द्रमा-'है', मानव-'है', पशु-'है', पक्षी-'है', घट-'है', पट-'है', मठ-'है'-इत्यादि वाक्यों में जो 'है' नामक प्रत्यय है-वही सत्तातत्त्व है। सूर्य्य-चन्द्रमा-मानव-पशु-पक्षी-घट-पट-मठ आदि नामरूपकर्म्मात्मक पदार्थ ही वह उपाधि है-जिसने सामान्य अव्ययात्मसत्ता को पृथक्-पृथक् कर डाला है। इन उपाधियों को हटाते हुए जो शेष रहेगा-वही अभिन्नसत्तात्मक आत्मप्रत्यय माना जाएगा। उपाधियाँ बदलती हैं,

उपाधिभुक्त 'है' (अस्ति) नहीं बदलता। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि उपाधि के रहने पर जो 'है' विद्यमान रहता है, उपाधि के नष्ट हो जाने पर भी-सूर्य्य नहीं 'है', चन्द्रमा नहीं 'है'-इत्यादिरूप से वह 'है' तत्त्व अबाधितरूप ने विद्यमान रहता है। अमुक **पदार्थ** 'है'-यहाँ इस 'है' (अव्ययात्मसत्ता) ने पदार्थ के भाव को अपना रखा है। एवं '**अमुक पदार्थ नहीं**' 'है'-यहाँ इस 'है' ने पदार्थ के अभाव को अपना रखा है। पदार्थ भाव-अभाव अवस्थाओं में (व्यक्त-अव्यक्त अवस्थाओं में) बदलते रहते हैं, परन्तु अस्तित्व नहीं बदलता। 'है' और "नहीं है"-दोनों में 'है' अक्षुण्ण है और इस 'है' का आपामर विद्वज्जन, आबालवृद्धवनिता-सब को प्रत्यक्षानुभव हो रहा है। किसे 'अस्ति' का प्रत्यक्ष बोध नहीं ? मानव कहते हैं-हमें आत्मा का प्रत्यक्ष कराओ। श्रुति कहती है-'है' रूप से तुम आत्मा का प्रत्यक्ष कर तो रहे हो। इस प्रत्यक्षानुभूत 'अस्ति' के अतिरिक्त आत्मा का स्वरूप और है क्या ?-जिसे कि बतलाया जाय। 'अस्ति' इस सत्ताभाव को आप जान रहे हैं। इस अस्तिबोध से आप तृप्ति-तुष्टि का अनुभव कर रहे हैं। अस्ति ही वह तत्त्व है-जिसे जान कर आप जीवित हैं। जिस दिन मानव 'अस्ति' को भूल जाता है, उस दिन निरानन्दभाव में परिणत होता हुआ वह मृत्यु का ग्रास बन जाता है। स्पष्ट है कि 'अस्ति'-बोधानुगता तृप्ति ही जीवनसत्ता का कारण है।

'**अस्तिबोधानुगता तृप्ति**'-इस वाक्य को अवधानपूर्वक लक्ष्य बनाईए। १-'अस्ति', २-अस्ति का बोध, ३-अस्तिबोधानुगता तृप्ति, आपको इस वाक्य में खण्डत्रयात्मिका त्रिपुटी मिलेगी। '**अस्ति**' नामक प्रथमखण्ड 'सत्ता' किंवा 'सत्' है। 'अस्ति का बोध' नामक द्वितीय खण्ड-'ज्ञान'-चेतना', किंवा '**चित्**' है। '**अस्तिबोधानुगता तृप्ति**' नामक तृतीयखण्ड 'तृप्ति', 'रस', किंवा 'आनन्द' है। अस्तिबोधानुगता तृप्ति हो तो वह रसात्मक आनन्द है, जिसे प्राप्त कर मानव जीवित है। '**अस्ति-बोध**' ही तो वह 'चित्' है, जिससे तृप्ति-रस प्राप्त होता है। 'अस्ति' ही तो वह 'सत्' है, जिसका बोध तृप्तिरस प्रवृत्ति का मूलकारण बनता है। इस प्रकार यदि आप 'अस्ति बोध प्राप्त कर रहे हैं', तो कहना एवं मानना पड़ेगा कि आप सच्चिदानन्द अव्ययात्मा का साक्षात्कार कर रहे हैं। कौन कहता है कि सच्चिदानन्द परोक्ष है ? कौन कहता है कि हमें ईश्वर का साक्षात्कार नहीं होता ? और कौन यह कहने का दुस्साहस कर सकता है कि ईश्वर नहीं है ? सत्ता स्वीकार न करने वाले उस अनीश्वरवादी से हम पूछते हैं कि क्या वह 'ईश्वर नहीं है ?'-इस बात को नहीं मानता। यदि वह उत्तर में यह कहता है कि 'ईश्वर नहीं है'-यह तो मैं मानता हूँ, तो हम कहेंगे कि उसने ईश्वर मान लिया। 'ईश्वर नहीं है'-इस एक बात का अस्तित्व मानना ही उसके लिए पर्य्याप्त है। किसी भी तरह से किसी का भी वह अस्तित्व मान रहा है-अस्ति का अनुभव उसे हो रहा है। यह अस्तिबोध ही ईश्वरबोध है, जिससे अस्ति स्वीकार करने वाला अनीश्वरवादी भी अपने आपको नहीं बचा सकता। यदि वितण्डावाद में पड़कर अपने इस प्रत्यक्षानुभव पर पर्दा डालता हुआ नास्तिक यह कहेगा कि-'ईश्वर नहीं है'-इस वाक्य की सत्ता भी मैं नहीं मानता, तो तब भी वह अपने शस्त्र से स्वयं अपनी ही हानि करा बैठता है। 'ईश्वर नहीं है'-यह बात भी वह नहीं मानता-जिसका तात्पर्य्य निकलता है-'ईश्वर है'। यदि वह यह कहे कि मैं तो कुछ भी नहीं मानता'-तो फिर हम उससे कहेंगे कि-'कुछ नहीं मानता'-यह तो तुम मान रहे हो, मान अवश्य रहे हो-और यों 'कुछ नहीं' कहते हुए भी सत्ता स्वीकार कर रहे

हो। यदि यहाँ भी-'कुछ नहीं है, यह भी नहीं मानता'-बोलोगे तो सब कुछ मानने वाले सिद्ध हो जाओगे। नकार का नकार 'सत्ता का' संग्राहक माना गया है। घटाभावाभाव ही तो घटसत्ता का सूचक है। बात यथार्थ है। सर्वव्यापक सत्ताब्रह्म से कोई बच कर कैसे निकल सकता है? मानव भले ही इसे भुलाने का प्रयास करे-परन्तु वह इसे कब भुला सकता है? वह तो सदा इसकी आश्रयभूमि बना रहता है। अस्तु, आर्षगीता में अनीश्वरवादमूला यह चर्चा अप्रासङ्गिक है। प्रकृत में वक्तव्य केवल यही है कि 'अपनी अस्ति'-लक्षणा सत्ताविभूति से परोक्ष भी अव्ययात्मा साक्षात् अनुभव का विषय बन रहा है। इसी विभूति का स्पष्टीकरण करते हुए श्रुति ने कहा है—

"नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा।
'अस्ती'ति ब्रुवतोऽन्यत्र कथं तदुपलभ्यते ॥१॥
'अस्ती'त्येवोपलब्धव्यस्तत्त्वभावेन चोभयोः ॥
'अस्ती'त्येवोपलब्धस्य तत्त्वभावः प्रसीदति" ॥२॥[1]

अस्तिविभूतिपरिलेखः–

१– { अयं–अस्ति–'अस्ति' –भावानुगता सत्ता; अयं–नास्ति–न–'अस्ति' –अभावानुगता सत्ता } →सत् (अस्ति)

२– { यदस्ति, यन्नास्ति, तमहं जानामीति, अस्त्युपलब्धिः, उपलब्धिर्ज्ञानम्, ज्ञानं चेतना, तत्‌चित् } →चित् (अस्तिबोधः)

३– { यज् ज्ञायते, सा तृप्तिः, अस्तिबोधजन्या शान्तिः, तृप्तिः शान्तिः, शान्तिरानन्दः } →आनन्दः (अस्तिबोधानुगता तृप्तिः)

तदिदं-अस्तिबोधानुगततृप्तिलक्षणं–'सच्चिदानन्दब्रह्म'
अस्तिद्वारा–प्रत्यक्षानुभव विषयः–अव्ययात्मा

अव्ययात्मा की जिस 'सत्ता' विभूति का ऊपर दिग्दर्शन कराया गया है, उसके सम्बन्ध में कुछ विप्रतिपत्तियाँ उपस्थित की जा सकती हैं, जिनका निराकरण अपेक्षित है। अव्ययात्मा के जिस विद्या-

---

१ कठोप० २।६।१२-१३।

वीर्य्यात्मक एवं कोशात्मक स्वरूप का पूर्व में स्पष्टीकरण हुआ है, उस स्वरूप में कहीं 'सत्ता' का नामोल्लेख नहीं हुआ है। आनन्द-विज्ञान-मन-प्राण-वाक्–इन रूपों के अतिरिक्त यह सत्ताविभूति कहाँ से आ गई ? यही पहली विप्रतिपत्ति है। आनन्द आनन्द है, विज्ञान चित् है, आनन्द, चित् के अतिरिक्त मन-प्राण-वाक् का अनुल्लेख, अश्रुत 'सत्' तत्त्व का उल्लेख ही वह प्रथमविप्रतिपत्ति है, जिसका निराकरण विजिज्ञास्य है। दूसरी विप्रतिपत्ति नाम-रूप-कर्म्मात्मिका उपाधि से सम्बन्ध रखती है। पूर्व में अनेक बार यह घोषणा की गई है कि अव्ययात्मा ही सब कुछ बना है। नाम-रूप-कर्म्मात्मक पदार्थों को यहाँ उपाधि मानते हुए इन्हें सच्चिदानन्दघन अव्ययात्मा से पृथक् माना जा रहा है। स्पष्ट ही अव्ययात्मा की सर्वव्याप्ति का व्याघात सूचित हो रहा है। इन दोनों विप्रतिपत्तियों के अतिरिक्त अस्ति-साक्षात्कार के सम्बन्ध में पूर्व में जो कुछ कहा गया है, वह भी दार्शनिक दृष्टि से सम्बन्ध रखता हुआ तत्त्व का–व्यवच्छेदपूर्वक स्पष्टीकरण नहीं कर रहा है। इन्हीं कुछ एक समस्याओं के निराकरण के लिए सत्ता का वैज्ञानिक स्वरूप पाठकों के सम्मुख रखा जाता है।

नाम-रूप-कर्म्मात्मक पदार्थ क्षणिक इसलिए हैं कि इनका स्वरूप-निर्म्माण क्षणिक क्रियाकूट से हुआ है। क्रियाकूट गुण है, गुणकूट द्रव्य है, द्रव्य ही पदार्थ है। क्रिया का वास्तविक स्वरूप है–'अव्यक्त'। अव्यक्त क्रिया का व्यक्तिभाव ही पदार्थ का स्वरूप है। क्रिया की पूर्वावस्था अव्यक्त, मध्यावस्था व्यक्त, उत्तरावस्था अव्यक्त, अतएव **तन्मध्यपतित**–न्याय से मध्य की व्यक्तावस्था भी अव्यक्त, फलतः क्रिया की सर्वात्मना अव्यक्तता सिद्ध हो रही है। भूतात्मक पदार्थ अव्यक्तादि हैं–व्यक्तमध्य है, अव्यक्त निधन हैं–जैसा कि गीता कहती है—

"अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना" ॥[1]

क्षणिक क्रिया तब तक सर्वथा अनुपपन्न है, जब तक कि उसका कोई अक्षण आधार न मान लिया जाए। स्थिति ही गति का आधार बना करती है। क्रिया स्वयं क्रिया का आधार बन नहीं सकती। क्योंकि क्षणस्था क्रिया अन्य क्षणस्था क्रिया की प्रतीक्षा करने में सर्वथा असमर्थ है। अन्यक्रियोदय से पहले ही, किं वा उत्तरक्रियोदय से पहले ही पूर्वक्रिया का विलयन हो जाता है। मानना पड़ेगा कि अवश्य ही क्रिया का आधार, किं वा क्रियाकूटात्मक पदार्थों का आधार कोई निष्क्रियतत्त्व है। क्रिया जब क्षणिक है तो उसका कूट बना ही कैसे ?–यह विप्रतिपत्ति और है। इस विप्रतिपत्ति का निराकरण भी निष्क्रिय आधार स्वीकृति पर ही निर्भर है। अवारपारीण निष्क्रिय आधार पर क्षणिक क्रियाओं का आविर्भाव-तिरोभावलक्षण धारावाहिक प्रवाह संचालित है। इस निष्क्रिय आधार सम्बद्ध धारावल के कारण ही क्षणिक क्रिया क्रिया-कूटात्मिका बन जाती है-जैसा कि निम्नलिखित वचन से प्रमाणित है—

१ गीता २।२८।

"गुणभूतैरवयवैः समूहः क्रमजन्मनाम् ।
बुद्धया प्रकल्पिताभेदः 'क्रिये'ति व्यपदिश्यते" ।।[1]

वह निष्क्रिय आधार कौन जिसके आधार पर यह क्रियामय प्रपञ्च प्रतिष्ठित रहता है ? प्रश्न के उत्तर में वैज्ञानिकों ने 'धृति' शब्द हमारे सम्मुख रखा है। धृति का अर्थ है धारण करने वाली वह शक्ति, वह प्रतिष्ठा, जिस पर क्षणिकक्रियाकूटात्मक नामरूप-कर्म्ममय पदार्थ प्रतिष्ठित रहते हैं। **'ब्रह्म वै प्रतिष्ठा'**–इस श्रौतवचन के अनुसार यही धृतिरूपा प्रतिष्ठा 'ब्रह्म' नाम से व्यवहृत हुई है। यह प्रतिष्ठा ब्रह्म ही आधेयभूत पदार्थ का स्वरूपसंरक्षक है, अतएव इसे 'आत्मा' कहा गया है। अव्ययात्मा के विद्या-वीर्य्यलक्षण दोनों विवर्तों में से वीर्य्य-विवर्त के मनः-प्राण-वाक्–ये तीन अवान्तर पर्व बतलाए गए हैं और कहा गया है कि तीनों क्रमशः ज्ञान-क्रिया-अर्थ शक्तिप्रधान बनते हुए विद्या-वीर्य्य-अन्न-कोशात्मक हैं। 'मनः-प्राण-वाचां संघातः सत्ता' ही सत्ता का वैज्ञानिक लक्षण है। यही 'अस्ति' तत्त्व है। आत्मा ही 'अस्ति' है एवं–**'स वा एष आत्मा वाङ्मयः प्राणमयो मनोमयः'**–के अनुसार अस्ति-लक्षण आत्मा मनः-प्राण-वाङ्मय है। यही सत्ताब्रह्म है, यही 'सत्' है। इस प्रकार पञ्चकल अव्यय का वीर्यात्मक अर्द्धभाग ही 'सत्' बना हुआ है। चौथी विज्ञानकला 'चित्' है, पाँचवीं आनन्दकला आनन्द है, समष्टि सच्चिदानन्द है–यही अव्ययात्मा है। इस प्रकार पञ्चकल अव्यय में ही मनः-प्राण-वाग्रूप से सत्ता समावेश हो रहा है। सत्ताविभूति कहाँ से आ गई ?–विप्रतिपत्ति का यही निराकरण है, जैसा कि परिलेख से स्पष्ट है—

१–आनन्दः—आनन्दमयकोशः—विकासः—विद्या } ——→आनन्दः
२–विज्ञानम्—विज्ञानमयकोशः—ज्योतिः—वीर्य्यम् } —→विद्याव्ययः—→चित्
३–मनः —मनोमयकोशः —ज्ञानम् —विद्या }
४–प्राणः —प्राणमयकोशः —क्रिया —वीर्य्यम् } —→वीर्य्याव्ययः—→सत्
५–वाक् —वाङ्मयकोशः —अर्थः —अन्नम् }
} सच्चिदानन्दः —→अव्ययात्मा



आनन्द-विज्ञान-अन्तर्म्मनोमय विद्याव्यय निगूढात्मकोश है, यही अमृताव्यय है। मनःप्राणवाङ्मय वीर्य्याव्यय गूढोत्मकोश है–यही मर्त्याव्यय है। दोनों की समष्टि अमृत-मृत्युलक्षण सच्चिदानन्द अव्यय है। अव्ययात्मा का वीर्य्यभाग यद्यपि विद्यापेक्षया मर्त्य है तथापि उत्तरसृष्टि की अपेक्षा इसे भी विद्याव्ययवत् अमृत ही माना जाएगा। सर्वत्र सृष्टिधाराओं में अमृत-मृत्यु की व्याप्ति का यह आपेक्षिक

१ वाक्यपदीय

सम्बन्ध ही प्रक्रान्त रहा है। पूर्व-पूर्व संस्था उत्तर-उत्तर संस्थापेक्षया अमृतप्रधाना मानी गई है एवं उत्तर-उत्तर संस्था पूर्व-पूर्व संस्थापेक्षया मृत्युप्रधाना मानी गई है। इसी सामान्य परिभाषा के अनुसार मनःप्राणवाङ्मय वीर्य्याव्यय अमृतप्रधान माना जाएगा एवं इस अमृताव्यय से उत्पन्न मर्त्यभाग इसकी अपेक्षा मर्त्य माना जाएगा। अमृत मन से रूप का, अमृत प्राण से कर्म्म का, अमृता वाक् से नाम का उदय होता है। यच्चयावत् रूपों का उक्थ (प्रभव) मन है, मन से उत्थितरूप मन पर ही प्रतिष्ठित है, यच्चयावत् विभिन्नरूपों में मन समानरूप से व्याप्त है, अतएव पूर्व प्रदर्शित लक्षणानुसार मनरूपों का उक्थ-ब्रह्म-सामात्मक आत्मा है। एवमेव प्राण कर्म्मों का तथा वाक् नामों का आत्मा है–जैसा कि–**'अयं वाऽ इदं नाम रूपं कर्म्म। तेषां नाम्नां वागित्येतदेषामुक्थम्। अतो हि सर्वाणि नामान्युत्तिष्ठन्ति। एतदेषां साम, एतद्धि सर्वैर्नामभिः समम्। एतदेषां ब्रह्म। एतद्धि सर्वाणि नामानि बिभर्त्ति'**[1]–इत्यादि ब्राह्मणश्रुति से प्रमाणित है। नाम-रूप-कर्म्मात्मक पदार्थ मनःप्राणवाङ्मय अव्ययात्मा के ही मर्त्य विवर्त हैं। मनःप्राणवाक्समष्टि अव्ययात्मा का सत्तारूप है। कारणता सम्बन्ध में नाम-रूप-कर्म्म-समष्टिरूप पदार्थ भी जब इसी सत्तागर्भ में समाविष्ट हैं, फिर मर्त्य पदार्थ समष्टि को कैसे आत्मस्वरूप से बहिर्भूत माना जा सकता है? सत्यब्रह्म का कार्य्यरूप विश्व भी–**'नामरूपे सत्यम्'** के अनुसार अवश्यमेव सत्य है। विश्वदर्शन भी इस दृष्टि से परमात्मा के साक्षात् दर्शन हैं। तर्कवादी कहा करते हैं कि हम मानवादि प्राणियों को अपने चर्म्मचक्षुओं से देखते हैं, अतएव इनकी सत्ता स्वीकार कर लेते हैं। परन्तु ईश्वर को हम आँखों से नहीं देखते, अतएव उसकी सत्ता स्वीकार नहीं की जा सकती। **'ओमित्येतत्'**। मानवादि प्राणियों की सत्ता आप स्वीकार कर रहे हैं, इसलिए कि वे आपको अपने चर्म्मचक्षुओं से दिखाई दे रहे हैं। पूछते हैं, आँखों से आप नामरूप की समष्टिलक्षण प्राणियों के शरीर को देखते हैं अथवा शरीर के साथ-साथ प्राणियों का प्राण भी आप इन्हीं आँखों से देख रहे हैं? यही उत्तर मिलेगा कि नामरूपात्मक भौतिक शरीर इन आँखों से देख रहे हैं, प्राण का इस शरीर द्वारा अनुमान लगा रहे हैं। **ओमित्येतत्**। तब तो आपको मान लेना पड़ेगा कि आप ईश्वर का भी प्रत्यक्ष कर रहे हैं इन्हीं आँखों से। सूर्य्य-चन्द्रमा-नक्षत्र-पृथिवी-सागर सब नामरूपात्मकपदार्थ आप देख रहे हैं। ये उस ईश्वरात्मा के शरीरस्थानीय हैं। इन्हीं के आधार पर आपको अपने ही मन्तव्य के अनुसार इन मर्त्य पदार्थों के आधारभूत मनःप्राणवाङ्मयसत्ताब्रह्म की अनुभूति स्वीकार करनी पड़ेगी। हाँ, जिन कल्पनारसिकों की दृष्टि में नामरूपात्मक जगत् मिथ्या है, उनकी बात और है। किस आधार पर उन्होंने जगत् को मिथ्या कह डाला, जब कि–**'नामरूपे सत्यम्'**–इस श्रौत सिद्धान्त का समर्थन करने वाला आर्ष गीताशास्त्र **'असत्यमप्रतिष्ठन्ते जगदाहुरनीश्वरम्'** रूप से जगन्मिथ्यात्ववाद का आमूलचूड़ खण्डन कर रहा है? यह उन्हीं कल्पनारसिकों से पूछना चाहिए। स्वयं सत्ताब्रह्म यदि सच्चिदानन्दः है तो इस सत्ता से उत्पन्न सत्ताश्रय जगत् भी **'सच्चिदानन्दम्'** है। इस प्रकार अपने अमृत-मर्त्यरूपों से विश्वात्मा-विश्वेश्वर अव्यय सर्वत्र व्याप्त हो रहा है। फलतः अव्यय की सर्वव्याप्ति के व्याघात का प्रश्न ही निरर्थक बन रहा है।

---

१ शत० ब्रा० १४।४।४।१–२।

अब केवल सत्ता के वैज्ञानिक समन्वय का प्रश्न शेष रह जाता है। बतलाया गया है कि धृतिलक्षण प्रतिष्ठातत्त्व का ही नाम 'सत्ता' है। सत्ताप्रतिष्ठालक्षण पर धृतितत्त्व आत्मधृति, असतोधृति, सतोधृति भेद से तीन भागों में विभक्त मानी गई है। आत्मधृति मनोमयी है, असतोधृति प्राणमयी है एवं सतोधृति वाङ्मयी है। पार्थिवप्राणियों का आधार पृथिवी (भूपृष्ठ) है। भूपिण्ड की जिस आधार सत्ता से पार्थिवपदार्थ धृत हैं, यही सतोधृति है। पार्थिवपञ्चतत्त्व पार्थिवशरीरों का आधार है। पञ्चतत्त्व के आधार पर ही पार्थिव शरीर प्रतिष्ठित हैं। यही असतोधृति है। सर्वव्यापक आत्मा ही ज्ञानरूप से सब पदार्थों का आधार बना हुआ है। यही आत्मधृति है। आत्मधृति से पदार्थ का प्रतिष्ठा तत्त्व सुरक्षित रहता है, असतोधृति से विसर्गधर्म्म सुरक्षित रहता है एवं सतोधृति से संग्रहधर्म्म सुरक्षित रहता है। विषय का और स्पष्टीकरण कर लीजिए। नाम-रूप-कर्म्ममय प्रत्येक पदार्थ के केन्द्र में आनन्दविज्ञानगर्भित मनःप्राणवाङ्मय आत्मा प्रतिष्ठित है। ज्ञानशक्तिमय अव्ययमन ब्रह्माक्षर से, क्रियाशक्तिमय अव्ययप्राण इन्द्राक्षर से एवं अर्थशक्तिमयी अव्ययवाक् विष्णवक्षर से संयुक्त रहता है। ब्रह्माक्षर स्थितिप्रधान है, यह मनोमयाव्यय से संयुक्त रहता हुआ वस्तु की प्रतिष्ठा बनता है। इन्द्राक्षर गतिप्रधान है, यह प्राणमयाव्यय से संयुक्त रहता हुआ वस्तु का विसर्गात्मक कर्म्म बनता है। विष्णवक्षर आगतिप्रधान है, यह वाङ्मयाव्यय से संयुक्त रहता हुआ वस्तु का संग्रहात्मक कर्म्म बनता है। इस दृष्टि से मनोमयभाग को **प्रतिष्ठा**, प्राणमयभाग को **विसर्ग** एवं वाङ्मय भाग को **संग्रह** नामों से व्यवहृत किया जा सकता है। ज्ञान ब्रह्म है, क्रिया कर्म्म है, अर्थ अर्थ है। इस दृष्टि से मन को ब्रह्म, प्राण को **कर्म्म**, वाक् को **अर्थ**-इन नामों से व्यवहृत किया जा सकता है। मन विद्याकोश है, प्राण वीर्य्यकोश है, वाक् अन्नकोश है। इस दृष्टि से मनः-प्राण-वाक् को क्रमशः **विद्या-वीर्य्य-अन्न**-इन नामों से व्यवहृत किया जा सकता है। मन बिम्बात्मक उक्थरूप है, अतएव इसे **आत्मा** कहा जा सकता है। प्राण इस उक्थमन से विनिर्गत अर्क (रश्मि) रूप बनता हुआ मन पर हित है, अतएव इसे 'हित' कहा जा सकता है। वाक् इस हितप्राण पर उपहित रहती हुई 'उपहिता' कहला सकती है। अक्षरदृष्टया मनःप्राणवाक् को क्रमशः **ब्रह्मा-इन्द्र-विष्णु** नाम से व्यवहृत किया जा सकता है। अक्षरस्वरूपदृष्टया मनःप्राणवाक् को क्रमशः **स्थिति-गति-आगति** नामों से व्यवहृत किया जा सकता है। इस प्रकार आनन्दविज्ञानगर्भित मनःप्राणवाङ्मय अव्ययात्मा की विभूति का अनेक दृष्टियों से समन्वय किया जा सकता है-जैसा कि परिलेख से स्पष्ट है—

१– १–आनन्दः }
२–विज्ञानम् } →सर्वान्तरतमोऽन्तरात्मा निगूढः ।

२– ३–मनः–→ब्रह्म→विद्या→प्रतिष्ठा→आत्मा→उक्थम्→ब्रह्मा—स्थितिः }
४–प्राणः→कर्म्म→वीर्य्यम्→विसर्गः→हितः→अर्कः→इन्द्रः—गतिः } →सर्वान्तरोऽव्ययः गूढोत्मा
५–वाक्→अर्थः→अन्नम्→संग्रहः→उपहिता→अशितिः→विष्णुः–आगति }



१–आनन्दविज्ञानगर्भितं मनः→रूपाणामुक्थ–ब्रह्मसामलक्षणः–आत्मा, ततः–आत्मधृतेरुदयः ।
२–आनन्दविज्ञानमनोगर्भितः प्राणः→कर्म्मणामुक्थ-ब्रह्म-सामलक्षणः-आत्मा, ततः-असतो धृतेरुदयः ।
३–आनन्दविज्ञानमनःप्राणगर्भिता वाक्→नाम्नामुक्थ ब्रह्म-सामलक्षणः–आत्मा, ततः–सतो धृतेरुदयः ।



१–आनन्दविज्ञानगर्भितो मनःप्राणवाङ्मय आत्मा—आत्मा–अमृतः (आत्मा) }
२–नामरूपकर्म्ममयाः-पदार्थाः→पदार्थाः–मर्त्याः (शरीरम्) } →आत्मन्वी अव्ययेश्वरः



सैषा स्थितिः । सर्वसाधारण की दृष्टि में, विशेषतः उन निष्कामकर्म्मवादियों की दृष्टि में जिन्होंने गीता को 'निष्काम कर्म्मयोग शास्त्र' मानने-मनवाने की चेष्टा की है । उनके गीता के सम्बन्ध में उद्‌गार हैं कि 'मानव को निष्काम कर्म्म करना चाहिए । कामना का परित्याग ही निष्कामभाव है । ऐसे निष्कामकर्म्म से संस्कार उत्पन्न नहीं होता, जो संस्कार ज्ञान-कर्म्म भेद से भावना, वासनारूप से दो भागों में विभक्त है । संस्कार उत्पन्न न होने से आत्मा निर्लेप बचा रह जाता है और कर्म्म करने से लोकसंग्रह भी सुरक्षित रह जाता है । इस प्रकार निष्कामकर्म्म योगानुष्ठान से ऐहिक, आमुष्मिक–दोनों पुरुषार्थ सिद्ध हो जाते हैं ।' विश्वास कीजिए कि गीताशास्त्र के सम्बन्ध में उक्त लक्षण निष्कामकर्म्म-योग का कोई महत्त्व नहीं है । न तो भगवान् ने कामना का खण्डन किया है, न फलेच्छा का विरोध

किया है, ना हीं भावना-वासना संस्कारों का विरोध किया है। अपि तु, मानव जीवन की स्वरूपरक्षा के लिए अनिवार्य्य प्राकृतिक कामना, फलेच्छा, भावना-वासना संस्कार आदि सब का निःसंदिग्धरूप से समर्थन किया है। यह स्मरण रखने की बात है कि कामना, फलेच्छा, भावना-वासनासंस्कार–इनमें से कोई भी बन्धन के कारण नहीं हैं। बन्धन का एकमात्र कारण है–संस्कार-लेप का आत्मा के साथ मन के द्वारा अन्तर्य्याम सम्बन्धात्मक हृद्ग्रन्थिबन्धन। गीता-शास्त्र ने 'त्याग' के सम्बन्ध में इस लेपबन्धन की जननी आसक्ति को ही एकमात्र लक्ष्य बनाया है। आसक्ति भी कौनसी ? मनोऽनुगता, जीवात्मानुगता। ईश्वरात्मानुगता आसक्ति तो प्रत्येक दशा में ग्रहण ही मानी जाएगी। क्योंकि इसके विना जीवनसत्ता ही असम्भव है।

आर्ष गीता के उक्त दृष्टिकोणात्मक व्याख्याताओं की व्याख्या के मोह में पड़कर सम्भवतः गीता भक्तों ने यह मान लिया है कि "ईश्वर में चूंकि न कामना है, न फलेच्छा है, न भावना-वासना संस्कार है, अतएव वह नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त है"। मानते हैं कि, ईश्वराव्ययात्मा नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त है, परन्तु उसमें कामनादि का अभाव है–यह तो कथमपि नहीं मान सकते, जबकि शास्त्रप्रामाण्य द्वारा, साथ ही प्रत्यक्षानुभव के द्वारा भी हम उसे काममय–संस्कारमय देख-सुन रहे हैं। ईश्वर इच्छा करता है, इच्छा ही उसका पहला रेत है–जिसके सहयोग से सम्पूर्ण विश्व का निर्म्माण हुआ है। **'कामस्तदग्रे समवर्त्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्', 'सोऽकामयत'**–इत्यादि मन्त्र-ब्राह्मण श्रुतियाँ विस्पष्ट शब्दों में उसे काममय घोषित कर रही हैं। यह कामना निरर्थक नहीं है, अपि तु फलानुगता है। फल भी आकस्मिक नहीं है, अपि तु ऐच्छिक है। ईश्वर ने इस फल की इच्छा की है। उसने चाहा है कि मैं पृथिवी-जल-तेज-वायु-आकाशादि उत्पन्न करूँ। वह इन फलों की कामना करके ही नहीं रह जाता, अपि तु, कामना के अनुरूप परिश्रम (तप) करता है, श्रम करता है। इस कामनामय तपः–श्रम से ही वह अभीष्ट फल प्राप्त करने में समर्थ होता है। ईश्वर की इस कामना का मूल बनती है–उसकी महत्त्वाकांक्षा-जिसका–**'एकोऽहं बहु स्याम्'** वचन से विश्लेषण हुआ है। इसी महत्त्वाकांक्षानुगता एषणा के द्वारा सर्वान्तर वह अव्ययेश्वर कामना-फलेच्छा द्वारा विश्वनिर्म्माण में समर्थ हुआ है। इस प्रकार– **'सोऽकामयत, स तपोऽतप्यत, सोऽश्राम्यत्। तस्य कामयमानस्य तप्यमानस्य श्रान्तस्य'**–इत्यादिरूप से कामना-तपः-श्रम द्वारा वह विश्वरूपफल का उत्पादक बनकर इसके द्वारा अपनी महत्त्वाकांक्षा सफल बना रहा है। विश्वरूपफल ही उस ईश्वर का ऐश्वर्य्य है। यदि वह इस विश्वात्मक ऐश्वर्य्य को उत्पन्न न करता तो उसकी ईश्वरता ही संदिग्ध बनी रह जाती। सिद्ध है कि ईश्वर कामना-फलेच्छा का नित्य अनुगामी है। विश्वरूपफल को ईश्वर ने उत्पन्न कर उस फल की आसक्ति (सम्बन्ध) से अपने आपको बचा लिया हो, दूसरे शब्दों में विश्वफल उत्पन्न कर वह इस भय से कि यह विश्वासक्ति मुझे बन्धन में डाल देगी–इससे अलग बैठ गया, तटस्थ बन गया हो–यह बात भी नहीं है। अपि तु, अपनी इच्छा-तप-श्रम से उत्पन्न इस विश्वफल के गर्भ में प्रविष्ट होकर 'ममेदं' भावना से इसका आत्मा बन गया और यों फलात्मक विश्व को चारों ओर वेष्टित कर वह आत्मा विश्वात्मा-विश्वेश्वर बन गया–जैसा कि– **'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्'** से प्रसिद्ध है। संस्कार उसमें नहीं हैं–यह कौन किस आधार पर मान सकता है, जब कि विश्वात्मक संस्कार हम प्रत्यक्ष में देख रहे हैं ? संस्कारों की धारावाहिक चिति-

संचिति से ही तो इस प्रत्यक्ष दृष्ट भौतिक विश्व का स्वरूप निर्म्माण हुआ है। यही तो ईश्वरीय भावना (ज्ञानीय प्रत्यय) गर्भित ईश्वरीय वासना संस्कार है, जिसका स्थूलरूप विश्व है एवं जो संस्कार-चितिरूप स्थूलविश्व संस्कारेच्छुक-संस्कारजनक ईश्वरात्मा पर खचित है। इस प्रकार कामना, फलेच्छा, तदनुकूल व्यापार, संस्कार-लेप, संस्कारलेपयुक्तता सभी धर्म्मों से अव्ययेश्वर की युक्तता सर्वात्मना प्रमाणित हो जाती है। **'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः'**–के अनुसार जबकि मानव उक्त धर्म्मकर्म्मा ईश्वर का अंश है, तो वह क्योंकर इन प्राकृतिक-प्रभवानुगत गुणधर्म्मों से बचा रह सकता है? कारण के धर्म्म कार्य्य में न आवें–यह असम्भव है। क्योंकि कारणगुण ही तो कार्य्य-गुणों के आरम्भक बना करते हैं। सिद्ध है कि मानव न कामना का परित्याग कर सकता, न फलेच्छा छोड सकता, न भावना-वासनात्मक संस्कारों से अपने आपको बचा सकता। फलतः गीता को ऐसे निष्कामकर्म्म की प्रतिपादिका मान बैठना सर्वथा प्रौढिवाद है, जिस निष्कामकर्म्मयोग को कामनादि-शून्य, महत्त्वाकांक्षावञ्चित, संस्कारविरहित माना और मनवाया जा रहा है। फिर गीता बतला क्या रही है?–प्रश्न का समाधान पूर्वप्रतिपादित आत्मधातुस्वरूप से स्पष्ट है।

अव्ययात्मा के जिन ब्रह्म-कर्म्म धातुओं का स्पष्टीकरण हुआ है, उन धातुओं का विभिन्न दृष्टिकोण से निरूपण करते हुए गीताशास्त्र ने केवल उभयधातुसाम्य का ही प्रतिपादन किया है, अतएव यह विशुद्ध समत्वयोगशास्त्र है। जैसा कि, अगली शिक्षा में ही स्पष्ट किया जाने वाला है। कामनादि के रहते हुए भी ईश्वर क्यों शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-अनन्तकल्याणगुणाकर बना हुआ है?, उन्हीं कामनादि के रहते जीव क्यों अशुद्ध-मुकुलित-अनन्तदुःखानुगामी बन रहा है? प्रश्न का उत्तर धातुसाम्य एवं धातुवैषम्य ही है। अव्ययेश्वर का विद्याव्ययात्मक ब्रह्म धातु तथा वीर्य्याव्ययात्मक कर्म्मधातु–दोनों समभावापन्न हैं। जीवात्मा ने अपने इन दोनों धातुओं को प्रज्ञापराध से विषम बना लिया है। यह धातुवैषम्य ही जीवात्मा की दुःखप्रवृत्ति का कारण है। धातुवैषम्य से असङ्गबुद्धि पर ससङ्ग मन का प्रभाव हो जाता है। स्नेहगुण-प्रधान ऐसे बलबुद्धिगर्भित मन पर आने वाले भावना-वासनासंस्कार ग्रन्थिबन्धनरूप से खचित हो जाते हैं। संस्कारों का मन के साथ होने वाला यह ग्रन्थिबन्धन ही 'आसक्ति' है–यही दुःख द्वार है। धातु-साम्य द्वारा आसक्ति निराकरण करना ही गीता का मुख्य पुरुषार्थ है। धातुसाम्य से ससंग मन पर असंगबुद्धि का प्रभाव हो जाता है। तेजोगुणप्रधाना ऐसी सबल मनोगर्भिता बुद्धि पर आने वाले भावना-वासनासंस्कार केवल बहिर्य्यामसम्बन्ध से आत्मा पर प्रतिष्ठित रहते हैं। संस्कारों का बुद्धि के साथ होने वाला यह संशरबन्धन ही 'अनासक्ति' है–यही शान्तिद्वार है। धातुसाम्य द्वारा इस अनासक्ति-पथ का दिग्दर्शन करा देना ही गीता का मुख्य पुरुषार्थ है। कामना-फलेच्छा-संस्कार आदि परिग्रहों से सम्बन्ध रखने वाला लौकिक ऐश्वर्य्य, लोक विभूतियाँ स्वप्न में भी दुःखप्रद नहीं हैं। यदि ये विभूतियाँ ही दुःखद होती, तो भगवान् इनकी प्राप्ति के लिए अर्जुन को युद्ध में प्रवृत्त न कराते। विश्वास कीजिए, संसार, संसार में प्रतिष्ठित यच्चयावत् भोगसामग्रियाँ, इनकी इच्छा, इनका भोग, कोई भी दुःख का कारण नहीं है। दुःख का कारण हो भी कैसे सकती हैं?, जबकि इनकी उत्पत्ति स्वयं सच्चिदानन्द से हुई है। ना हीं इनमें प्रवृत्त रहना ही दुःख का कारण है। अपि तु, इनमें अन्तर्य्याम

सम्बन्ध से फँस जाना ही–आसक्त हो जाना ही दुःख का कारण है। आसक्तित्याग, परिग्रह-ग्रहण, इस ग्रहण (योग)–त्याग (सांख्य) लक्षण समन्वयात्मक योग का ही नाम समत्वयोग है, यही बुद्धियोग है, जिसे गीता ने अर्जुन के बहाने मानव मात्र को लक्ष्य बनाया है।

आस्तां तावत्। प्रकृतमनुसरामः। अव्ययात्मा के ब्रह्म, कर्म्म–इन दो घातुओं में से ब्रह्मधातु अमृतप्रधान है, कर्म्मधातु मृत्युप्रधान है। अमृतप्रधान ब्रह्मधातु रसात्मक स्वाभाविक विकास के कारण ज्योति किंवा ज्योतिषां ज्योति है। भूतप्रकाश ज्योति है। भूतप्रकाश का भान इस ब्रह्मज्योति (ज्ञान-ज्योति) से ही होता है, अतएव इसे **'ज्योतिषां ज्योति'** कहना अन्वर्थ बनता है, जैसा कि **'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति'**–इत्यादि उपनिषत्-श्रुति से प्रमाणित है। इस प्रकार अव्ययात्मा के-इस ब्रह्मधातु के ब्रह्म-ज्योति-विद्या-ज्ञान–ये अनेक नाम हो जाते हैं। ज्योतिर्विद्या-ज्ञानात्मक ब्रह्म नामक अव्ययात्मा के इस अमृतधातु से सृष्ट्युपयिक-सृष्टिकामनात्मक जिस ज्ञानीयसंस्कार का उदय होता है–वही ज्ञानीय किंवा ज्ञानजनित संस्कार 'भावना' कहलाया है। लोक में जिसे 'कल्पना' कहा गया है, वही शास्त्र में 'भावना' कहलाई है। कल्पना-रूपा भावना ही भौतिक वासना-संस्कारात्मक-विश्व का प्रारम्भिक बीज बना करती है, जिसका अभिनय–'मैं ऐसा करूँ'-ऐसा बताऊँ'–इत्यादि वाक्यों से किया जाता है। लोग कहते हैं–ससार काल्पनिक है। हम भी कहते हैं–अवश्य काल्पनिक है। ईश्वरीय कल्पना ही तो संसार का मूल है। परन्तु 'कल्पना' मिथ्या तत्त्व है–यह किस आधार पर मान लिया गया ? क्या **'प्राणो यज्ञेन कल्पताम्'**–में कल्पना का अर्थ मिथ्या है ? काल्पनिक का अर्थ लोग समझ रहे हैं–'मिथ्या'। कैसी भ्रान्ति है ? एक ग्रन्थकार पहले कल्पना करता है–जिसका तात्पर्य्य है–अपने ज्ञानीय धरातल पर केवल ज्ञान से उस भावी ग्रन्थ का रेखाङ्कन करता है। मानसी सृष्टि भावसृष्टि कहलाई है, अतएव ज्ञानात्मक इस मानस संस्कार को किंवा कल्पना को वैज्ञानिकों ने 'भावना' नाम से व्यवहृत किया है। यही भावना (मानस संकल्प) आगे जाकर प्राण सहयोग से–प्राणव्यापार से क्रियारूप में परिणत हो जाती है–जैसा कि–**'भावो भावना, सैव क्रिया'**-इत्यादि से स्पष्ट है। प्राणात्मिका क्रिया ही आगे जाकर वाक्सहयोग से-वाग्व्यापार से–उस भावना को मूर्त्तरूप प्रदान करती है, भावना का जो मूर्त्तरूप 'वासना' नाम से व्यवहृत हुआ है–जिसका अनुपद में ही स्पष्टीकरण होने वाला है। एक चित्रकार पहले अपने मानस जगत् में चित्र का ज्ञानीय आकार बनाता है। यही इसका भावनामय काल्पनिक चित्र है, जो वासनामय भौतिक चित्र का आधार बनेगा। काल्पनिक चित्र उस भौतिक चित्र की अपेक्षा विशेष महत्त्व रखता है। काल्पनिक चित्र में ही चित्रकार विविध रंगरञ्जित तूलिका से वासनात्मक भौतिक रंग खचित करता है। यदि काल्पनिक चित्र से थोड़ा भी रंगरञ्जन न्यूनाधिक हो जाता है तो चित्रकार को सन्तोष नहीं होता। मनभावन चित्र वही बनेगा जिसमें मन की कल्पनात्मिका भावना के अनुरूप रंग का समावेश होगा। सिद्ध है कि काल्पनिक चित्र ही प्रधान है। प्रत्येक भौतिक पदार्थ का आधार-उसका काल्पनिक ही बना करता है और वह काल्पनिकरूप ही अव्ययात्मा के ब्रह्मभाग से सम्बद्ध ज्ञानजनितसंस्कारात्मिका 'भावना' है।

कर्म्मधातु मृत्युप्रधान है–यह स्पष्ट किया जा चुका है। मृत्युप्रधान यह कर्म्मधातु बलात्मक स्वाभाविक संकोच के कारण 'तम' किंवा 'मोह' नाम से व्यवहृत हुआ है। कर्म्म भी भूतजगत् का वाग् द्वारा उपादान बनता है, उपादान ही 'आरम्भ' कहलाता है, अतएव इस कर्म्मधातु को 'आरम्भ' नाम से भी व्यवहृत किया जा सकता है। आरम्भ-लक्षण-मोहात्मक यही कर्म्मधातु बलचिति द्वारा स्थूलरूप में आकर 'वासना' कहलाने लगा है। इस प्रकार अव्ययात्मा के कर्म्मधातु के कर्म्म, तम, मोह, वीर्य्य, आरम्भ आदि अनेक नाम हो जाते हैं। तमोमोहवीर्य्यात्मिक कर्म्म नामक अव्ययात्मा के इस मर्त्य-धातु से सृष्टिरूप जिस कर्म्मसंस्कार का उदय होता है, वही कर्म्मजनित संस्कार–**'वसत्यात्मनि'** निर्वचन से **'वासना'** नाम से प्रसिद्ध हुआ है। प्रश्न होगा कि क्या ईश्वर में भी वासना और मोह है? उत्तर दिया जाएगा–यदि ईश्वर में ये न होते तो तदंशभूत जीव में ये कहाँ से उपपन्न होते? मोह के तात्त्विक स्वरूप पर दृष्टि डालिए, वासना के वैज्ञानिक स्वरूप का अन्वेषण कीजिए। समाधान हो जाएगा। जिस आध्यात्मिक वृत्ति के उदय से मानव अपने आपको भूल जाता है, अपना आत्मप्रकाश खोकर वैचित्र्य का अनुगामी बन जाता है–वही वृत्ति 'मोह' कहलाई है। इस कथन में सारभूत अंश केवल यही है कि इस वृत्ति से आत्मा का स्वाभाविक चिद्विकास अवरुद्ध हो जाता है। विकासावरोध ही मोह है एवं ईश्वरीय संस्था में अवश्य ही एवंविध मोह का साम्राज्य है। सृष्टचनुगत बल तमो-लक्षण है। ज्यों-ज्यों बल की चितियाँ रसप्रधान अमृताव्यय पर आरूढ होती जाती हैं, त्यों-त्यों उसका स्वाभाविक विकास आवृत होता जाता है, फलस्वरूप चैतन्य के स्थान में जड़ता प्रधान बनती जाती है। लोष्ट-पाषाणादि जिन जड़ पदार्थों का आप प्रत्यक्ष कर रहे हैं, इनके केन्द्र में भी चेतनप्राणिवर्ग की भाँति यद्यपि वह ज्योतिर्घन आत्मा प्रतिष्ठित है, तथापि बलचिति के आत्यन्तिक उद्रेक से वह ज्योतिर्मय आत्मा आवृत हो रहा है। यही उनकी मोहावस्था है, विचित्रता है। इस प्राकृतिक आवरण की दृष्टि से ही मोह को कर्म्माव्यय का धातु मान लिया जाता है। मानव के सुप्रसिद्ध मोह में और इस सृष्टिधारासम्बन्धी ईश्वरीय मोह में अन्तर यही है कि मानव धातुवैषम्य से मोह द्वारा वास्तव में अपना स्वरूप भुला बैठता है। परन्तु ईश्वर धातुसाम्य से रहते हुए भी मोह से अपने स्वरूप से विकसित रहता है। यही उत्तर वासना का है। बलचिति ही बलसंस्कार है–यही वासना है। पाञ्च-भौतिक स्थूलजगत् ही वासनाजगत् है–जो अमृतात्मा का शरीर बना हुआ है। जीव जहाँ धातुवैषम्य से इस वासनापुञ्ज में आसक्त रहता है, वहाँ ईश्वर धातुसाम्य से इस वासना पुञ्ज में व्याप्त रहता हुआ भी अनासक्त है।

ईश्वरीय कर्म्म निवृत्त-प्रवृत्त भेद से दो भागों में विभक्त हैं। रसानुगत कर्म्म निवृत्तकर्म्म हैं, बलानुगत कर्म्म प्रवृत्तकर्म्म हैं। प्रवृत्तकर्म्म सञ्चर (सृष्टि) के प्रवर्त्तक बनते हैं, निवृत्तकर्म्म प्रतिसञ्चर (लय) के प्रवर्त्तक बनते हैं। निवृत्तकर्म्म मुक्तिसाक्षी अव्ययात्मा के आश्रित रहते हैं। प्रवृत्तकर्म्म सृष्टिसाक्षी अव्ययात्मा के आश्रित रहते हैं। प्रवृत्तकर्म्म से बलों की उत्तरोत्तर चिति (ग्रन्थिबन्धन) होती है, इसी से विश्वस्वरूप का निर्म्माण होता है। निवृत्तकर्म्म से बलों की चिति का उत्तरोत्तर क्षय होता है, ग्रन्थिबन्धन टूटता है–इसी से विश्वस्वरूप का विलयन होता है। इस प्रकार अव्ययात्मा की विद्यास्वरूपानुगता मुमुक्षा तथा वीर्य्यस्वरूपानुता सिसृक्षा से निवृत्त-प्रवृत्तकर्म्म द्वारा ध्वंस-निर्म्माणभाव प्रक्रान्त रहते हैं एवं

यों ईश्वरीय संस्था में उभयविध उन कर्म्मों की भी सत्ता सिद्ध हो जाती है, जिन ईश्वरीय द्विविध कर्म्मों के आधार पर ही मानवधर्म्मशास्त्र ने–**प्रवृत्तं च निवृत्तं च द्विविधं कर्म्म वैदिकम्**–इत्यादिरूप से मानव के द्विविध वैध-अनुष्ठेय कर्म्मों की व्यवस्था की है। ईश्वर जहाँ धातुसाम्य से प्रवृत्तकर्म्म करता हुआ भी तज्जनित विश्वात्मक वासनासंस्कार से वेष्ठित रहता हुआ भी इनमें आसक्त नहीं होता, वहाँ धातुवैषम्य से प्रवृत्तकर्म्मानुगामी मानव तज्जनितवासनासंस्कार में आबद्ध हो जाता है। तात्पर्य्य कामना, फलेच्छा, भावना, वासना संस्कार, महत्त्वाकांक्षा सब कुछ ईश्वर में भी हैं और जीव में भी हैं। ईश्वर जहाँ धातु समता से इन सब परिग्रहों के रहते भी शान्त है, वहाँ जीव धातुविषमता से इन परिग्रहों में आसक्त होकर अपने ही प्रज्ञापराध से अशान्त है, दुःखी है। भगवान् ने मानव के इसी प्रज्ञापराध का गीताशास्त्र में विश्लेषण किया और उसे बतलाया कि 'तुमने अपनी अज्ञता से सच्चिदानन्द ब्रह्म को भुलाकर अपनी आसक्तिमूला उत्थाप्याकांक्षा, तत्सहकृता फलेच्छा, तन्मूलकभावना, तन्मूलक वासनासंस्कार में फँसकर अपने आपको दुःखी बना लिया है। यदि तुम्हें वास्तविक सुख-शान्ति प्राप्त करनी है तो अपनी आकांक्षा-फलेच्छा-भावना-वासना कर्म्म आदि परिग्रहों को उत्थितभावात्मिका बनानी पड़ेगी। इसके लिए तुम्हें अपने ब्रह्म-कर्म्म धातुओं की साम्यावस्था प्राप्त करनी पड़ेगी। इसके लिए उत्थिताकांक्षामूलक साध्य बुद्धि-योग का अनुगमन करना पड़ेगा। '**नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय**'। ईशकामना का आश्रय, स्वकामना का परित्याग, ईशकामनानुगत फलेच्छा-भावना-वासना का अनुगमन, स्वकामनानुगत फलेच्छा-भावना-वासना का परित्याग–यही गीता के नैष्कर्म्यलक्षण उस निष्कामकर्म्मयोग का निष्कर्ष है–जो किया नहीं जाता, अपि तु, होता है। '**यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि**' ही निष्कामकर्म्म की परिभाषा है। इच्छा होती है, होने दीजिए। फलकामना होती है होती रहे। कामनानुसार कर्म्म होता है, होगा ही। कर्म्मा-नुसार समृद्धि भी प्राप्त होगी, संस्कार भी उत्पन्न होंगे, होने दीजिए। प्राकृतिक हृद्य अन्तर्य्यामी की प्रेरणा से जैसा जब जो कुछ हुआ–हो रहा है एवं होगा, वैसा तब वह कुछ हुआ–हो रहा है–होगा। आपका इससे क्या सम्बन्ध ? आपकी स्वतन्त्रसत्ता है कहाँ, जो आप '**अहं करोमि**' मान रहे हैं। यही गीतासम्मत निष्कामकर्म्म है, जिसकी प्रक्रान्ति से ऐहलौकिक अभ्युदय के साथ-साथ आप पारलौकिक निःश्रेयस् प्राप्त करने में समर्थ हो जाते हैं।

परमात्मानुबन्धी उत्थिताकांक्षामूलक कामना-वासनादि चूँकि आसक्ति प्रवृत्ति के स्थान में आसक्तिनिवर्तक बनते हैं, अतएव एवंविध कामादि निष्कामादि ही कहलाएँगे। गीता में जहाँ कहीं काम-वासनादि परित्याग का आदेश हुआ, सर्वत्र उनसे जीवात्मानुबन्धी उत्थाप्याकांक्षामूलक कामनादि का ही ग्रहण करना चाहिए। इस दृष्टि को लक्ष्य बनाकर ही दो शब्दों में हमें अध्यात्मसंस्था के बन्धन विमोकभावों की मीमांसा करनी है। जन्मान्तरीय सञ्चित भावना-वासनासंस्कारपुञ्ज ही वह उक्थ है, जिसके भोग के लिए प्राणी को संस्कारस्वरूपानुसार जन्म लेना पड़ता है। संस्कारवश प्राणी ने जन्म लिया। इस वर्तमान जन्म में प्राणी ने पुनः उक्थात्मक संस्कार के बल पर कर्म्मारम्भ किया। भावना संस्कारगर्भित प्राणी का यह वासनात्मक कर्म्म निवृत्त-प्रवृत्त भेद से दो भागों में विभक्त रहता है। जिन कर्म्मों से इसके सञ्चित वासनासंस्कार वासनासंस्कारों की चिति से उत्तरोत्तर स्थूल बन जाते हैं एवंविध कर्म्म प्रवृत्तकर्म्म कहलाया है। ऐसा कर्म्म ही जीवात्मेच्छानुगत उत्थाप्याकांक्षामूलककर्म्म है।

वासनाचिति से आत्मस्वरूप आवृत हो जाता है। आत्मस्वरूप के आवृत हो जाने से बुद्धि भी स्वतः मलिन हो जाती है, बुद्धि का स्वभाविक व्यवसायधर्म्म उच्छिन्न हो जाता है। कर्त्तव्यनिर्णयात्मक निश्चयभाव विलुप्त हो जाता है। किंकर्त्तव्यविमोह का प्रादुर्भाव हो जाता है और यों प्रवृत्तकर्म्म के द्वारा मानव अशान्ति का आतिथ्य स्वीकार कर लेता है। मानव के इस प्रवृत्तकर्म्म में आत्मा का सृष्टिसाक्षी कर्म्मधातु ही आलम्बन बना करता है।

जिन कर्म्मों से मानव के सञ्चित वासनासंस्कारों का ग्रन्थिबन्धविमोक होता है, वे ही निवृत्त-कर्म्म कहलाए हैं। अपने स्वाभाविक निवृत्तिबल से ग्रन्थिविमोक करने के साथ-साथ ये निवृत्त कर्म्म स्वयमपि कतकरजोवत् निवृत्त होते रहते हैं। वासनासंस्कार ग्रन्थिविमोक से आत्मस्वरूप विकसित हो पड़ता है। आत्मज्योति के निरावरण बनते ही बुद्धि स्वतः अपने सत्त्वभाव में आ जाती है, बुद्धि का स्वाभाविक व्यवसायधर्म्म प्रकट हो जाता है। कर्त्तव्यनिर्णयात्मक निश्चयभाव उद्‌बुद्ध हो जाता है। और यों निवृत्तकर्म्म के द्वारा मानव शान्ति का आतिथ्य स्वीकार कर लेता है। मानव के इस निवृत्त-कर्म्म में आत्मा का मुक्तिसाक्षी ब्रह्मधातु ही आलम्बन करता है। इस प्रकार ब्रह्म-कर्म्मधातु के आधार पर मानव के अनुष्ठेय निवृत्त-प्रवृत्त कर्म्म सञ्चालित रहते हैं। विद्यात्मक कर्म्म-वीर्य्यात्मिक कर्म्म, कर्म्म के ये दो ही विवर्त्त बन सकते हैं। विद्यात्मक कर्म्म विवर्त्त मुक्त्यै हैं, वीर्य्यात्मिक कर्म्म बन्धाय हैं। अपने ही कर्म्म से मानव मुक्त होता है, अपने ही कर्म्म से बद्ध होता है। तात्पर्य्य प्रकृत शिक्षा का यही है कि अव्ययात्मा के विद्यात्मक ब्रह्म, वीर्य्यात्मक कर्म्म—इन धातुओं के स्वरूप ज्ञान से यह निश्चय हो जाता है कि आत्मा न केवल ज्ञानमय है, न केवल कर्म्ममय है, अपि तु, यह आत्मा उभयात्मक है, अतएव केवल ज्ञानपथ भी आत्मकल्याण का कारण नहीं बन सकता एवं निराकर्म्मपथ भी आत्मतुष्टि का कारण नहीं बन सकता। अपि तु, ब्रह्मकर्म्मसमन्वयात्मक बुद्धियोग ही आत्मकल्याण का अनन्य पथ बनता है। समन्वयात्मक साध्यबुद्धियोग से ही धातुसाम्य होता है। समत्व ही योग है, योग ही वह कौशल है, जिसके अनुगमन से मानव का जीवन कुशलक्षेमपूर्वक व्यतीत होता है। इसी क्षेमभाव पर इस तीसरी आत्मधातु का पर्य्यवसान हो रहा है।

॥ समाप्ता चेयमात्मधातुशिक्षा-तृतीया ॥

॥३॥

अथ

आत्मधातुसाम्यशिक्षा-चतुर्थी

४

अथ

त्रिपुरा-भारती-स्तवराजः

४–धातुसाम्यशिक्षा–चतुर्थी

यही आर्ष गीताशास्त्र का वह महान् लक्ष्य है, जो सर्वप्रथम स्वयं अव्ययेश्वर के द्वारा देवयुगारम्भ में भाग्यशाली विवस्वान् मनु के प्रति उपदिष्ट हुआ था। यही गीता की वह सारभूता शिक्षा है जो उसी पूर्णावतार के द्वारा द्वापर-कलि की सन्धि में अश्रुपूर्णाकुलेक्षण भाग्यशाली अर्जुन के प्रति उपदिष्ट हुई थी। यह वही तत्त्व है–जिसके अनुगमन से विश्वकल्याण तथा जिसके परित्याग से विश्वविनाश निश्चित बन जाता है। 'समीक्रिया' ही शान्ति है, शान्ति ही आत्मप्रसाद है एवं आत्मप्रसाद ही सर्वविधदुःखनिवृत्ति का एकमात्र कारण है–जैसा कि **'समीक्रियाशान्तिरयं प्रसादः'**–**'प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते'**–**'प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्य्यवतिष्ठते'**–इत्यादि वचनों से स्पष्ट है। सम्पूर्ण सुखसाधनों के रहते भी सच्चिदानन्द ब्रह्म का अंशभूत मानव क्यों अशान्त-दुःखी-व्यग्र-संत्रस्त-शोकसंविग्नमानस-मुकुलित-दीन-हीन-परमुखापेक्षी बना रहता है? प्रश्न का एकमात्र उत्तर है आत्मधातुओं का वैषम्य। सम्पूर्णसुखसाधनों के न रहने पर भी मानव क्यों नित्य प्रसन्न रहता है? प्रश्न का एकमात्र उत्तर है–आत्मधातुओं का साम्य। जब जब मानव समाज में वैय्यक्तिक–कौटुम्बिक-सामाजिक-राजनैतिक-धार्म्मिक-विषमता का उदय हुआ है, तब तब ही उसकी वैय्यक्तिक-कौटुम्बिक आदि संस्थाएँ अशान्त बनी हैं एवं जब जब मानव समाज ने समता का आश्रय लिया है, तब तब ही उसका आध्यात्मिक-आधिभौतिक जीवन सुशान्त रहा है। बहुत दूर अनुधावन करने की आवश्यकता नहीं है। अपने दैनिक जीवनों में ही इस स्थिति का साक्षात्कार किया जा सकता है।

किसी भी एक कुटुम्ब को उदाहरण बना लीजिए और कल्पना कर लीजिए कि एक कुटुम्ब में माता-पिता की दस सन्ततियाँ हैं। पुत्र हैं, कन्याएँ हैं, पुत्रवधुएँ हैं, पौत्र हैं, अनुचर हैं, घर है, जमीन है, वाहन है, द्रव्यसम्पत्ति है। इस प्रकार कौटुम्बिक जीवन की सुख-सुविधा के लिए जो कुछ चाहिए, वह सब कुछ इस कुटुम्ब के पास विद्यमान है। फिर भी देखते हैं, कुटुम्ब के किसी भी व्यक्ति में सद्भाव नहीं है। कभी ज्येष्ठ पुत्र आकुल-व्याकुल है तो कभी कनिष्ठ पुत्र दुःखी है। कभी ज्येष्ठ पुत्रवधु अपने दुःखों के इतिहास से आस-पड़ौस की पड़ौसिन को विचलित करती है, तो कभी कनिष्ठ पुत्रवधु अपने आपको ऐसे घर में आ जाने के लिए अपने माता-पिता को कोसती रहती है। कभी पिता-पुत्र का वाक्कलह राम-रावणयुद्ध प्रसंग का स्मरण कराता है, तो कभी देवरानी-जेठानी का वाक्कलह पड़ौसियों को उभिन्न बनाता रहता है। इस प्रकार यह कौटुम्बिक संस्था सर्वथा अशान्त बनी रहती है। इस अशान्ति का मूलकारण क्या? वही विषमता। इस विषमता के कारण यद्यपि छोटे-छोटे होते हैं तथापि **'छिद्रेष्वनर्था बहुलीभवन्ति'**–न्याय-से इन छोटे-छोटे कारणों से ही कालान्तर में कौटुम्बिक व्यक्तियों के बीच में वह गहरी खाई बन जाती है, जिसे पाट देना कठिन ही क्या, असम्भव हो जाता है। बात छोटीसी है, परन्तु परिणाम देखिए, कैसा भयानक है? रसोई-घर में रसोई बनती है। दाल-भात-शाक-रोटी आदि में मूर्खतावश विषमता कर दी जाती है। किसी को अच्छा भोजन मिलता है, किसी को बचा खुचा। विश्वास कीजिए, यह साधारणसी भी विषमता कुटुम्ब के व्यक्तियों में एक ओर दम्भ-अभिमानादि

के बीजवपन कर देती है तो दूसरी ओर विद्रोह के भाव अङ्कुरित कर देती है। इस प्रकार केवल खान-पान की विषमता को लेकर, पङ्क्तिभेद की विषमता को लक्ष्य बनाकर उत्पन्न होने वाली यह कौटुम्बिक अशान्ति कालान्तर में कुटुम्बविच्छेद का कारण बन जाती है। जिसका वर्तमानकाल के समत्वयोग-वञ्चित प्रायः सभी शिक्षित-अशिक्षित कुटुम्बों में प्रत्यक्ष किया जा सकता है।

यही अवस्था सामाजिक जीवन में घटित हो रही है। देखते हैं कि कितने एक मानव रात-दिन परिश्रम करते हुए भी अपनी उदरपूर्ति भी सुविधापूर्वक नहीं कर सकते। उधर कितने एक मानव अकर्म्मण्य बने रहते हुए भी जितना खाते पीते हैं, उससे कहीं अधिक कूड़े कर्कट में फेंकते रहते हैं। सामाजिक जीवन की यह विषमता ही आगे चलकर सामाजिक मानवों के विघटन का कारण बन जाती है, सामाजिक संगठन टूट जाता है। कोई किसी का सहयोगी नहीं रहने पाता और यों कुटुम्बवत् हमारा समाज भी इस विषमताजनित क्षोभ से क्षुब्ध बनता हुआ परस्पर एक दूसरे की निन्दा-स्तुति से अशान्त बना रहता है। यही अवस्था राजनैतिक क्षेत्र की है। राष्ट्रीय समाज ही वर्तमान में राजनैतिक क्षेत्र माना जा रहा है। प्रत्यक्ष है कि इस क्षेत्र की विषमता कौटुम्बिक-सामाजिक विषमता का भी अतिक्रमण कर बैठी है। राजनैतिक योग्यता हो अथवा न हो–यदि किसी ने राजनैतिक रजिस्टर में अपना नाम लिखाते हुए वहाँ की सदस्यता प्राप्त कर वहाँ के अनुरूप खादी की टोपी-कुर्ता पहिन लिया तो वह अपने आपको राष्ट्रपति ही मान बैठा। अब इसकी दृष्टि में कुटुम्ब-पड़ौसी-जाति-समाज के शिष्ट-अशिष्ट किसी मानव का कोई मूल्य ही न रहा। मानवता को भूल गया, याद रही इसे केवल मानवताशून्या वह राष्ट्रीयता जिसके व्यामोह ने स्वयं इसे भी दुःखी बना डाला एवं इसके अनुग्रह से मुग्ध मानव समाज भी संत्रस्त बन गया। यही गाथा आज धार्म्मिक-क्षेत्र में घटित हो रही है। धर्म्मनेता सन्त-महन्त-आचार्य्य-उपदेश-महामहोपदेशक आदि की जीवनधाराओं पर दृष्टि निक्षेपमात्र से इस क्षेत्र की विषमता का भी साक्षात्कार हो जाता है। धार्मिक आचार्यों का जीवन तदनुयायिनी धार्मिक प्रजा के जीवन की अपेक्षा भोजन-वसन आदि सभी दृष्टियों से कितना विषम बन चुका, अथवा तो बनता जा रहा है–यह प्रश्न ही आज अवाच्यवाद माना जाएगा।

इस प्रकार भारतीय मानव प्रजा अपने व्यक्तितन्त्र से आरम्भ कर अन्तिमतन्त्रपर्य्यन्त विषमता की अनुगामिनी बनती हुई अपने ही प्रज्ञापराध से अशान्त हो रही है। स्वस्थ-शान्त-सुखी जीवन की परिभाषाएँ भी आज स्मृति-गर्भ में विलीन हो चुकी हैं। बुद्धिमानी का विषमा वृद्धि में सदुपयोग ? करने वाले व्यक्तिस्वार्थानुगामी बुद्धिमानों के अनुग्रह-निग्रह से उत्पन्न होने वाली इस विषमता ने स्वयं उन बुद्धिमानों को तो अशान्त बनाया ही है, साथ ही परिस्थितिवश ऐसे बुद्धिमानों के निग्रहानुग्रह के आधार पर अपनी जीवन-यात्रा का निर्वाह करने वाली इन बुद्धिमानों की दृष्टि में मूर्ख, किन्तु सहज ज्ञान के अनुग्रह से ऐसे बुद्धिमानों की अपेक्षा सुज्ञ-आस्तिक भी, सामान्य मानव प्रजा भी अन्नदोष-संसर्ग-दोष से–'**संसर्गजा दोषगुणा भवन्ति**'-न्याय से इसी घातक विषमता की अनुगामिनी बनती हुई आज अशान्त हो रही है।

इस प्रकार एकमात्र विषमता के अनुग्रह से आज भारतवर्ष की मानवप्रजा सर्वात्मना संत्रस्त बन गई है, अथवा तो बनती जा रही है। एक कोटचधीश भी 'आज शान्ति कैसे मिले'?–यह पूछ रहा है तो एक विद्वान् भी यही जिज्ञासा कर रहा है। फिर सामान्य मानव की तो बात ही क्या? भौतिक आविष्कार-सुखसाधनपरिग्रहसम्पन्न भारतवर्ष के पास आज सब कुछ है, नहीं है तो केवल 'शान्ति', जिसके विना इन सब परिग्रहों का रहना सर्वथा निरर्थक बन रहा है। सम्भव है, अतीत भारत के प्राङ्गण में एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाने वाली तूफान मेलें न रही हों, सम्भव है, उस युग में वासना-प्रवर्द्धक परिग्रहों के उत्पादक बडे बडे कल-कारखाने भी न रहे हों, सम्भव है–आज के जैसे यूनिवर्सिटियों के भव्य-विशाल-भवनों का भी उस युग में अभाव रहा हो। परन्तु वर्तमान शिक्षित सभ्य कहलाने वाले मानव की दृष्टि में सर्वथा अशिक्षित असभ्य बने हुए भी अतीत भारत के पास 'शान्ति' नामक वह अमूल्य धन अवश्य सुरक्षित था, जिसके लिए आज का यह शिक्षा-सभ्यताभिमानी मानव प्रतिक्षण लालायित बन रहा है। क्या उपयोग उस अतुल द्रव्य राशि का? जिससे औरों की तो कथा दूर रही–स्वयं वह धनिक अपने आपको भी सुखी-शान्त न बना सकते हों? क्या महत्त्व उन यूनिवर्सिटियों का जिनमें शिक्षा प्राप्त करने वाले सभ्य-शिक्षित अपनी उदरपूर्ति भी सुविधापूर्वक नहीं कर पाते हों? क्या विशेषता है उन भौतिक परिग्रहों की जिनके प्रचुरमात्रा में रहने पर भी वे परिग्रहशाली मानव सदा प्रत्येक वस्तु के अभाव को ही अनुभव करते रहते हैं। मानना पड़ेगा कि सुखी-शान्त बनना किसी भिन्न तत्त्व से सम्बन्ध रखता है एवं धनवान्-विद्वान्-राष्ट्रपति-राष्ट्रनेता आदि बन बैटना किसी भिन्न तत्त्व से सम्बन्ध रखता है। हम सांसारिक परिग्रह का, भूतसम्पत्ति का विरोध नहीं करते। परमात्मा करे, यह परिग्रहसम्पत्ति और भी अधिक प्रवृद्ध हो। विरोध है हमारा उस विषमता के साथ- जिसके अनुग्रह से यह परिग्रहसम्पत्ति शान्ति के स्थान में अशान्ति की जननी बन जाया करती है। परिग्रह उसी सीमा तक संग्राह्य हैं जिस सीमा तक उनके द्वारा आत्मशान्ति का व्याघात नहीं होता। आत्मशान्तिविघातक परिग्रह का फिर चाहे वह कितना ही मूल्यवान् क्यों न हो, परित्याग ही 'श्रेयःपन्थाः' माना गया है। परिग्रहसंग्रह का मूल उद्देश्य तो यही है कि मानव इनके द्वारा अपने आपको सुखी बना सके, शान्ति-सुविधापूर्वक जीवनयात्रा का निर्वाह कर सके। क्या स्वयं परिग्रह ही इस सुख-शान्ति का एकाकी प्रवर्त्तक है? **'नेति होवाच'**।

इसलिए **'नेति होवाच'** कि हम देखते हैं–एक विपुलधनशाली व्यक्ति मानसचिन्ता में पड़कर दुःखी बन जाता है। यदि केवल परिग्रह ही शान्ति का कारण होता तो इसे कभी मानसचिन्ता का अतिथि न बनना पड़ता। शरीरव्याधिदशा, इन्द्रियशैथिल्यावस्था, मानसचिन्तावस्था आदि अवस्थाओं में यच्चयावत् परिग्रह मिलकर भी शान्ति उत्पन्न नहीं कर सकते। सिद्ध है कि परिग्रह शान्ति के कारण नहीं हैं, अपि तु, स्वयं आत्मा ही शान्ति का कारण है। आत्मशान्ति की प्रतिच्छाया से युक्त होकर ही परिग्रह सुख-साधक बना करते हैं। आत्मानन्द ही अर्क (रश्मि) सम्बन्ध से परिग्रहों के चारों ओर व्याप्त होकर उन्हें सुखावह बनाता है। क्या आत्मा दुःखावस्था में शरीर से बाहर निकल जाता है, जिससे उस अवस्था में परिग्रह दुःखद बन जाते हैं? नहीं, आत्मा तो रहता है परन्तु आत्मधातु विषम बन जाते हैं। वात-पित्त-कफ नामक स्थूलशरीरधातुओं का वैषम्य शरीरव्याधि का प्रवर्त्तक

बन जाता है। काम-क्रोध-लोभ-मोह-मद-मात्सर्य्य नामक सूक्ष्मशरीरधातुओं का वैषम्य मानस व्याधि का प्रवर्त्तक बन जाता है एवं ब्रह्म-कर्म्मनामक कारणशरीरलक्षण आत्मा के धातुओं का वैषम्य सर्वविध अशान्ति का कारण बन जाता है।

इस प्रकार एकमात्र धातुवैषम्य ही अशान्ति का कारण बना करता है। इसी से यह भी प्रमाणित है कि परिग्रह कभी अशान्ति के कारण नहीं है। यही क्यों? परिग्रह तो लोकस्थिति के संरक्षक बनते हुए सर्वथा उपादेय हैं अतएव भगवान् ने अशान्त अर्जुन को यह नहीं कहा कि तू शान्ति के लिए इन राज्यादि परिग्रहों का त्याग कर दे। यदि परिग्रहत्याग ही शान्ति का कारण होता तो गीतोपदेश की आवश्यकता ही न रहती। क्योंकि अशान्त अर्जुन–'**अपि त्रैलोक्यराज्यस्य०** कहता हुआ स्वयं ही इस परिग्रहत्याग का संकल्प किए बैठा था। ऐसी स्थिति में उन त्यागवादियों के उस कल्पित उपदेश का कोई महत्त्व शेष नहीं रह जाता, जो जगन्मिथ्यात्व का उद्घोष करते हुए सांसारिक परिग्रह-त्याग का आदेशोपदेश देते हुए लोकसंग्रह का विघात कर रहे हैं। और फिर 'परिग्रह छोड दो–इस आज्ञामात्र से ही प्रकृति-सिद्ध अनिवार्य परिग्रह का त्याग संभव भी तो नहीं है। त्यागवादियों से पूछते हैं कि क्या वे खाना-पीना भी छोड देंगे? यदि हाँ तो क्या असमय में मर मिटना ही इस त्याग का फल होगा? यदि ना तो खाना-पीना उनके लिए कौन जुटावेगा? जबकि उनके उपदेश से अभिभूत सभी मानव सब प्रकार के परिग्रहों का परिग्रहोत्पादक कर्म्मों का परित्याग कर हाथ पर हाथ धरे बैठे रहेंगे। 'जङ्गल में जाकर कन्द-मूल-फल खाकर जीवननिर्वाह कर लेंगे'–कहकर आत्मसन्तोष व्यक्त करने वाले त्यागियों से पूछा जाएगा कि फिर आप उत्पन्न ही क्यों हुए? जबकि आपके द्वारा सिवाय अपने व्यक्तिगत कल्याण के मानव समाज का कोई उपकार नहीं हुआ। इस अवस्था में आकर तो आपने–'**भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्**[1]' को ही न चरितार्थ बनाया। सचमुच आपने बडा पुरुषार्थ किया। कल्पना कीजिए, आप ही की भाँति इन लोकसंग्राहक परिग्रहों से शत्रुता कर आपकी कल्पितत्यागनिष्ठा का पक्षपात करते हुए यदि जगदीश्वर कर्म्म करना ही छोड दे तो आपकी क्या दशा हो? फिर न आपको जङ्गल मिले और न जङ्गल में मङ्गल मनाने के लिए कन्द-मूल-फल ही–'**उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्य्यां कर्म्म चेदहम्**'–के अनुसार सम्पूर्ण विश्व ही नष्ट हो जाए, अतएव छोडिए इस त्याग-भावना को जो सर्वथा निर्मूल है। आपकी अध्यात्मसंस्था प्रत्येक अवस्था में शान्त बनी रहे, इसलिए आत्मधातुओं को समावस्था में परिणत रखिये एवं आपके कर्म्म से–परिग्रहसंग्रह से लोकसंग्रह होता रहे–अपनी अपने परिवार की–समाज की–सर्वोपरि राष्ट्र की आवश्यकताएँ पूरी होती रहें–इस लक्ष्य की सिद्धि के लिए परिग्रह को अपनाए रहिए। लोकसंग्रहार्थ परिग्रहसंरक्षा अपेक्षित है तो आत्मशान्त्यर्थ धातुसाम्य अपेक्षित है। दोनों में से धातुसाम्य प्रधान है। इसलिए प्रधान है कि धातुसाम्य से ही तो आत्मसंस्था सुशान्त रहती है एवं सुशान्त आत्मा से होने वाला अनासक्त कर्म्म एवं ऐसे अनासक्त कर्म्म से परिगृहीत परिग्रह ही लोकसंग्राहक बनते हैं। धातुविषमता में आत्मसंस्था भी अशान्त रहती है एवं ऐसे अशान्त

१ गीता० ३।१३।

आत्मा से होने वाला अस्तव्यस्त कर्म्म, ऐसे विकर्म्म-अकर्म्मात्मक असत्कर्म से परिगृहीत परिग्रह भी केवल व्यक्ति स्वार्थ के सो भी कुछ ही समय के लिए पोषक बनते हुए लोकसंग्रह के विघातक हो जाते हैं। इस सम्पूर्ण स्थिति-अवलोकन के पश्चात् यह कहा और माना जा सकता है कि ऐहलौकिक-सांसारिक परिग्रहात्मक सुख का एवं आत्मिक शान्ति का यदि कोई अव्यर्थ अन्यतम उपाय है तो यह एक मात्र धातुसाम्य ही है, जिसकी सारात्मिका शिक्षा ही गीता का तथाकथित महान् लक्ष्य है, जो भगवदनुग्रह से चिरकाल के अनन्तर पुनः मानव समाज के सम्मुख उपस्थित हो रहा है।

धातु विषम क्यों हो जाते हैं? सबसे पहले इस धातुसाम्यशिक्षापरिच्छेद में इसी प्रश्न की मीमांसा कीजिए। शास्त्रों ने प्रश्न की मीमांसा करते हुए बतलाया है—मानव का अज्ञताजनित प्रज्ञापराध ही धातुवैषम्य का जनक बनता है, जो प्रज्ञापराध लोकभाषा में 'नासमझी' कहलाया है। ना समझी ही वह दोष है—जिससे मानव कुछ का कुछ कर बैठता है। प्रकृतिविरुद्ध कर बैठना ही कुछ का कुछ कर बैठना है। पहले इस स्थिति का स्थूलधातुओं की दृष्टि से समन्वय कीजिए। चन्द्रमा (सोम) से उत्पन्न कफधातु, सूर्य्य से उत्पन्न पित्तधातु तथा वायु से उत्पन्न वातधातु—इस प्रकार सोमाग्निवायु से उत्पन्न वात-पित्त-कफधातु वे सुसूक्ष्म प्राणात्मक धातु हैं—जिनके आधार पर स्थूलभूतलक्षण वात-पित्त-कफात्मक भौतिक शरीर स्व-स्वरूप से प्रतिष्ठित रहता है। प्राणात्मक वातपित्तकफ धातु कहलाए हैं एवं भूतात्मक प्रत्यक्षदृष्ट वात (श्वासप्रश्वासादिरूप वायु), पित्त (ऊष्मा), कफ (श्लेष्मा) समष्टि शरीर कहलाया है। प्राण ही भूत का आधार बनता है, अतएव प्राणात्मिका वातपित्तकफत्रयी को भूतात्मिका वातपित्तकफत्रयी का आधारभूत धातु कहा जा सकता है। प्राण इन्द्रिय-अग्राह्यतत्त्व है, अतएव एक डाक्टर क्या, विश्व के सम्मिलित डाक्टर भी सुसूक्ष्म यन्त्रों के माध्यम से भी इस धातुत्रयी का अपने चर्म्मचक्षुओं से साक्षात्कार करने में असमर्थ हैं। डाक्टर भले ही असमर्थ रहे, किन्तु योगजदृष्टि के अनुगामी भारतीय प्राणाचार्य्यों ने उसी दृष्टि से इस धातुत्रयी का साक्षात्कार किया एवं इसी की समता को स्थूलशरीर के स्वास्थ्य का कारण बतलाया।

स्थूलशरीर की स्वरूपरक्षा के लिए वात-पित्त-कफ जिस सममात्रा में अपेक्षित हैं—उनकी यह सममात्रा अन्नपरिग्रह के समयोग पर ही निर्भर रहा करती है। जिस प्रकृति के मानव के लिए जिस समय जो जितना अन्न अपेक्षित है—उसके लिए उस समय वही उतना ही अन्न श्रेयस्कर बना करता है। ऐसा श्रेयस्कर अन्नादान ही समानयोगिक बनता हुआ धातुत्रयी को समभाव में परिणत रखता हुआ शरीरस्वास्थ्य का संरक्षक बना करता है। नियत सीमा से राग के वशीभूत होकर अधिक खा जाना अतियोग है, अत्यल्प खाना हीनयोग है, प्रकृतिविरुद्ध खाजाना मिथ्यायोग है, न खाना अयोग है। अतियोग-हीनयोग-मिथ्यायोग तथा अयोग से धातु की प्राकृतिक अवस्था विकृत हो जाती है। धातुत्रयी का स्व-प्रकृतिविरुद्ध हो जाना ही इनका वैषम्य है। यही वैषम्य रोग का मूलकारण बना करता है, जिस मूलकारण का भी मूल प्राणाचार्य्यों ने 'राग' (आसक्ति) माना है। यही स्थिति सूक्ष्मशरीर से सम्बन्ध रखने वाले कामक्रोधादि षड्धातुओं की समझिए। स्मरण रखिए—जैसे वातादि के बिना स्थूलशरीरसत्ता असम्भव है एवमेव कामक्रोधादि के बिना सूक्ष्मशरीरसत्ता असम्भव है। लोग कहते हैं—काम-

क्रोधादि मानव के शत्रु हैं, अतएव इनका परित्याग कर देना चाहिए। वैज्ञानिक कहते हैं-भूलते हो! इनके परित्याग का अर्थ होगा-मृत्यु। क्या यह अभीष्ट है? नहीं। तो जीवनसत्ता की रक्षा के लिए छवों धातुओं का रहना अनिवार्य्य है। ये धातु मानव के शत्रु नहीं हैं। अपि तु, प्रज्ञापराधजनित इन धातुओं का वैषम्य मानव का शत्रु है। इनका भी स्थूलशरीरवत् अतियोग, हीनयोग, मिथ्यायोग, अयोग बुरा है, योग श्रेयस्कर है-जिस प्राकृतिक साम्ययोग को मानव उसी रागासक्ति के अनुग्रह से विषमभाव में परिणत कर लेता है। और यों अपनी नासमझी से यह धातुवैषम्य द्वारा मानसक्षोभ का अतिथि बन जाता है।

विषमता से अशान्ति होती है, अशान्ति से दुःख होता है-यह परम्परा दर्शनात्मिका है, अतएव इसका तत्त्व सर्वसाधारण के लिए अज्ञात है। विषमता का क्या स्वरूप? अशान्ति किसे कहते हैं? दुःख किसे कहा जाता है? इन प्रश्नों का वैज्ञानिक समाधान एकमात्र है-'स्थितिविच्युति'। स्थितितत्त्व ही प्रतिष्ठा है, प्रतिष्ठा ही समता है, समता ही शान्ति है-शान्ति ही सुख है। इस प्रकार केवल एक ही स्थितितत्त्व अपनी उत्तर-उत्तर अवस्थाओं से स्थिति-प्रतिष्ठा-समता-शान्ति-सुख आदि विभिन्न स्वरूपों में परिणत हो रहा है। ठीक इसके विपरीत गतितत्त्व ही अप्रतिष्टा किंवा स्थितिविच्युति है, अप्रतिष्ठा ही विषमता है, विषमता ही अशान्ति है, अशान्ति ही दुःख है, इसी आधार पर-**'अशान्तस्य कुतः सुखम्'** कहा गया है। इस प्रकार वही गतितत्त्व अपनी उत्तरोत्तरावस्थाओं में आता हुआ गति-अप्रतिष्ठा-विषमता-अशान्ति-दुःख आदि विभिन्न स्वरूपों में परिणत हो रहा है। लक्षण अभी ठीक-ठीक घटित न हुआ, अतएव दूसरे दृष्टिकोण से लक्षण का समन्वय कीजिए। जो जैसा है-उसका उसी रूप में परिणत रहना उसके लिए 'स्थितिभाव' है, चाहे उसका स्वरूप स्थितितत्त्व प्रधान हो अथवा तो गतितत्त्व प्रधान अथवा तो स्थिति-गति उभयात्मक हो। उदाहरण के लिए पर्वत को लीजिए। पर्वत का स्वरूप स्थिति-तत्त्व प्रधान है, अतएव वह 'अचल' कहलाया है। इस पर्वत का स्थितिभाव में परिणत रहना ही इसका उसी रूप में परिणत रहना है और यही स्थिरता इसका समत्व-शान्ति-सुख है। वायु का स्वरूप गति-तत्त्वप्रधान है-**मातरिश्वा सदागतिः**-प्रसिद्ध है, अतएव यह 'वात' कहलाया है। इस वायु का गतिभाव में परिणत रहना ही इसका उसी रूप में परिणत रहना है-यही इसकी स्थिरता (स्व-स्वरूप में अवस्थान स्थितिलक्षणा स्वस्थता)-इसका समत्वशान्ति-सुख है। इसी दृष्टि से आत्मसमता का समन्वय कीजिए। पूर्व शिक्षाओं में आत्मा का स्वरूप बतलाते हुए यह स्पष्ट किया जा चुका है कि आत्मा विद्या-वीर्य्या-त्मकत्वेन, ब्रह्म-कर्म्मधात्वनुगतत्वेन उभयात्मक है। अर्द्धभाग (विद्यात्मक) स्थितितत्त्वप्रधान है, अर्द्धभाग (वीर्य्यात्मक) गतितत्त्वप्रधान है। ठीक अर्द्धभाग ज्ञानात्मिका स्थिति एवं ठीक अर्द्धभाग कर्म्मात्मिका गति, ऐसी स्थिति-गति समतुलिता अवस्था ही आत्मा का स्वस्वरूप है। सिद्ध है कि इस आत्मा के स्थिति-गतिरूपेण समतुलित रहना ही इसका उसी रूप में परिणत रहना है-यही इसकी स्थिरता (स्थितिगतिरूपावस्थानलक्षणा स्वस्थता) इसका समत्वशान्ति-सुख है। तात्पर्य्य ज्ञान-कर्म्म के समत्व से ही आत्मा के ज्ञान-कर्म्मानुगत ब्रह्म-कर्म्म धातुसमतुलित रहते हैं। यदि दोनों में से एक भी कम अथवा अधिक हो जाता है तो स्वरूपानुगता स्वस्थता उच्छिन्न हो जाती है। स्वरूपविच्युतिलक्षणा स्थितिविच्युति कैसे अशान्ति है? इसका भी एक लौकिक उदाहरण से अनुभव कर लीजिए।

आप भ्रमणार्थ घर से निकलते हैं, पूर्ण स्वस्थ-निर्भय-शान्त-प्रकृतिस्थ बनकर। जा रहे हैं, आगे बढ रहे हैं, रास्ता कट रहा है, कोई विघ्न-बाधा नहीं है। यदि चलते-चलते मार्ग में कोई गहरा गड्डा आ जाता है तो उससे बचकर निकल जाते हैं। यदि गड्डा ऐसा आ जाता है-जिसने सम्पूर्ण मार्ग को ही घेर रखा है, अतएव बचकर निकलने का मार्ग नहीं है तो आप अपने अधोवस्त्रादि से सज्जीभूत बनकर बडी सावधानी से गड्डे में पैर रखकर पार हो जाते हैं। यों इस गहरे गड्डे को सावधानी पूर्वक विना भय के आप पार कर लेते हैं। चलते-चलते आप की दृष्टि किसी सुन्दर-असुन्दर लक्ष्य की ओर आकर्षित हो गई। आपका ध्यान गति से हटकर उस ओर विशेषरूप से संलग्न हो गया, जबकि आपने पूर्वदेशपरित्याग-उत्तरदेश संयोगरूपा गति (चलना) अभी नहीं छोडा है। दृश्य पर आँख है, भूमि पर पैर है और यों देखते हुए आप चले जा रहे हैं। केवल एक वितस्तिभर (बिलाद भर) अथवा तो इससे भी कम २-४ अङ्गुल ही गहरे या तो किसी गड्डे में अथवा तो किसी विषम क्षेत्र में आपका पैर चला जाता है। इस पैर चले जाने के अव्यवहितोत्तरकाल में ही आप अनुभव करेंगे-करते हैं कि मानो आप निराधार-निरावलम्ब बन गए-किसी शून्य में चले गए, इस अनुभव के साथ ही आप का अन्तर्जगत् कम्पित हो जाता है-जगह छोड बैठता है। तब आप सम्भलते हैं और तब दृश्य से हटकर आप मार्ग पर दृष्टि डालते हैं। कुछ समय पीछे आप का क्षोभ शान्त हो पाता है। स्थिति पर दृष्टि डालिए। क्या कारण था कि सावधान दशा में गहरे गड्डे को पार करते हुए भी आप कम्पित न हुए एवं असावधानी से केवल २-४ अङ्गुल के विषम धरातल ने ही आपको कम्पित कर दिया। कम्पन का मूल कारण बना यही आपकी असावधानी, जिसे प्रज्ञापराध कहा जाएगा। कर्त्तव्य आग्रह कर रहा था-मार्ग पर दृष्टि डाले रहो, मन के प्रज्ञाभाग ने दृश्यदर्शन कामुकता में पड़कर आपका ध्यान प्रकान्त कर्त्तव्य से स्खलित कर दिया।

इस प्रकार प्रज्ञा के अपराध से कर्त्तव्य को आप भूल गए, अकर्त्तव्य दृश्यदर्शन में संलग्न हो गए। और यों आपको प्रज्ञापराध से युक्त होकर अपना समत्व खोकर कम्पित होना पड़ा। समत्व क्या खोया? यह विचार कीजिए। स्थिति-गति सम बनी रहे, गति का आधार स्थिति बनी रहे, सम्भल-सम्भल कर पहला पैर आगे रखें, अगला पैर उठावें। आपकी दृश्यदर्शन संलग्नता से इस स्थिति-गति का समतुलन बिगड़ गया। गति हुई, परन्तु उसने व्यवस्थित स्थिति का-अनुयोगिनी स्थिति का आश्रय छोडते हुए अव्यवस्थित-अज्ञात-प्रतियोगिनी स्थिति को आश्रय बनाया। इस प्रकार गति का समानधर्म्मानुगता स्थिति से सम्बन्धविच्छेद होकर ज्यों ही विरुद्धकर्म्मानुगता स्थिति से सम्बन्ध हुआ, तत्काल हृत्तन्त्री उसी प्रकार कम्पित हो उठी, जैसे प्रतिकूल तारों के मिलने से विद्युत्कणों का विस्फोटन हो पड़ता है। स्वरूपस्थितिलक्षणा स्वस्थता के हटते ही विषमता ने आक्रमण कर लिया, जिसका अर्थ हुआ ईषच्चलन। ईषच्चलन ही कम्पन कहलाया है। कम्पन ही 'भय' है। भय ही अशान्ति है। अशान्ति ही आकाशात्मक वह शून्यभाव है, जिसमें पहुँच कर आत्मा कुछ क्षण के लिए स्वयं भी शून्यवत् बन जाता है। यही शून्यवृत्ति 'दुष्ट-अपूर्ण-ख' निर्वचनानुसार दुःख है। इस प्रकार स्वरूपस्थितिविच्युतालक्षणा विषमता ही भय-अशान्ति-दुःखभावों में परिणत हो रही है। इस उदाहरण को लक्ष्य बनाकर ही आपको प्रस्तुत **'धातुसाम्य-शिक्षा'** का समन्वय करना है।

अनुष्ठेय ज्ञान-कर्म्म के शास्त्रीय, लौकिक भेद से दो विवर्त्त माने गए हैं। लौकिक ज्ञान जिससे लोकचातुर्य्य प्राप्त होता है--जो ज्ञान 'व्यावहारिक ज्ञान' नाम से प्रसिद्ध है, आत्मा के ब्रह्मधातु से सम्बन्ध रखने वाला बहिर्ज्ञान है एवं यच्चयावत् लौकिककर्म्म, जिनमें सेवा-कर्म्म (नौकरी), शिल्प, वाणिज्य आदि-आदि यच्चयावत् अर्थसाधक कर्म्मों का अन्तर्भाव है, आत्मा के कर्म्मधातु से सम्बद्ध बहिःकर्म्म है। वर्त्तमान अनार्ष भारतीय प्रजा के वैय्यक्तिक-सामाजिक किंवा राजनैतिक यच्चयावत् ज्ञान-कर्म्म प्रपञ्चों का एवंविध लौकिक ज्ञान-कर्म्म में ही अन्तर्भाव हो रहा है। पहले इस लोकदृष्टि से ही भूतात्मा की समता-विषमता का विचार कीजिए। जो व्यक्ति केवल लौकिक ज्ञानार्जन में ही प्रवृत्त रहते हैं, कर्म्म के नामश्रवणमात्र से जिनमें कम्पन हो जाता है, ऐसे कर्म्मशून्य (लोकभाषानुसार करम-फूटे-कर्म्महीन) ज्ञानियों का भूतात्मा अपने कर्म्म नाम के अर्द्धधातु के विकास-पोषण से वञ्चित रहता हुआ विषम बनकर उसी प्रकार संसार यात्रा में पङ्गु बना रहता है, जैसे कि एक टाँग का मनुष्य किंवा एक पहिए का भग्नरथ गति में असमर्थ बना रहता है। कर्म्मशून्य ज्ञानी को कभी शान्ति नहीं मिल सकती। वह हाथ पर हाथ धरे कल्पना के प्रसून-निर्म्माण के अतिरिक्त कभी इनके सत्यरूप का साक्षात्कार नहीं कर सकता।

अब उस कर्म्मासक्त को लक्ष्य बनाइए, जो ज्ञानसम्पत्ति की अणुमात्र भी पर्वाह न रखता हुआ अहोरात्र कर्म्म का ही उद्घोष किया करता है। सिद्ध विषय है कि ज्ञानशून्य किंवा अर्द्धज्ञानशून्य ऐसा कर्म्म कभी व्यवस्थित फल का जनक नहीं बन सकता। 'काम करो' से पहले यह ज्ञान प्राप्त कर लेना भी आवश्यक है कि उस काम का फल क्या होगा ? काम का स्वरूप किन विधि-विधानों से सम्पन्न होगा ? जानते कुछ नहीं, करने के लिए सन्नद्ध। उदाहरण के लिए आज के सामाजिक-राजनैतिक-धार्म्मिक क्षेत्रों पर ही दृष्टिपात कीजिए। सभी आज समाज-सुधार के कर्म्म में प्रवृत्त हैं, सभी राजनीति से सम्बद्ध राष्ट्रीय कर्म्मों में मत्त हैं। और सभी धर्म्मपथ के सञ्चालक बने हुए हैं। परन्तु समाज का क्या स्वरूप है ? राजनीति में किन-किन सामादि उपायों का विश्लेषण हुआ है, किस समय क्या सुधार अपेक्षित है ? किस समय किस नैतिक दृष्टिकोणावलम्बन से लक्ष्यसिद्धि सम्भव ? इत्यादि प्रश्नों के समाधान का वर्त्तमान में अवसर ही कहाँ है, जब हम अपनी बालावस्था से ही इन कर्म्मों के सञ्चालक बनते हुए नेता बन बैठते हैं। ज्ञानशून्य किंवा ज्ञानलवदुर्विदग्ध ऐसे मानवों के ऐसे ज्ञानवञ्चित वैय्यक्तिक-सामाजिक-राजनैतिक-धार्मिक सभी कर्म्म आज किस प्रकार केवल शक्तिक्षय के कारण सिद्ध हो रहे हैं ? इसके लिए प्रमाण उपस्थित करना अनावश्यक है। ज्ञानशून्य कर्म्म भी उसी प्रकार मानव को पङ्गु बनाए रहता है--जैसे कर्म्मशून्य ज्ञान। ज्ञानाभिभव से इन कर्म्मठों का भूतात्मा अपने ब्रह्मनाम के अर्द्धधातु के विकास पोषण से वञ्चित बना रह जाता है। ऐसे ज्ञानशून्य कर्म्मठ को भी इसी विषमता के कारण कभी शान्ति नहीं मिल सकती, अतएव आवश्यक है कि उभयसमन्वय द्वारा आत्मधातुसाम्य प्राप्त करके ही ज्ञान-कर्म्मसमन्वयात्मक पथ में प्रवृत्त हुआ जाए। इसी आधार पर तात्त्विकों ने कहा है—

"ज्ञात्वा कर्म्माणि कुर्वीत नाज्ञात्वा कर्म्म आचरेत्।
अज्ञानेन प्रवृत्तस्य स्खलनं स्यात् पदे पदे" ॥

अब शास्त्रीय ज्ञान-कर्म्मयोग के सम्बन्ध में आत्मधातु अनुगत समता-विषमता का विचार कीजिए–जिसके लक्ष्य से ही धातुसाम्यशिक्षा' उपस्थित हुई है। जैसा कि बतलाया गया है, भौतिक परिग्रह को ही एकमात्र बन्धन का कारण मानने-मनवाने वाले सांख्यों (ज्ञानवादियों) ने यह घोषणा की कि कर्म्म सत् हो अथवा असत्, कर्म्म कर्म्मत्वेन कर्म्म है, पाप्मा है, अतएव ऐसे कर्म्म का एवं कर्म्म द्वारा कृतरूप गुणकूटात्मक भौतिक परिग्रह का जब तक आत्यन्तिक परित्याग नहीं कर दिया जाता तब तक आत्मशान्ति असम्भव है। ऐसे ही ज्ञानवादियों ने–**'त्यागेनैकेऽमृतत्त्वमानशुः'**–इत्यादि श्रुतियों के त्याग का आसक्तित्यागात्मक अर्थ न कर जो कि अर्थ समन्वय प्रतिपादिका अन्य श्रुतियों से समन्वित है–परिग्रह एवं कर्म्मत्याग अर्थ कर डाला। यही लोकप्रचलित वह सांख्यनिष्ठा कहलाई, जिसका भगवान् ने आमूल-चूड़ खण्डन किया और इस खण्डन का आधार बना आत्मा का कर्म्मधातु। पहले तो सिद्धान्तपक्ष यही है कि देहधारी कर्म्ममात्र का परित्याग कर ही नहीं सकता। यदि अभिनिवेशवश वह ऐसा करने का दुःसाहस करेगा भी तो परिणाम यह होगा कि आत्मा का अर्द्धकर्म्मधातु निर्बल बन जाएगा एवं उस दशा में **'नायमात्मा' बलहीनेन लभ्यः**- के अनुसार आत्मशान्ति के स्थान में आत्मक्रान्ति का उदय हो जाएगा। इस आत्मक्रान्ति का स्वरूप आगे जाकर उस प्रकार मूढभाव में परिणत हो जाएगा, जैसे कर्म्मशून्य जड़पाषाणादि निरानन्द-निश्चेष्ट पड़े रहते हैं। मनः-प्राण-वाङ्मय वीर्य्यभाग का विकास ही आनन्दानुभूति का कारण है। यह अनुभूति कर्म्मधातुविकास पर अवलम्बित है। कर्म्मधातु-विकास कर्म्मानुगमन पर अवलम्बित है। कर्म्मत्याग से कर्म्मधातु का अभिभव, कर्म्मधात्वभिभव से वीर्य्यात्मा का अभिभव, वीर्य्याभिभव से आनन्दानुभूति का अभिभव एवं यों अन्त में जड़ता-प्राप्ति। इसके अतिरिक्त लोकसंग्रह का भी आत्यन्तिक अभाव। इस प्रकार कर्म्मत्यागलक्षण इस ज्ञानयोग में अथ से इतिपर्य्यन्त विषमता-अशान्ति-जड़ता आदि का ही प्राधान्य हो जाता है। फलतः सिद्ध विषय है कि कर्म्मत्याग परम्परया शोक का ही जनक है।

एक विशेष दल का उसी युग में यह कहना था कि बलप्रधान विश्व में चूंकि कर्म्म ही प्रधान है, अतः कर्म्म को ही एकमात्र अपने जीवन का लक्ष्य बनाना चाहिए। इस दल ने कर्म्माभिनिवेश में पड़कर ज्ञान की उपेक्षा की। परिणाम यह हुआ कि कर्म्मानन्यता से इनके आत्मा का विद्याभाग सर्वथा आवृत्त हो गया, और यों विद्या के आत्यन्तिक अभिभव से ये भी शुद्ध ज्ञानियों की भाँति शोकग्रस्त ही बने रह गए। ज्ञानोपेक्षा से ब्रह्मधातु का अभिभव, ब्रह्मधात्वभिभव से विद्यात्मा का अभिभव, विद्यात्माभिभव से शोक का निरतिशय आक्रमण। इस प्रकार ज्ञानत्यागलक्षण इस कर्म्मयोग में भी कर्म्मत्यागलक्षण ज्ञानयोगवत् अथ से इति पर्य्यन्त विषमता-अशान्ति का ही प्राधान्य सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार पूर्वप्रतिपादित विषमतास्वरूपपरिचयानुसार केवल शास्त्रीय ज्ञानयोग भी श्रेयस्कर नहीं माना जा सकता एवं केवल कर्म्मयोग को भी श्रेयःपन्था नहीं माना जा सकता। कर्म्म यद्यपि स्वयं अविद्या है' परन्तु ज्ञानसहकृत बनकर यही अविद्यानिवर्तक बन जाता है, जैसा कि आगे जाकर स्पष्ट होने वाला है। हाँ विशुद्धकर्म्म अवश्य अविद्या है एवं इस अविद्यात्मक केवल कर्म्म का अनुगमन करने वाले कर्म्माभिनिविष्ट अवश्य ही आत्मविद्या के आवरण से अन्धतमोमय पथ के फलभाक् बना करते हैं। एवमेव जो कर्म्मशून्य ज्ञानयोग के पक्षपाती हैं–वे भी इसी अन्धतम के सत् पात्र बने रहते हैं। यही क्यों, केवल

ज्ञानोपासक की दशा तो केवल कर्म्मोपासक की भी अपेक्षा दीन-हीन बन जाती है, अतएव सिद्धान्त है कि न केवल विद्यापक्ष (ज्ञान) श्रेष्ठ है एवं न केवल अविद्या पक्ष (कर्म्म) श्रेष्ठ है। स्वयं श्रुति ने इस सम्बन्ध में अपने ये ही उद्‌गार प्रकट किए हैं–देखिए!

"अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः" ॥[1]

नित्य-नैमित्तिक-काम्य भेद से शास्त्रीय कर्म्म तीन भागों में विभक्त माने गए हैं–जिनका 'कर्म्मयोगपरीक्षाखण्ड' में विस्तार से विश्लेषण किया जा चुका है। कर्म्मपक्षपातियों ने इन तीनों को अपनाते हुए जहाँ ग्रहणासक्ति का अनुगमन किया, वहाँ ज्ञानपक्षपातियों ने तीनों का परित्याग करते हुए त्यागासक्ति को अपनाया। इस प्रकार विषमतामूला आसक्ति उभयत्र समान बनी रही। श्रुति ने इन दोनों की स्थिति का अंशतः समतुलन करते हुए बतलाया कि ग्रहणासक्तियुक्त मानव ग्रहण कामनानुगत अविद्यात्मक कर्म्मजनित वासनासंस्कार द्वारा अपने आत्मा के विद्याभाग को आवृत्त करता हुआ अन्धकार में अवश्य है, विद्याभाग इसका अवश्य आवृत है, परन्तु कर्म्मसम्पत्ति इसकी सुरक्षित रह जाती है। फलस्वरूप कर्म्मानुगत लोकवैभव भोग में यह अवश्य सफल हो जाता है। उधर त्यागासक्तियुक्त मानव त्यागकामानुगत विद्यात्मक-विद्याजनित-भावनासंस्कर द्वारा अपने विद्या विकास को भी आवृत्त कर लेता है एवं कर्म्मविकास तो इस कर्म्मत्यागी के लिए स्वतः ही आवृत सिद्ध हो रहा है। इस प्रकार यह विद्याविभूति के साथ-साथ कर्म्मविभूति से भी हाथ धो बैठता है। आत्मशान्ति नष्ट हुई विद्या के आवरण से, लोकवैभव गया कर्म्मत्याग से, न माया ही मिली, न राम का ही साक्षात्कार हुआ। इसीलिए तो ज्ञानवादी के लिए श्रुति का–**ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः**–कथन चरितार्थ बन रहा है।

आस्तां तावत्। ज्ञानपक्ष पक्षपाती से हम पूछते हैं–वह कर्म्मत्याग किस उद्देश्य से कर रहा है? सम्भवतः प्रश्न का उसकी ओर से यही उत्तर मिलेगा 'कि हम अमृतलक्षण अतएव शान्त मूलक-प्रवर्त्तक आत्मा के विद्याभाग के विकास के लिए, दूसरे शब्दों में नैष्कर्म्यभावसिद्धि के लिए ही हम कर्म्म का परित्याग कर रहे हैं'। ओमित्येतत्। सहमत हैं–हम आपके इस उद्देश्य से। अब कृपया यह और बतला दीजिए कि अपने आत्मा को निष्कर्म्मभावात्मक बनाने के लिए आप भविष्य में कर्म्म का परित्याग कर आगामी अविद्यासंस्कार से तो अपने आत्मा को बचालेंगे। परन्तु उस सञ्चितसंस्कार की निवृति के लिए आप क्या उपाय करेंगे जो जन्मान्तर से आत्मा पर सञ्चित हो रहा है। इसके अतिरिक्त प्रारब्धकर्म्म से आप कैसे बच सकेंगे? जबकि इसके लिए–**प्रारब्धकर्म्मणां भोगादेव क्षयः**–सिद्धान्त स्थापित हुआ है। ज्ञानोदय सर्वकर्म को भस्मसात् कर देता है, परन्तु प्रश्न तो ज्ञानोदय का है। सञ्चित संस्कार हटें, प्रारब्ध संस्कारों का भोग हो जाय, तब ज्ञानोदय हो और ज्ञानोदय हो तब सञ्चित संस्कार हटें। बतलाइए है कोई उपाय। कोई उपाय नहीं। यदि कोई उपाय है तो निवृत्तकर्म्म का ज्ञान में समावेश।

---

१ ईशोप० ९।

यह स्मरण रखिए कण्टक ही कण्टक निकाल सकता है,–'**विषस्य विषमौषधम्**'–न्याय प्रसिद्ध है। एवमेव कर्म्म यदि हट सकता है तो कर्म्म ही के द्वारा। विना कर्म्मारम्भ के सञ्चित कर्म्म का निराकरण असंभव है एवं विना कर्म्म-निराकरण के नैष्कर्म्यसिद्धि असंभव है। अगत्या अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिए भी आपको अपने ज्ञानमार्ग में अवश्यमेव कर्म्म का समावेश करना पड़ेगा और यों अगत्या अपना ज्ञानाभिनिवेश छोडकर आपको–'**न कर्म्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते**'–इस सिद्धान्त की शरण में आना पड़ेगा। आप आशङ्का करेंगे कि नैष्कर्म्यसिद्धि के लिए जिस कर्म्म का अनुगमन किया जाएगा, मानते हैं उससे सञ्चित संस्कार नष्ट हो जाएँगे। परन्तु इस क्रियमाण कर्म्म से उत्पन्न संस्कारों को हटाने के लिए क्या उपाय किया जाएगा–आप यह आशङ्का न करें। नैष्कर्म्यसिद्धि में उपयुक्त कर्म्म निवृत्ति प्रधान कर्म्म है।

जिस प्रकार कतकरज शक्कर, गुड़ के मैल को फाड़ता हुआ स्वयं भी शक्कर-गुड़ से पृथक् छँट जाता है एवमेव यह निवृत्तकर्म्म संस्कारकर्म्म को हटाता हुआ स्वयं भी निवृत्त हो जाएगा। जिसके निवृत्त होने का तत्त्व यही है कि कामनात्यागलक्षण कर्म्म से उत्पन्न होने वाले संस्कार आत्मविकास को कभी आवृत नहीं किया करते। निवृत्तकर्म्म का साक्षी रसप्रधान विद्याव्यय बना रहता है, अतएव ऐसे निवृत्तकर्म्म के सम्बन्ध में संस्कारबन्धन की आशङ्का ही करना सर्वथा निर्मूल है। कर्म्म से डरिए नहीं। आसक्ति से डरिए। आसक्तिशून्य कर्म्म तो विद्या-विकास का हेतु बनता हुआ नैष्कर्म्यसिद्धि का द्वार है। इस प्रकार नित्य-नैमित्तिक-काम्य तीनों में से काम्यकर्म्म का परित्याग करते हुए, नित्य-नैमित्तिक के अनुष्ठान द्वारा तदकरणजनित प्रत्यवाय से अपने आपको बचाते हुए आप एवंविध निवृत्तकर्म्म द्वारा नैष्कर्म्यभाव भी प्राप्त कर सकते हैं और गीता दृष्टि से आप ब्रह्मधात्वनुगति के साथ-साथ कर्म्म-धात्वनुगमन करते हुए उस विषमता से भी बचे रह सकते हैं, जो विषमता अशान्ति का कारण मानी गई है। कहना न होगा कि केवल विद्याविकास (आत्मज्ञानभागविकास) के पक्षपाती ज्ञानयोगियों के इस ज्ञानविकास में कर्म्म ही हेतु बना करता है–बनेगा। विद्या पर आया हुआ सञ्चित कर्म्मावरण कर्म्म से ही निवृत्त होगा एवं तभी नैष्कर्म्यसिद्धि प्राप्त होगी।

ठीक यही स्थिति उन कर्म्मवादियों की समझिए, जो कर्म्माभिनिवेश में पड़कर ज्ञान की उपेक्षा कर रहे हैं। मान लेते हैं, केवल कर्म्मानुगमन से उन्हें भौतिक परिग्रह मिल जाएगा एवं इसके द्वारा ये ऐन्द्रियक उस सुख का भी अनुभव कर लेंगे जो केवल ज्ञानाभिनिविष्टों को अप्राप्त है। परन्तु इस पथ में न तो सञ्चित कर्म्मावरण को हटाने का ही कोई उपाय है, न क्रियमाणकर्म्मजनितसंस्कार बन्धन से ही विमुक्ति है, न प्रारब्धकर्म्मजनित द्वन्द्वभाव सहन सामर्थ्य ही है। अपि तु, क्रियमाणकर्म्मसंस्कारावरण से विद्याभाग के उत्तरोत्तर आवृत हो जाने से इसका आध्यात्मिक जगत् उत्तरोत्तर अशान्त ही बनता रहता है। साथ ही ज्ञानाभावजनित अविवेक इसके मानस विचारों को आगे चलकर ऐसा संकुचित बना देता है, जिसके कारण इसका ज्ञानवञ्चित यह कर्म्म केवल वैय्यक्तिक स्वार्थसाधन में प्रवृत्त होता हुआ लोकैषणा का पोषक बन जाता है, अतएव न तो इस मानव के कर्म्म से संसार का ही कोई भला होता, न अपने आपको ही शान्ति मिलेगी। पशुवत् पेट भर लेना, इन्द्रियवासना के साधन जुटाते

रहना, इसके अतिरिक्त एवंविध ज्ञानविरहात्मक कर्म्म का भी अन्य कोई फल नहीं रह जाता, अतएव आवश्यक है कि वह अपने कर्म्मों का आधार ज्ञान को ही बनावे । कर्म्मसंसिद्धि भी सदा ज्ञान को ही हेतु बनाती है । कर्म्म ज्ञान की अपेक्षा नहीं रखता, अथवा तो ज्ञान कर्म्म की अपेक्षा नहीं रखता–यह बात दार्शनिक कह सकता है–जिसकी दृष्टि में आत्मा केवल ज्ञानमय है । परन्तु जो वैज्ञानिक आत्मा को ब्रह्म-कर्म्मधातुद्वयसम्बन्ध से ज्ञानकर्म्मोभयात्मक समझता है, उसकी दृष्टि में तो दोनों अपने-अपने विकास के लिए दोनों की परस्पर अपेक्षा रख रहे हैं, अतएव ज्ञानवादी को स्वज्ञानविकास के लिए जहाँ कर्म्म का आश्रय लेना पड़ेगा, वहाँ कर्म्मवादी को स्वकर्म्मविकास के लिए ज्ञान का आश्रय लेना अनिवार्य होगा और ऐसा करते हुए मानव को–**'एकं सांख्यञ्च योगञ्च यः पश्यति स पश्यति'**–इस भगवद्वचन को सार्थक बनाना पड़ेगा ।

ज्ञानवादी कर्म्म का आश्रय लेगा, परन्तु इसका यह कर्म्म निवृत्तिप्रधान कर्म्म होगा । यज्ञादि काम्यकर्म्मों से, लौकिक व्यावहारिक कर्म्मों से, जनसम्पर्क से इसका कोई सम्बन्ध न रहेगा । इसका अपना नित्य-नैमित्तिक कर्म्म केवल इसके अपने कल्याण के लिए ही विहित होगा, और इस कर्म्मयुक्त ज्ञानपथ के अनुगमन से कालान्तर में यह अपने लक्ष्य पर पहुँच जाएगा । उधर कर्म्मवादी ज्ञान का आश्रय लेगा, परन्तु यह ज्ञान कर्म्म का उपकारक बनता हुआ गौण रहेगा । साथ ही कर्म्मवादी कामना का परित्याग करता हुआ यज्ञादि शास्त्रीय कर्म्मों में, लौकिक-व्यावहारिक-कर्म्मों में भी प्रवृत्त रहेगा । इसका यह सर्वविधकर्म्मानुगमन इसका अपना भी कल्याण करेगा एवं इसके इस निष्कामकर्म्म से संसार का भी उपकार होगा । इस पथ का अनुगमन करता हुआ यह भी उस लक्ष्य पर पहुँच जाएगा, जिस लक्ष्य पर ज्ञानवादी पहुँचा करते हैं । इस प्रकार **'यत् सांख्यैः प्राप्यते स्थानं, तद्योगैरपि गम्यते'**–के अनुसार दोनों मानववर्ग लक्ष्य-प्राप्ति की दृष्टि से समतुलित माने जाएँगे । साथ ही कामत्यागात्मिका सांख्यनिष्ठा, कर्म्मग्रहणात्मिका योगनिष्ठा–इस प्रकार त्याग-ग्रहणोभय समन्वय से ज्ञानयोगलक्षणा सांख्यनिष्ठा एवं कर्म्मयोगलक्षणा योगनिष्ठा दोनों का स्वरूप भी–**'एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति'**–के अनुसार अभिन्न बन रहा है । परन्तु प्रश्न दोनों के सम्बन्ध में यह उपस्थित होता है कि जबकि स्वरूपतः और फलतः दोनों मार्ग समान हैं तो दोनों में कौनसा अधिक श्रेष्ठ तथा सुगम है ? प्रश्न का उत्तर दोनों के पूर्वप्रतिपादित स्वरूप से ही मिल रहा है । कर्म्मगर्भित ज्ञानमार्ग में कर्म्म का समावेश अवश्य है, परन्तु यह कर्म्म निवृत्तिप्रधान बनता हुआ लोकोपकार करने में असमर्थ है । संसार का कोई उपकार न होना ही इस सांख्यनिष्ठा में पहली अविशेषता है । दूसरे जनसम्पर्कवञ्चिता, साथ ही केवल आध्यात्मिक अव्यक्तभावप्रधान कर्म्मानुगमनता, सर्वोपरिअव्यक्तज्ञानोन्मुखा सांख्यनिष्ठा अनुष्ठानदृष्टि से भी क्लेशावहा बन रही है, जैसा कि–**'अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते'**–इत्यादि वचन से प्रमाणित है–**'क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत् कवयो वदन्ति'**–इत्यादि रूप से श्रुति भी ज्ञानप्रधान इस पथ की दुर्गमता का ही समर्थन कर रही है । इस प्रकार अनुष्ठान सौकर्य्य की दृष्टि से एवं लोकोपकारलक्षण लोकसंग्रहदृष्टि से ज्ञानात्मिका सांख्यनिष्ठा अविशेष बन रही है । उधर व्यक्त कर्म्मात्मिका योगनिष्ठा व्यक्तकर्म्म के कारण अनुष्ठान में भी सुकर है, आत्मकल्याण के साथ-साथ इससे लोककल्याण

भी होता है, अतएव यह योगनिष्ठा सांख्यनिष्ठा की तुलना में विशेष बन रही है। इसी दृष्टि से भगवान् ने इन दोनों के सम्बन्ध में यह व्यवस्था की है कि—

"संन्यासः कर्म्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते" ।।[1]

ध्यान रहे, **'संन्यासः कर्म्मयोगश्च'**-वाक्य के संन्यास का अर्थ कर्म्मात्यन्तविमोकलक्षण वह ज्ञानयोग नहीं है, जो सांख्यों ने माना है। कर्म्म का आत्यन्तिक परित्याग तो हो ही नहीं सकता। इस निष्ठा में भी नित्य-नैमित्तिक कर्म्म अवश्य समाविष्ट रहेंगे। केवल काम्यकर्म्मों का ही परित्याग होगा—**'काम्यानां कर्म्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः'**—रूप से स्पष्ट ही भगवान् ने अपने अभिमत संन्यासपथ का विश्लेषण कर डाला है। सांख्य जिस कर्म्मत्यागलक्षण ज्ञानयोग का उद्घोष कर रहे थे, भगवान् ने लोकसंग्रह के नाते अपने गीताशास्त्र में उसका समावेश अवश्य कर लिया है परन्तु संशोधन के साथ और वह संशोधन है—**'न कर्म्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते'**—यह। कर्म्मयुक्त यही संशोधित ज्ञानयोग गीता-परिभाषानुसार सिद्धविद्यानुगत **ज्ञानबुद्धियोग** कहलाया है, जिसका **ज्ञानयोगपरीक्षा** नामक स्वतन्त्र खण्ड में विस्तार से उपबृंहण किया जा चुका है।

इसी प्रकार **कर्म्मयोगश्च** के कर्म्मयोग का अर्थ भी यह कर्म्मयोग नहीं है, जिसका व्यक्तिस्वार्थानुगत कामभावप्रधान स्वर्गादि काम्यफलों के साथ सम्बन्ध बतलाया जाता है जो कर्म्मयोग ज्ञान की उपेक्षा कर दिया करता है। इस निष्ठा में ज्ञान अवश्य रहेगा, केवल कामना का परित्याग होगा। जिसका—**'स शान्तिमाप्नोति न कामकामी'** रूप से विश्लेषण हुआ है। योगी जिस काम्यकर्म्म का उद्घोष कर रहे थे, लोकसंग्राहक भगवान् ने गीता में उसका समावेश अवश्य किया, परन्तु संशोधन के साथ-और वह संशोधन है—**'त्रैगुण्यविषया वेदाः, निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन'**—यह। वेद, किंवा वेदशास्त्र सिद्ध यज्ञादि पावन कर्म्मों के साथ भगवान् का विरोध नहीं है—**'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्य्याकार्यव्यवस्थितौ'**—रूप से भगवान् वेदशास्त्र पर जहाँ अपनी अनन्यनिष्ठा प्रकट कर रहे हैं, वहाँ—**'यज्ञो दानं तपः कर्म्म न त्याज्यं कार्य्यमेव तत्'**—कहते हुए वेदशास्त्रसिद्ध यज्ञादि कर्म्मों की अवश्यकर्त्तव्यता का भी आदेश दे रहे हैं। स्पष्ट है कि भगवान् केवल त्रिगुणभावात्मिका कामलिप्सा के शत्रु हैं एवं—**'निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन'**—से भगवान् केवल इस गुणात्मिका कामना का ही निषेध कर रहे हैं। ज्ञानयुक्त कामविरहित यही संशोधित **कर्म्मयोग** गीता-परिभाषानुसार आर्षविद्यानुगत **धर्म्मबुद्धियोग** नाम से प्रसिद्ध हुआ है। कर्म्मत्यागलक्षणा लोकप्रचलिता सांख्यनिष्ठा (ज्ञानयोग) एवं काममयी योगनिष्ठा (कर्म्मयोग) एवंविध संन्यास और कर्म्मयोग निःश्रेयस् की कौन कहे, सर्वनाश के कारण हैं। कर्म्मयुक्ता सांख्यनिष्ठा, कामविरहिता योगनिष्ठा ही गीता का वह संन्यास और कर्म्मयोग है, जिसके लिए भगवान् ने—**'संन्यासः कर्म्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ'**—यह कहा है।

---

१ गीता ५।२।

एक प्रासङ्गिक विश्लेषण और। भगवान् ने प्रत्यक्ष में–**'लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ'**–से यद्यपि ज्ञानयोग और कर्म्मयोग नामक दो योगों का ही उलेख किया है, तथापि **'तन्मध्यध-न्याय'**–से भगवान् गीताशास्त्र में उस तीसरी भक्तिनिष्ठा का भी संशोधनपूर्वक गीताशास्त्र में संग्रह कर रहे हैं, जिसका स्वरूप उभयात्मक माना गया है। ज्ञानयोग में कर्म्म है, परन्तु ज्ञान प्रधान है, अतएव वह योग साधन-साध्य उभयथा आधिदैविक बन रहा है। कर्म्मयोग में ज्ञान है, परन्तु कर्म्मप्रधान है, अतएव यह योग साधन-साध्योभयथा आधिभौतिक बन रहा है। मध्यस्थ भक्तियोग में ज्ञानकर्म्म समतुलित हैं, अतएव साधनदृष्ट्या यह योग आधिभौतिक तथा साध्यदृष्ट्या आधिदैविक बनता हुआ उभयात्मक बन रहा है। जिस प्रकार कामना के समावेश से लोकनिष्ठात्मक कर्म्मयोग आत्मावरण का कारण बना हुआ अनुपयुक्त है, एवमेव उसी फलकामना के समावेश से ईश्वरोपासनात्मक यह भक्तियोग भी व्यक्तिस्वार्थमूलक बनता हुआ आत्मावरक बनकर अनुपयुक्त ही है। और यही लोकनिष्ठात्मक भक्तियोग का दिग्दर्शन है। भगवान् ने कर्म्मयोगवत् इसमें से भी कामना का बहिष्कार कर इसे निष्कामभाव प्रदान किया और यही संशोधित भक्तियोग गीतापरिभाषानुसार राजविद्यानुगत-**ऐश्वर्य्य-बुद्धियोग** कहलाया। इसी प्रासङ्गिक चर्चा में अब यह प्रश्न और उपस्थित हो गया कि ज्ञानयोगात्मक ज्ञानबुद्धियोग की अपेक्षा कर्म्मयोगात्मक धर्म्मबुद्धियोग विशेष महत्त्वशाली है तो इस कर्म्मयोग और ऐश्वर्य्यबुद्धियोगात्मक संशोधित भक्तियोग दोनों में कौन विशेष है? राजर्षिविद्यानुगत वैराग्य-बुद्धियोग नामक समत्वयोगप्रतिपादक आर्षगीताशास्त्र की अपेक्षा से इस प्रश्न का उत्तर भी उक्तप्राय है। गीता समत्व की पक्षपातिनी है और समत्व की दृष्टि से उभयसमन्वयात्मक भक्तियोग कर्म्म-प्रधानात्मक कर्म्मयोगापेक्षया विशेष महत्त्व रख रहा है, अतएव सिद्ध है कि कर्म्मयोग और भक्तियोग की तुलना में भक्तियोग ही विशेष है, जैसा कि–**'श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः'**–[1]इत्यादि भगवद्वचन से प्रमाणित है।

आत्मस्वरूप दृष्टि से इस लोकानुगता संशोधिता योगत्रयी का समन्वय कीजिए। आत्मदेवता अव्यय, अक्षर, क्षर–इन तीन विवर्त्तभावों में परिणत है जैसा कि पूर्वशिक्षाओं में विस्तार से बताया जा चुका है। तीनों में अव्ययपुरुष ही मुख्य आत्मा है एवं इसी में परात्परानुगत ब्रह्म-कर्म्मधातुओं का साम्य है, अतएव गीता में यह ब्रह्मकर्म्मोभयात्मक अव्ययब्रह्म **समब्रह्म** नाम से व्यवहृत हुआ है। **निर्दोषं हि समं ब्रह्म**–लक्षण अव्ययब्रह्म इसी समत्व के कारण गुणातीत बनता हुआ निर्गुण, अतएव द्वन्द्वातीत है, जैसा कि–**अनादित्वान्निर्गुणत्वात् परमात्मायमव्ययः**–से प्रमाणित है सम अव्यय ही उस समत्वयोग की मूलप्रतिष्ठा बनता है जो वैराग्यबुद्धियोग कहलाया है। चूंकि वैराग्ययोग का सम अव्यय से सम्बन्ध है, अतएव इसी अभिन्नता के कारण गीता ने इस समत्वयोग को भी **अव्यय** नाम से व्यवहृत कर दिया है, जैसा कि–**इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्**–इत्यादि वचन से प्रमाणित है। समत्वयोगाधिष्ठाता इस अव्ययात्मा का तथा अव्ययात्मानुगत बुद्धियोग का उपनिषदों में निरूपण अवश्य हुआ है, परन्तु सुसूक्ष्मरूप से। वह भी आगे जाकर सांख्यादि दार्शनिकों की कृपा से विलुप्त हो गया था–जिसका

---

१ गीता १२।२०।

उद्धार सर्वप्रथम गीताशास्त्र ने किया। लोक में (लोकनिष्ठ दार्शनिकों की दृष्टि में) अक्षर, क्षर नामक दो विवर्त्त ही लक्ष्य बने रहे एव इन्हीं दोनों के आधार पर लोकनिष्ठात्रयी का आविर्भाव हुआ। व्यक्त-क्षर कर्म्मात्मक किंवा कर्म्मप्रधान था, इसे आधार बनाकर काम्यकर्म्मयोग ने जन्म लिया। अव्यक्त-अक्षर ज्ञानात्मक किंवा ज्ञानप्रधान था, इसे आधार बनाकर कर्म्मत्यागलक्षण ज्ञानयोग ने जन्म लिया एवं अक्षर ज्ञान, क्षर कर्म्म के समन्वय से काममय भक्तियोग का आविर्भाव हुआ। अव्यय और तदनुगत बुद्धियोग अव्ययात्मस्वरूपज्ञानाभाव से यों परोक्ष ही बने रह गए। **'परं भावमजानन्तो मन्यन्ते मामबुद्धयः'**–से स्पष्ट ही भगवान् इस अज्ञता का स्पष्टीकरण कर रहे हैं। गीता के प्रथमोपदेश की चर्चा छोडिए। महाभारत युग में होने वाले द्वितीय बार के उपदेश को लक्ष्य बनाइए। **'स कालेनेह महता योगो नष्टः परन्तप'**–के अनुसार देवयुग में उपदिष्ट अव्ययानुगत बुद्धियोग कालातिक्रम से लुप्त हो गया था। आर्षप्रजा उस युग (महाभारत युग) में रुचिभेद से तीनों अक्षर-क्षरात्मक ज्ञान-कर्म्म-भक्तियोगो में ही संलग्न रहकर लक्ष्यच्युत बन रही थी। भगवान् ने अर्जुन के लक्ष्य से आर्षमानव प्रजा का उद्बोधन कराते हुए बतलाया कि तुम्हारा कर्म्मत्यागलक्षण ज्ञानयोग (सांख्यनिष्ठा) काम-नामय कर्म्मयोग (योगनिष्ठा), काम्य भक्तियोग (भक्तिनिष्ठा) तीनों योग शान्तिप्राप्ति के तब तक विघातक ही बने रहेंगे, जब तक तुम अपने योगों का आधार अव्ययात्मा को न बनाते हुए इन्हें बुद्धि-योग की प्रतिच्छाया से युक्त न करलोगे। बुद्धियोगात्मक अव्ययात्मा का सहयोग प्राप्त करने का यही अर्थ है कि अव्ययात्मा द्विधातुमूर्त्ति है, अतएव ज्ञानयोग में कर्म्म का समावेश कर उसे उभयात्मक बनाया जाए, कर्म्मयोग में से कामना निकालकर उसे उभयात्मक बनाया जाए एवं भक्तियोग में से कामना निकाल कर उसे उभयात्मक बनाया जाए। भगवान् ने यही किया। इसी संशोधन के साथ एकमात्र लोकसंग्रह की रक्षा के लिए भगवान् ने अपने प्रधान प्रतिपाद्य विषयात्मक बुद्धियोगशास्त्र में (गीता में) तीनों लोकनिष्ठाओं का भी संग्रह कर लिया। क्षरात्मक कर्म्मयोग में कामत्याग द्वारा अव्ययज्ञान का समावेश कर इसे बुद्धियोग-सम्पत् प्रदान की। अक्षरात्मक ज्ञानयोग में कर्म्मसमावेश द्वारा अव्यय-कर्म्म का समावेश कर इसे बुद्धियोग-सम्पत्ति प्रदान की एवं अक्षर-क्षरात्मक भक्तियोग में कामत्याग द्वारा समष्ट्यात्मक अव्यय का समावेश कर इसे बुद्धियोग-सम्पत्ति प्रदान की।

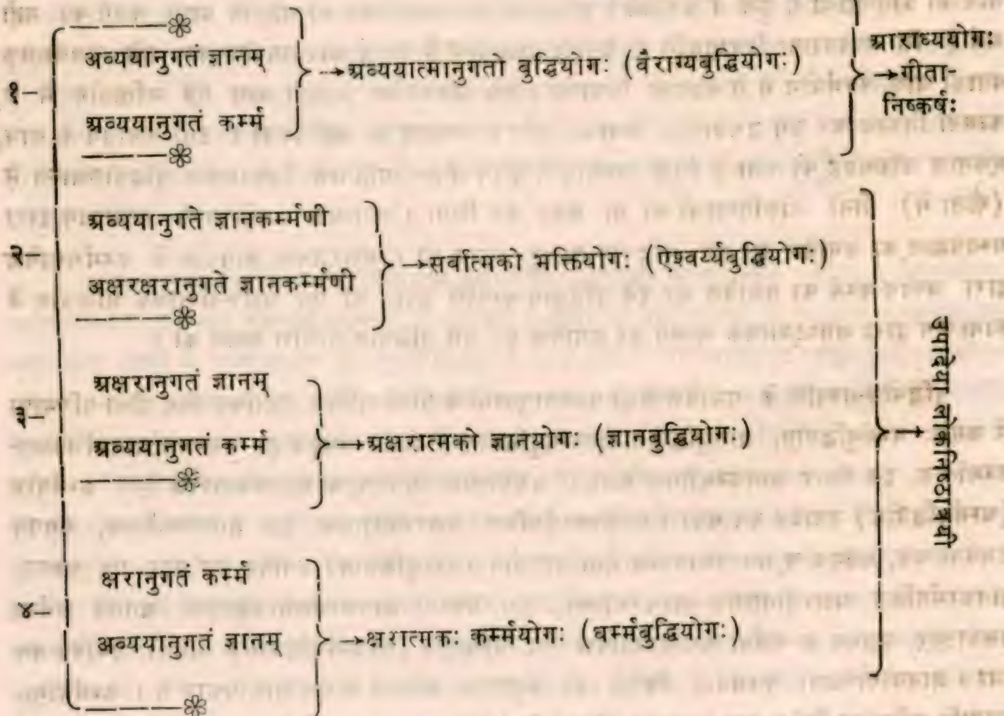
बुद्धियोग-सम्पत्ति के समावेश से ही परमतानुगामी ये तीनों लौकिक संशोधित योग गीता-परिभाषा में क्रमशः–धर्म्मबुद्धियोग, ज्ञानबुद्धियोग, ऐश्वर्य्यबुद्धियोग नामों से व्यवहृत हुए। अव्यय ज्ञानगर्भितक्षर-कर्म्मात्मक, इस प्रकार ज्ञानकर्म्मात्मक अतएव उभयात्मक, अतएव च-समत्वभावापन्न ऐसा कर्म्मयोग (धर्म्मबुद्धियोग) उपादेय बन गया। अव्ययकर्म्मगर्भित अक्षरज्ञानात्मक, इस ज्ञानकर्म्मात्मक, अतएव उभययात्मक, अतएव च समत्वभावापन्न ऐसा ज्ञानयोग (ज्ञानबुद्धियोग) उपादेश बन गया एवं अव्यय-ज्ञानकर्म्मगर्भित अक्षरज्ञानात्मक–क्षरकर्म्मात्मक, इस प्रकार ज्ञानकर्म्मसमन्वयात्मक, अतएव सर्वथा उभयात्मक, अतएव च–सर्वथा समत्वभावापन्न ऐसा भक्तियोग (ऐश्वर्य्यबुद्धियोग) सर्वथा उपादेय बन गया। ज्ञानयोगापेक्षया कर्म्मयोग विशेष रहा अनुष्ठान सौकर्म्य से एवं लोकोपकार से। कर्म्मयोगा-पेक्षयापि भक्तियोग विशेष रहा अनुष्ठान सौकर्य्य से, लोकोपकार से, सर्वोपरि अव्ययात्मा के ब्रह्म-कर्म्म दोनों धातुओं के समन्वय से। और स्वयं गीता की दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ ज्येष्ठयोग रहा वह बुद्धियोग

(वैराग्ययोग) जो साक्षात् ही अव्यय के ब्रह्म-कर्म्मधातुओं पर प्रतिष्ठित हैं एवं जिस योग का 'बुद्धि-योगपरीक्षा' पूर्वखण्ड से विस्तार से विश्लेषण किया जा चुका है। ज्ञानयोगानुगामी ज्ञानियों की, भक्तियोगानुगामी तपस्वियों की एवं कर्म्मयोगानुगामी कर्म्मठों की–इन तीनों की अपेक्षा वही बुद्धियोगानुगामी योगी श्रेष्ठ है, जो अव्ययात्मा के साथ साक्षात् सम्बन्ध स्थापित कर रहा है। इसी योगी की इसी सर्वश्रेष्ठता का समर्थन करते हुए भगवान् कहते हैं—

तपस्विभ्योऽधिको योगी———→(भक्तियोगापेक्षया)
ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः———→(ज्ञानयोगापेक्षया)
कर्म्मिभ्यश्चाधिको योगी———→(कर्म्मयोगापेक्षया)
तस्मात् 'योगी' भवार्जुन ![1]——→(बुद्धियोगः श्रेष्ठः)

हेया लोकनिष्ठात्रयी—

१–लौकिकज्ञानयोगनिष्ठा→अव्यक्ताक्षरज्ञानात्मिका–**कर्म्मशून्या**
२– ,, कर्म्मयोगनिष्ठा→व्यक्तक्षरकर्म्मात्मिका—काममयी–**कर्म्मशून्या**
३– ,, भक्तियोगनिष्ठा→अव्यक्ताक्षरज्ञान–व्यक्तक्षरकर्म्मात्मिका
—काममयी–**कर्म्मशून्या**



१ गीता ६।६ ।

प्रासङ्गिक विश्लेषण समाप्त हुआ। पुनः प्रकृतमनुसरामः। ज्ञानयोग में निवृत्तकर्म्म रहेगा, कर्म्मयोग में प्रवृत्तकर्म्म रहेगा। निवृत्तकर्म्म तो स्वतः ही ज्ञानप्राधान्य से स्वयं अबन्धक एवं कर्म्मबन्धनविमोचक है ही, इधर प्रवृत्तकर्म्म भी कामनात्याग से निवृत्तकर्म्म ही बन जाता है। क्योंकि कर्म्मप्रवृत्ति बन्धन का कारण नहीं बनती। ना ही काम्ययज्ञादिलक्षण प्रवृत्तकर्म्म ही बन्धन का कारण बनते। बन्धन का कारण है–एकमात्र कामना। तत्परित्यागपूर्वक ईश्वरार्पणबुद्ध्या क्रियमाण एवंविधप्रवृत्तकर्म्म भी निवृत्तसमकक्ष ही बन जाते हैं। इस प्रकार ब्रह्म-कर्म्मधातुमय ज्ञान-योग हो अथवा कर्म्मयोग-दोनों ही सिद्धि के द्वार बन जाते हैं। ज्ञानयोगानुष्ठान से **मोह** नाम की अविद्याबुद्धि निवृत्त होती है, ज्ञान नाम की विद्याबुद्धि का उदय होता है। इसके उदित हो जाने पर सांसारिक द्वन्द्व इसकी स्थिरप्रज्ञता पर किसी प्रकार का आक्रमण नहीं कर सकते। कर्म्मयोगानुष्ठान से **अभिनिवेश** नाम की अविद्याबुद्धि पलायित होती है, धर्म्म नाम की विद्याबुद्धि आविर्भूत होती है, स्थितप्रज्ञता प्राप्त हो जाती है। भक्तियोगानुष्ठान से **अस्मिता** नाम की अविद्याबुद्धि का तिरोभाव होता है, ऐश्वर्य्य नाम की विद्याबुद्धि का आविर्भाव होता है, स्थितप्रज्ञता सिद्ध है एवं बुद्धियोगानुष्ठान से आसक्ति नाम की अविद्याबुद्धि स्मृतिगर्भ में विलीन हो जाती है, वैराग्य नाम की विद्याबुद्धि प्रस्फुटित हो जाती है, स्थितप्रज्ञता उद्बुद्ध हो पड़ती है। इस प्रकार ब्रह्मकर्म्मधातुसाम्यलक्षण चारों योग समी-क्रियात्मिका स्थिरप्रज्ञता के कारण बनते हुए शान्ति के प्रवर्त्तक बन जाते हैं। जैसे भी बने, धातुसाम्य अपेक्षित है। ज्ञान की सर्वोच्च भूमिका में पहुँचने वाले ज्ञानी भी, वैराग्य की चरम सीमा पर पहुँचने वाले बुद्धादि वैरागी भी, चयनान्तयज्ञ करने वाले कर्म्मठ भी, अहर्निश नामस्मरण करने वाले भक्तराज भी तब तक शान्ति प्राप्त नहीं कर सकते, जब तक कि उनके आत्मधातु शान्त न बन जाएँ। यही गीता की वह सारभूता धातुसाम्यशिक्षा है और यही इसका यह संक्षिप्तस्वरूप-विश्लेषण है, जिसका आगे के प्रकरणों में स्पष्टीकरण किया जाने वाला है।

। समाप्ता चेयं–आत्मधातुसाम्यशिक्षा चतुर्थी ।

॥ ४ ॥

अथ

योगचतुष्टयानुगता-चातुर्विद्यशिक्षा-पञ्चमी

५

५–योगचतुष्टयानुगता-चातुर्विद्यशिक्षा-पञ्चमी

क–अव्ययात्मविद्या के चार विवर्त्त—

आत्मयोगशिक्षा में, आत्मशिक्षा में, आत्मधातुशिक्षा में एवं आत्मधातुसाम्यशिक्षा में जिस ब्रह्म-कर्म्मधातुमूर्त्ति विद्यावीर्य्यात्मक अव्ययात्मा का यशोगान हुआ है, प्रकृत परिच्छेद में उस अव्ययात्मा के ब्रह्मधातु-अनुगत विद्यात्मा नामक अमृतप्रधान अर्द्धभाग से सम्बन्ध रखने वाली विद्याविभूति का एवं वीर्य्यधात्वनुगत-कर्म्मनामक मृत्युप्रधान अर्द्धभाग से सम्बन्ध रखने वाली योगविभूति का ही स्वरूप-परिचय अभीष्ट है। अव्ययात्मा का ब्रह्मधातुलक्षण विद्याभाग ही ज्ञानात्मा है। ज्ञान ही 'ब्रह्म' है, ब्रह्म ही 'विद्या' है। इस अव्ययात्मविद्या का किंवा अव्ययात्मा के विद्याभाग का वैज्ञानिकों ने चार भागों में वर्गीकरण माना है, अतएव विद्याविभूति के चार विवर्त माने जा सकते हैं। एक ही अव्ययात्मविद्या के चार विवर्त कैसे बन गए? इस प्रश्न का समाधान है–अव्ययात्मविद्या का चार स्थानों में विभूति-सम्बन्ध से विभक्त हो जाना।

यह बतलाया जा चुका है कि परात्पर ही मायाबलोदय से 'पुरुष' रूप में परिणत होता है। केवल मायाबलावच्छिन्न मायी परात्पर ही 'परात्पर पुरुष' कहलाया है। इस परात्पर-निष्कल अव्यय-पुरुष को ही अर्द्धमात्रिक निगूढ किंवा निरूढ 'अव्ययात्मा' माना गया है (देखिए आत्मशिक्षा पृ० सं० ३४ से) इसी निरूढ परात्पराव्ययात्मा का दूसरा रूप है-षोडशीप्रजापति, जिसे आत्मशिक्षा में 'विश्वेश्वर' कहा गया है। वही षोडशी पुरुष अपने स्थितिभाव से पञ्चकलात्मक अव्यय बन रहा है, गतिभाव से पञ्चकलात्मक अक्षर बन रहा है एवं आवरणलक्षण स्तब्धभाव से आत्मक्षर बन रहा है। इस प्रकार–'**आत्मा उ एकः सन्नेतत् त्रयम्**'–के अनुसार वह एक ही सकल अव्यय 'अव्यय-अक्षर-आत्मक्षर' भेद से तीन विवर्त्तभावों में परिणत हो रहा है, जिसके ये तीनों विवर्त्त आत्मशिक्षा में क्रमशः 'अमृतात्मा ब्रह्मात्मा-शुक्रात्मा'–नाम से भी व्यवहृत हुए हैं। इस प्रकार विशुद्धमायी निष्कल अव्ययात्मा, सकल अव्ययात्मा, सगुणसविकार अक्षरात्मक अव्ययात्मा, सावरण क्षरात्मक अव्ययात्मा–ये चार विवर्त्त (एक ही अव्ययात्मा के) हो जाते हैं। चूंकि परात्पराव्यय निगूढ है, षोडशीगर्भित अव्यय 'पर' है, षोडशी-गर्भित अक्षरात्मक अव्यय 'परावर' है, षोडशीगर्भित आत्मक्षरात्मक अव्यय 'अवर' है, अतएव इन चारों अव्ययात्मविवर्तों को क्रमशः–'**निरूढाव्यय, पराव्यय, परावराव्यय, अवराव्यय**'–इन नामों से व्यवहृत किया जा सकता है। '**तदेव शुक्रं–तद्ब्रह्म–तदेवामृतमुच्यते**'–के अनुसार तत्पदवाच्य निरूढा-व्ययात्मा ही इन चार विवर्तभावों में परिणत हुआ है। ये चारों विवर्त क्रमशः निगूढ आत्मा, ईश्वर, जीव, भूत–इन चार भावों की आधार भूमि बना करते हैं। तात्पर्य्य तुरीय क्षेत्र में स्वयं निगूढाव्यय का साम्राज्य रहता है। आधिदैविक संस्था में निगूढ–परावराव्यय-अवराव्ययगर्भित पराव्यय का विकास रहता है। आध्यात्मिकसंस्था में निगूढ–पराव्यय-अवराव्ययगर्भित परावराव्यय का प्राधान्य रहता है एवं आधिभौतिक विवर्त में निगूढ–पराव्यय-परावराव्ययगर्भित अवराव्यय का प्रभुत्व रहता

हैं, अतएव प्रथम विवर्त को **निरूढात्मा**, द्वितीय को **ईश्वरात्मा**, तृतीय को **जीवात्मा**, चतुर्थ को **भूतात्मा**, नामों से भी व्यवहृत किया जा सकता है एवं **'पूर्णमदः पूर्णमिदम्'**–न्याय से मानव की अध्यात्मसंस्था में इन चारों अव्ययात्मविवर्तों का भोग हो रहा है। इसी दृष्टि से इन चार अव्ययात्मविवर्तों की सिद्धविद्याओं को क्रमशः **निरुढात्मविद्या, ईश्वरात्मविद्या, जीवात्मविद्या, भूतात्मविद्या**–नामों से व्यवहृत किया जा सकता है। निगूढात्मविद्या, किंवा निगूढविद्यात्मक अव्ययपुरुष तृप्तिगुणात्मक है, ईश्वरात्मविद्या किंवा ईश्वरविद्यात्मक अव्यय तुष्टिगुणात्मक है। जीवात्मविद्या किंवा जीवविद्यात्मक अव्यय पुष्टिगुणात्मक है एवं भूतात्मविद्या, किंवा भूतविद्यात्मक अव्यय मुक्तिगुणात्मक है। इस प्रकार एक ही तल्लक्षण अव्ययात्मा, किंवा अव्ययात्मविद्या चार भागों से विभक्त हो रही है। जैसा कि परिलेख से स्पष्ट है—

१–परात्परपुरुषः–परात्पराव्ययः–निगूढात्मा–तृप्तिगुणान्विता–निरूढात्मविद्या।

२–अव्ययपुरुषः–पराव्ययः——ईश्वरात्मा-पुष्टिगुणान्विता–ईश्वरात्मविद्या।

३–अक्षरपुरुषः–परावराव्ययः—जीवात्मा—तुष्टिगुणान्विता–जीवात्मविद्या।

४–आत्मक्षरपुरुषः–अवराव्ययः–भूतात्मा—मुक्तिगुणान्विता–भूतात्मविद्या।

ख–'विद्या' शब्द का तात्त्विक समन्वय—

'विद्या' शब्द का अर्थ क्या? इस जिज्ञासा का समाधान करते हुए वैज्ञानिकों ने कहा है–**'कार्य्य-कारणरहस्यज्ञानं विद्या'**। आत्मा की कारणता का क्या मौलिक रहस्य है? आत्मा से उत्पन्न कार्य्य का क्या स्वरूप है? इस कार्य्यकारणरहस्य-ज्ञान से ज्ञाता का क्या लाभ होता है? इत्यादि प्रश्नों का समाधान करने वाला रहस्यज्ञान ही 'विद्या' नाम से व्यवहृत हुआ है। सिद्ध है कि आर्षगीता में प्रतिपादित उक्त चारों विद्या-प्रकरणों में भगवान् ने इन्हीं प्रश्नों का विस्तार से विश्लेषण किया है। आत्मचतुष्टयी से सम्बन्ध रखने वाली इन चारों विद्याओं का जैसा रहस्यात्मक विश्लेषण गीताशास्त्र में हुआ है, वैसा अन्यत्र अनुपलब्ध है। यद्यपि 'बुद्धियोगपरीक्षा' पूर्वखण्ड में इन चारों का विस्तार से विश्लेषण किया जा चुका है, तथापि गीतासारपरीक्षात्मक इस खण्ड में भी सर्वविषयसमन्वय की दृष्टि से संक्षेप से इन चारों विद्याओं का विश्लेषण कर दिया जाता है। विद्यास्वरूप-विश्लेषण से पहले दो शब्दों में गीता के प्रतिपाद्य विषयों को लक्ष्य में ले आना आवश्यक होगा। क्योंकि उन्हीं के आधार पर विद्यास्वरूपसमन्वय सम्भव है।

ग–आत्मविद्या का विभूतिमय विस्तार—

पूर्वप्रदर्शित चारों आत्मविवर्त एक ही परात्पराव्यय के चार विवर्त हैं। वह परात्पराव्यय ब्रह्मकर्म्मधातु भेद से द्विमूर्ति है। विश्वातीत-मायातीत-परात्पर से सम्बद्ध वही तत्त्वद्वयी **'रस-बल'** नाम से व्यवहृत हुई है। विश्वातीत, किन्तु मायी परात्पर से सम्बद्ध वही तत्त्वद्वयी **'ब्रह्म-कर्म्म'** नाम से व्यवहृत हुई है। अव्ययात्मक पराव्यय से सम्बद्ध वही तत्त्वद्वयी विश्वोपाधिदशा में **'सत्-असत्'** नाम से

विश्वकारणतादशा में 'अमृत-मृत्यु' नाम से व्यवहृत हुई है। अक्षरात्मक परावराव्यय से सम्बद्ध वही तत्त्वद्वयी 'ज्योति-तम' नाम से व्यवहृत हुई है एवं क्षरात्मक अवराव्यय से सम्बद्ध वही तत्त्वद्वयी **'ज्ञान-क्रिया'** नाम से व्यवहृत हुई है, जिसका तात्पर्य्य यही हैं कि मायातीत परात्पर रसबलात्मक है, निगूढात्मा ब्रह्मकर्म्मात्मिक है, ईश्वरात्मा सदसल्लक्षण अमृतमृत्युमयात्मा है, जीवात्मा ज्योतिस्तमोमयात्मा है, भूतात्मा ज्ञान-क्रियामय आत्मा है। सत्तादृष्टि से सब विवर्त अभिन्न हैं, इसी दृष्टि से इन रसबलादि द्वन्द्वों का पर्य्यायसम्बन्ध भी समन्वित है। किन्तु भातिदृष्टि से सब विवर्त्त भिन्न हैं एवं इस दृष्टि से इन द्वन्द्वों का पर्य्याय सम्बन्ध भी असमन्वित है। इस प्रकार वही रसबलात्मक आत्मा अस्ति-भातिरूप से सर्वत्र व्याप्त रहता हुआ सब कुछ बना हुआ है। परिलेख द्वारा इन रस-बलविवर्तों का भलीभांति स्पष्टीकरण हो जाता है—

॥ मायातीतः परात्परः———→नेतीत्युपनिषत्→रस-बल-मूर्त्तिः ।

१–मायी परात्पराव्ययः———→निगूढात्मा——→ब्रह्म-कर्म्म-मूर्त्तिः ।

२–सकलः पराव्ययः————→ईश्वरात्मा——→सदमृत-असन्मृत्यु-मूर्त्तिः ।

३–सगुणसविकारः परावराव्ययः——→जीवात्मा———→ज्योति-स्तमो-मूर्त्तिः ।

४–सावरणः अवराव्ययः————→भूतात्मा————→ज्ञान-क्रिया-मूर्त्तिः ।

घ–गीता का प्रतिपाद्यनिष्कर्ष—

अव्ययपुरुषलक्षण आत्मा-ब्रह्म-कर्म्मधातुसम्बन्ध से विद्या-वीर्य्यात्मक है–यह अनेक दृष्टियों से स्पष्ट किया जा चुका है। इसी के आधार पर तीन आत्मविवर्तों का विकास हुआ है। फलतः एक के चार विवर्त हो जाते हैं। इसी आत्मविद्या के सम्बन्ध से गीताशास्त्र 'आत्मशास्त्र' कहलाया है। इसी आत्म-विद्यादृष्टि से अध्यायोपसंहारों में–'इति ब्रह्मविद्यायाम्'–यह उद्धृत रहता है। विद्या के साथ वीर्य्यात्मक कर्म्म का घनिष्ठ सम्बन्ध है, जैसा कि–**'अन्तरं मृत्योरमृतं मृत्यावमृतमाहितम्'**–इत्यादि ब्राह्मण श्रुति से प्रमाणित है। इस कर्म्म के भी आत्मविद्या भेद से चार ही भेद हो जाते हैं। आत्मा का विद्याभाग जहाँ 'ब्रह्म' नाम से व्यवहृत हुआ है, वहाँ आत्मा का कर्म्मभाग 'योग' शब्द से व्यवहृत हुआ है, अतएव ब्रह्मात्मिका विद्या के सम्बन्ध से जहाँ गीताशास्त्र आत्मशास्त्रात्मक **ब्रह्मविद्याशास्त्र** कहला सकता है, तो वहाँ कर्म्मात्मक योग के सम्बन्ध से यह **योगशास्त्र** भी माना जा सकता है। **'ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे'** से इसी दृष्टि का समर्थन हो रहा है।

चतुर्विध आत्मविद्या, तद्गर्भिभूत चतुर्विध आत्मयोग, यह चातुर्विद्य और चातुर्योग ही गीता का प्रतिपाद्य निष्कर्ष है। कहा गया है कि कार्य्यकारणरहस्यज्ञान ही विद्या है। इस रहस्यज्ञान का विश्लेषण करने वाला तत्त्व ही 'उपनिषत्' कहलाया है, जैसा कि भूमिका प्रथमखण्ड में विस्तार से बतलाया जा चुका है। तात्पर्य्य विद्या की मौलिक उपपत्ति, मौलिकरहस्य ही उस विद्या की उपनिषत् है। भगवान् ने

इन चारों विद्याओं का रहस्यात्मक विश्लेषण करने के लिए ही गीताशास्त्र में **मौलिकरहस्यलक्षण २४ उपनिषदों का विश्लेषण** किया है। इसी रहस्यज्ञानात्मिका उपनिषत् से आरुरुक्षु का **आत्मा अनुष्ठेय योग के प्रति अनन्यश्रद्धा** से प्रवृत्त होता है। 'ऐसा क्यों करें', ऐसा करने से क्या लाभ ?–**इस प्रश्न का उत्तर** रहस्यज्ञान पर ही अवलम्बित है। धार्मिक प्रश्नों के समाधान न होने से ही तो आज **धर्म्म पर अश्रद्धा** होती जा रही है। रहस्यज्ञान ज्ञाता को उस अनुष्ठेय विषय के समीप (उप), निश्चयपूर्वक (नि), **बैठा** देता है (षत्), अतएव यह श्रद्धाजनक रहस्यज्ञान–'**यया-मौलिकोपपत्त्या जिज्ञासुः-विषयसमीपे नितरां सीदति**'–निर्वचन से यह रहस्यज्ञान 'उपनिषत्' कहलाया है। रहस्यज्ञानात्मिका **उपनिषदों के विश्लेषण** प्रसङ्ग से कितनी एक सामयिक शिक्षाएँ स्वतः प्राप्त हो जाती हैं। वे **सामयिक-प्रासङ्गिक** शिक्षाएँ ही 'उपदेश' कहलाई हैं। विद्यारहस्यविश्लेषणात्मिका २४ उपनिषदों के **प्रसङ्ग में भगवान् की** ओर से ऐसी १६० सामयिक शिक्षाओं का प्रासङ्गिक विश्लेषण और हुआ है। इस प्रकार चातुर्योगगर्भित चातुर्विद्य (४ विद्याएँ), २४ उपनिषत्, १६० उपदेश-इस रूप से आर्षगीताशास्त्र के वैज्ञानिक विषयों का त्रिधावर्गीकरण हुआ है।

ङ–दृष्टिभेद से विद्याचतुष्टयी का समन्वय–

दूसरी दृष्टि से समन्वय कीजिए। विश्वमूलभूत तत्त्व अव्ययब्रह्म है। अक्षरपुरुष इस अव्यय की पराप्रकृति है, क्षरपुरुष अपराप्रकृति है, दोनों प्रकृतियों की समष्टि–'**अन्तरङ्ग प्रकृति**' है। इस प्रकृति से वह अव्ययपुरुष नित्य अविनाभूत है, जैसा कि–'**प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि**'–से स्पष्ट है। कर्म्मात्मिका योगनिष्ठा के पक्षपातियों ने जहाँ अव्ययपुरुष की अपराप्रकृतिरूप क्षर को ही आत्मा मान कर विश्राम कर लिया, ज्ञानात्मिका सांख्यनिष्ठा के पक्षपातियों ने जहाँ अव्ययपुरुष की पराप्रकृतिरूप अक्षर को ही आत्मा मान लिया, वहाँ गीताशास्त्र ने व्यक्तक्षर-अव्यक्त अक्षर, दोनों से अतीत सर्वमूल-भूत उत्तमपुरुष स्थानीय वास्तविक अव्ययात्मा पर विश्राम किया। और बतलाया कि लोक-वेद में पुरुषोत्तम नाम से प्रसिद्ध अव्ययात्मा ही मुख्य आत्मा है, जिस अव्ययात्मा के ब्रह्मानुगत विद्यात्मक ज्योति, कर्म्मानुगत वीर्य्य, ये धातु माने गए हैं, जिन दोनों धातुओं का मानव अपने आध्यात्मिक अनुभूत **'जानामि'** (जानता हूँ), **'करोमि'** (करता हूँ)–इन दोनों प्रत्ययों से साक्षात्कार किया करता है। **अहम्** ही अव्ययात्मा है एवं **'अहं जानामि' 'अहं करोमि'**–यह व्यवहार तभी उपपन्न हो सकता है, जब कि इस 'अहं' को 'जानामि' (ज्ञान), 'करोमि' (कर्म्म)–दोनों से युक्त मान लिया जाए। इस प्रकार यह प्रत्यक्षानुभव ही अव्ययात्मा के ज्ञान-कर्म्मात्मक विद्या-वीर्य्यभावों का समर्थन कर रहा है। वास्तव में पञ्चकलोपेत अव्ययब्रह्म आनन्द-विज्ञान-मनोरूप से विद्यात्मक बनता हुआ विश्वबन्धविमोचक बन रहा है एवं मनः-प्राण-वाग्रूप से वीर्य्यात्मक बनता हुआ विश्वबन्धप्रवर्त्तक बन रहा है। आत्मा अव्ययात्मा है-वह ज्ञानकर्म्मोभयमूर्ति है–इस सिद्धान्त के विलुप्त हो जाने से ही उन लोकनिष्ठाओं का जन्म हुआ जो आध्यात्मिक–संस्था को शान्ति पहुँचाने की अपेक्षा उसके क्षोभ का ही कारण बनीं।

कामभावपरायण मानवों ने लोकसंग्राहक वैदिक कर्म्मयोग को स्वार्थकामना द्वारा त्रिगुणभावा-पन्न कर डाला, जो कुछ थोड़े मानव आगे बढे, उन्होंने ईश्वर नाम का समावेश कर भक्तियोग को जन्म

दे डाला, जो भक्तिमार्ग कामनाप्राधान्य से काम्यकर्म्मयोग का ही बन्धु बना रह गया। जो और कुछ आगे बढे, उन विद्वानों ने अक्षर को ही आत्मा मानते हुए यह समझा कि आत्मा केवल ज्ञानमय है, अतएव कर्म्मत्याग से ही शान्ति मिल सकती है। फलस्वरूप इन विद्वानों ने कर्म्मत्यागलक्षण ज्ञानयोग का आविष्कार कर डाला। भगवान् ने इन तीनों कल्पितनिष्ठावादियों को उद्बोधन कराते हुए बतलाया कि भूलते हो ! आत्मा अव्ययात्मा है, और वह ब्रह्म-कर्म्ममय है, अतएव वह समत्वलक्षण बुद्धियोग का अनुष्ठाता है। तुम्हें उसी को आधार बना कर अपनी योगनिष्ठाओं का संशोधन करना चाहिए। कर्म्म-समावेश से ज्ञानयोग को बुद्धियोगानुगामी बनना चाहिए, कामत्याग से भक्तिनिष्ठा को तथा अव्यय-ज्ञानाधारतया कर्म्मयोग को बुद्धियोग-सम्पत् से समन्वित करना चाहिए। तभी तुम्हारी यह निष्ठात्रयी उपादेयी बन सकेगी। इस प्रकार भगवान् ने अव्ययात्मसमावेश द्वारा इन तीनों लौकिक योगों का संग्रह करते हुए साक्षात् अव्यय से सम्बन्ध रखने वाले बुद्धियोग का ही गीताशास्त्र में प्रतिपादन किया, जो बुद्धियोग-**'नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः'**-के अनुसार आज भी साम्प्रदायिक व्याख्याताओं तथा गतानुगतिक लौकिक मानवों के लिए परोक्ष बना हुआ है। गीता का वह परोक्षतत्त्व प्रत्यक्ष में आकर भ्रान्त मानव का पथ-प्रदर्शन करावे, इसी लक्ष्य से यहाँ विद्या-योगों का विश्लेषण किया जा रहा है।

(१)-परात्परपुरुषलक्षणा निगूढात्मविद्या ही १-**'अनासक्तिविद्या'** कहलाई है। चूंकि इससे वैराग्योदय होता है, अतएव इसे **'वैराग्यविद्या'** भी कहा जा सकता है। भगवान् कृष्ण ही इसके प्रथम विश्लेषक हैं, अतएव इसे 'भगवद्विद्या' भी कहा जा सकता है। आदियुग से आरम्भ होकर यह अब तक आविर्भाव-तिरोभावमर्य्यादा से प्रक्रान्त है, अपि च-शाश्वत परात्पर अव्यय (सनातनपुरुष, पुराण-पुरुष) से इसका सम्बन्ध है, अतएव इसे 'सनातनविद्या' भी कहा जा सकता है। आदि युग में राजर्षि विवस्वान् के प्रति इसका उपदेश हुआ[1]। तब से महाभारतयुगपर्य्यन्त इसका राजर्षियों में ही प्रधानरूप से प्रचार-प्रसार रहा है, अतएव इसे **राजर्षिविद्या** भी कहा जा सकता है। यही गीता की मुख्य विद्या है। इसी के प्रसङ्ग में उस बुद्धियोग (वैराग्यबुद्धियोग) का विस्तार से विश्लेषण हुआ है, जो बुद्धियोग गीताशास्त्र का हृदयस्थानीय प्रतिपाद्य विषय है। इस विद्या में भगवान् ने उस आत्मा का स्वरूप बतलाया है, जो सर्वगुण-निर्गुण-सर्वकर्म्मा-अकर्म्मा-परात्परात्मक निगूढात्मा है।

(२)-पराव्ययपुरुषलक्षणा (अव्ययलक्षणा) ईश्वरात्मविद्या ही २-**'ईश्वरानन्यताविद्या'** कहलाई है। चूंकि इससे ऐश्वर्य्य नामक भगसम्पति का उदय होता है, अतएव इसे **'ऐश्वर्य्यविद्या'** भी कहा जा सकता है। महर्षि शाण्डिल्य ही **'सा परानुरक्तिरीश्वरे'** रूप से इसके प्रथम प्रवर्त्तक थे, अतएव इसे 'शाण्डिल्यविद्या' भी कहा जा सकता है। इसका विशेष प्रचार भारतीय आस्तिक अम्बरीषादि राजाओं में ही रहा है, अतएव इसे 'राजविद्या' भी कहा जा सकता है। इस विद्या में भगवान् ने **'सर्वधर्म्मो-पपत्तेश्च'** लक्षण वाले सगुण-ईश्वरात्मा का ही स्वरूप विश्लेषण किया है, जिसे हम-**'यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः'**-के अनुसार पराव्ययात्मा कह सकते हैं।

---

१ गीता ४।१

(३)–परावराव्ययपुरुषलक्षणा (अक्षरलक्षणा) जीवात्मविद्या ही ३–**'अन्तर्ज्योतिर्विद्या'** कहलाई है। चूंकि इससे ज्ञानोदय होता है, अतएव इसे **'ज्ञानविद्या'** भी कहा जा सकता है। पार्थिवभौम-त्रैलोक्यव्यवस्था में 'अन्तरिक्षलोक' नाम से प्रसिद्ध वायुलोक में निवास करने वाली तिर्य्यक् जातियों में से **'सिद्ध'** नामक जाति में उत्पन्न, अतएव 'सिद्ध' नाम से ही विख्यात महर्षि कपिल ही इस विद्या के प्रथम प्रवर्त्तक थे, अतएव इसे **'कपिलविद्या'** भी कहा जा सकता है। सिद्ध जाति में, सिद्धकपिल के द्वारा आविष्कृत सिद्धिपथों का अनुगमन कर सिद्ध बन जाने वाले मानवों में ही इसका विशेषरूप से प्रचार रहा है, अतएव इसे 'सिद्धविद्या' भी कहा जा सकता है। इस विद्या में भगवान् ने निर्गुण उस परावराव्यय का ही स्वरूप विश्लेषण किया है, जो अपने अक्षरात्मक अव्यक्तभाव से निर्गुण ही बना हुआ है।

(४)–अवराव्ययपुरुषलक्षणा (क्षरलक्षणा) भूतात्मविद्या ही ४–**'निवृत्तकर्म्मविद्या'** कहलाई है। चूंकि इससे धर्म्मोदय होता है, अतएव इसे **'धर्म्मविद्या'** भी कहा जा सकता है। महर्षि हिरण्यगर्भ ही इसके प्रथम प्रवर्त्तक थे, अतएव इसे **'हिरण्यगर्भविद्या'** भी कहा जा सकता है। इसका प्रधानरूप से ऋषियों में ही प्रचार-प्रसार रहा, अतएव इसे **'आर्षविद्या'** भी कहा जा सकता है। इस विद्या में भगवान् ने उस सविकार-सावरण-अवराव्यय का ही स्वरूप-विश्लेषण किया है, जो अपने क्षरात्मक व्यक्तभाव से भूतात्मा बना हुआ है। इस प्रकार सम्पूर्ण गीताशास्त्र में इन्हीं चार विद्याओं का प्रतिपादन हुआ है, जैसा कि परिलेख से स्पष्ट है—

१–निगूढात्मानुगता–'अनासक्तिविद्या'

योगसम्बन्धेन सैषा	—'वैराग्यविद्या'	सैषा गीतायां प्रथमा विद्या (१) →(बुद्धियोगसंयुक्ता, वैराग्य बुद्धि-योगयुक्ता वा)
प्रवर्त्तकसम्बन्धेन सैषा	—'भगवद्विद्या'	
कालसम्बन्धेन सैषा	—'सनातनविद्या'	
शिष्यपराम्परासम्बन्धेन सैषा	—'राजर्षिविद्या'	

२–ईश्वरात्मानुगता–'ईश्वरानन्यताविद्या'

योगसम्बन्धेन सैषा	— 'ऐश्वर्य्यविद्या'	सैषा गीतायां द्वितीया विद्या (२) →(भक्तियोगसंयुक्ता, ऐश्वर्य्य-बुद्धियोगयुक्ता वा)
प्रवर्त्तकसम्बन्धेन सैषा	— 'शाण्डिल्यविद्या	
कालसम्बन्धेन सैषा	— 'कलिविद्या'	
शिष्यपरम्परासम्बन्धेन सैषा	— 'राजविद्या'	

३–जीवात्मानुगता–'अन्तर्ज्योतिर्विद्या'

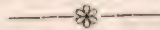
योगसम्बन्धेन सैषा — 'ज्ञानविद्या'
प्रवर्त्तकसम्बन्धेन सैषा — 'कपिलविद्या'
कालसम्बन्धेन सैषा — 'द्वापरविद्या'
शिष्यपरम्परासम्बन्धेन सैषा — 'सिद्धविद्या'

→ सैषा गीतायां तृतीयाविद्या (३) (ज्ञानयोगसंयुक्ता, ज्ञानबुद्धियोगयुक्ता वा)

४–भूतात्मानुगता–'निवृत्तकर्म्मविद्या'

योगसम्बन्धेन सैषा — 'धर्म्मविद्या'
प्रवर्त्तकसम्बन्धेन सैषा — 'हिरण्यगर्भविद्या'
कालसम्बन्धेन सैषा — 'त्रेताविद्या'
शिष्यपरम्परासम्बन्धेन सैषा — 'आर्षविद्या'

→ सैषा गीतायां चतुर्थीविद्या (४) (कर्म्मयोगसंयुक्ता, धर्म्मबुद्धियोगयुक्ता वा)



प्रकारान्तरेण–

१–सर्वविद्या-----→राजर्षिविद्या→वैराग्यविद्या →बुद्धियोगाधिष्ठात्री →वैराग्यबुद्धियोगाधिष्ठात्री वा
२-निर्गुणात्मविद्या→सिद्धविद्या →ज्ञानविद्या →ज्ञानयोगाधिष्ठात्री →ज्ञानबुद्धियोगाधिष्ठात्री वा
३–सगुणात्मविद्या→राजविद्या →ऐश्वर्य्यविद्या →भक्तियोगाधिष्ठात्री →ऐश्वर्य्यबुद्धियोगाधिष्ठात्री वा
४-कर्म्मात्मविद्या-→आर्षविद्या →धर्म्मविद्या →कर्म्मयोगाधिष्ठात्री →धर्म्मबुद्धियोगाधिष्ठात्री वा



च–प्राकृतिकशोकोत्थानमीमांसा–

उक्त चारों विद्याओं में २४ उपनिषदों तथा १६० उपदेशों का समन्वय हुआ है–यह बतलाया जा चुका है। उपदेशों का स्वरूप अतिशयविस्तारसापेक्ष समझकर छोडा जाता है। यहाँ संक्षेप से केवल उपनिषदों का दिग्दर्शन कराकर यह शिक्षा-परिच्छेद समाप्त किया जाता है। शोकसमुत्थान मानव

का प्रकृतिसिद्ध धर्म्म है । स्वाराट्-विराट्-सम्राट्-राजा-विद्वान्-तपस्वी-धनिक-निर्धन-मूर्ख-दुष्ट-बाल-स्त्री आदि जितने भी मानव प्राणी हैं–सब का जन्म त्रिगुणभावात्मिका, अतएव द्वन्द्वात्मिका योगमाया के क्रोड़ में ही हुआ है । द्वन्द्वगर्भ में उत्पन्न, मातृ-पितृद्वन्द्व से कृतशरीरी, अशनाया–पिपासाद्वन्द्व के द्वारा जीवन-यापन–इस प्रकार अथ से इतिपर्य्यन्त मानवप्राणी द्वन्द्वग्रस्त बना हुआ है । द्वन्द्व एक प्रकार का वह संघर्षवल है, जिसमें पड़कर मानवीय मन आकुल-सा, व्याकुल-सा, अशान्त-सा बना रहता है । इस मानस अशान्ति से मानव का शारीराग्नि क्षुब्ध हो पड़ता है । यह आग्नेयक्षोभ ही इसका तापलक्षण 'सन्ताप' है, सन्ताप ही शुक्राग्निलक्षण 'शुक्' है, शुक् ही शोक है । यही शोकाग्नि अधिक धैर्य्य से द्रुत न होकर कालान्तर में उपशान्त हो जाता है एवं धैर्य्यच्युत मानवों में यह शोकाग्नि चरम सीमा पर पहुँच कर '**अग्नेराप**':-सिद्धान्त के अनुसार पानी बनकर आँखों में छलक आता है । इस प्रकार धैर्य्यशाली मानव जब मन ही मन रोया करते हैं, वहाँ धैर्य्यच्युत मानव आँसू बहाया करते हैं एवं यह शोकसन्ताप द्वन्द्वगर्भीभूत सभी मानवप्राणियों के लिए प्रकृतिसिद्ध देन है । इसी प्राकृतिक नियम के अनुसार कुरुकुल के प्राङ्गण में धनुर्द्धारी अर्जुन इसलिए रो पड़ा कि आज वह राज्यलिप्सा के मोह में पड़कर अपने उन्हीं हाथों से उन पूज्यों का बध करने जा रहा है, जो हाथ उन पूज्यों की सेवा करते नहीं अघाते थे । अभी कोई मरा नहीं है, मरने की क्या कथा, अभी तो युद्ध भी आरम्भ नहीं हुआ है । अर्जुन केवल आगामी संकट के अनुमानमात्र से कम्पित हो गया है । ऐसा शोक शोक न कहला कर शास्त्रीय परिभाषा में 'अनुशोक' कहलाया है, जिसका '**नानुशोचितुमर्हसि**' द्वारा विश्लेषण हुआ है ।

देखते हैं कि कितने एक मानव तो घटना के उपस्थित होने पर शोकग्रस्त बनते हैं एवं कितने एक मानव भावी घटना के अनुमान से ही शोकसंविग्नमानस बन जाते हैं । यह आनुमानिकघटनासापेक्ष शोक शोक न कहला कर घटनात्मक वास्तविक शोक को अनु (लक्ष्य) बनाकर उपपन्न होने के कारण ही 'अनुशोक' कहलाया है । यह अनुशोकात्मक शोक ही व्यवहार भाषा में 'मानसिक चिन्ता' कहलाई है, जो घटनादृष्ट्या गौण बनती हुई भी अनुभूतिदृष्ट्या प्रधान बनी रहती है । घटनाजनित शोक शीघ्र निवृत्त हो जाता है, किन्तु घटनानुमानजनित अनुशोक दृढमूल बन जाता है । ऐसा होगा तो हम क्या करेंगे ? यही–यह आशङ्का ही इस अनुशोक का मूल है । निश्चित है कि बुद्धि की दुर्बलता ही इस आशङ्का की जननी बनती है एवं प्राकृतिक द्वन्द्व ही इस बुद्धिदौर्बल्य का कारण बनता है, अतएव कहा जा सकता है कि शोक किंवा अनुशोक मानवप्राणी के लिए एक स्वाभाविक धर्म्म है ।

जबकि मानव सच्चिदानन्द ब्रह्म का अंश है, तो उस दशा में दुःखमूलशोक कैसे स्वाभाविक धर्म्म बना ? किस आधार पर शोक प्राकृतिक माना गया ? यह प्रश्न उपस्थित होता है । इस प्रश्न का समाधान करते हुए वैज्ञानिकों ने हमें बतलाया है कि ब्रह्म-कर्म्मधातुलक्षण सच्चिदानन्दघन अव्यय का अंशभूत जीवात्मा गुणपरिग्रहावच्छिन्न अव्यक्त अक्षरसहयोग से ६ भावों में परिणत हो जाता है । उसका ब्रह्मात्मक अर्द्ध ज्ञानपर्व भी त्रिधाविभक्त हो जाता है एवं कर्म्मपर्व भी त्रिधा विभक्त हो जाता है । सत्त्वगुणानुगत वही ज्ञान 'ज्ञान' कहलाया है, रजोगुणानुगत वही ज्ञान विज्ञान (विरुद्ध ज्ञान) कहलाया है एवं तमोगुणानुगत वही ज्ञान 'अज्ञान' (अज्ञानावृत्त ज्ञान, मोहात्मक ज्ञान) कहलाया है ।

एवमेव सत्त्व-कर्म्म 'कर्म्म' कहलाया है, रजःकर्म्म 'विकर्म्म' कहलाया है एवं तमःकर्म्म 'अकर्म्म' (निरर्थक कर्म्म) कहलाया है। जैसे को तैसा समझना ज्ञान है, यही तत्त्वज्ञान है। जैसे को विपरीत समझना विरुद्धज्ञानात्मक विज्ञान है, यही विपरीत ज्ञान है एवं कुछ न समझना अज्ञान है, यही मोह है। प्रकृति के अनुकूल कर्म्म 'कर्म्म' है, प्रकृति-विरुद्धकर्म्म 'विकर्म्म' है एवं कल्पित कर्म्म 'अकर्म्म' है। इन ६ ज्ञान-कर्म्मविवर्तों में सत्त्वानुगत ज्ञान, कर्म्म- ये दो तो सुख के हेतु माने गए हैं एवं शेष चारों ज्ञान-कर्म्म दुःख के कारण माने गए हैं। इस प्रकार इस प्राकृतिक विश्व में सुख के कारण जहाँ दो हैं, वहाँ दुःख के कारण चार हैं। फलतः सुखापेक्षया शोकमूला दुःखसामग्री का ही प्राबल्य सिद्ध हो रहा है।

एक बात यह भी है कि सुखसाधनभूत सात्त्विक ज्ञान-कर्म्म, शास्त्रीयज्ञानसापेक्ष हैं–विद्यासापेक्ष हैं। विना शास्त्रस्वाध्याय के सात्त्विक-ज्ञानकर्म्म के–तात्त्विकस्वरूप का बोध असम्भव है एवं विना इनके तत्त्वबोध के इनका अनुगमन करना असम्भव है। उधर दुःखसाधनभूत रजस्तमोमयी ज्ञान-कर्म्मचतुष्टयी स्वाभाविक है। इसके लिए किसी पाठशाला-विद्यालय में शिक्षण प्राप्त नहीं करना पड़ता। देखते हैं कि धूल-धमासा विना ही प्रयास के भव्यभवनों को मलिन बनाता रहता है। परन्तु इसे हटाने के लिए प्रयास करना पड़ता है। मलभाग स्वाभाविक है, स्वच्छता प्रयाससाध्य है, अतएव तत्त्व-ज्ञानशिक्षण से वञ्चित रहने वाले मानवों पर प्रकृतिसिद्ध चारों दुःखहेतुओं का आक्रमण स्वाभाविक बना रहता है। यही कारण है कि आनन्दघन ब्रह्म का अंश भी मानव इन चार दुःखकारणों के स्वाभाविक आक्रमण से अपने सत्त्वानुगत-सुखप्रवर्त्तक ज्ञानकर्म्म के आवृत्त हो जाने से शोकसंविग्नमानस बना रहता है।

चूंकि आनन्द आत्मा का स्वरूपधर्म्म है; अतएव मानव जन्मक्षण से आरम्भ कर मृत्यु के पूर्व-क्षणपर्य्यन्त आनन्द चाहा करता है। न केवल चाहा ही करता है–अपि तु, तत्प्राप्ति के लिए भरसक प्रयास भी करता रहता है। परन्तु देखते हैं, इच्छा रहने पर भी जीतोड़कर प्रयत्न करने पर भी इसे अभिलषित आनन्द नहीं मिलता। क्योंकि यथाजात मानव के ये सब प्रयास उन रजस्तमोऽनुगत ज्ञान कर्म्म-भावों के ही अनुगामी बने रहते हैं, जो दुःखनिवृत्ति के स्थान में अधिकाधिक दुःखप्रवृत्ति के ही कारण बनते जाते हैं। कोई भी मानव कभी भी स्वप्न में भी न तो दुःखकारणों की ही इच्छा करता, न दुःख की ही इच्छा करता, न प्रयास ही करता, परन्तु आश्चर्य्य है, दुःख इसके निमन्त्रण की प्रतीक्षा किए विना स्वतः ही सतत इस पर आक्रमण किया करते हैं। जीवनयात्री जीवात्मा के जीवनपथ में पद-पद पर भय उपस्थित होता रहता है, स्थान-स्थान पर शोक का सामना करना पड़ता है। इस प्रकार अपने आपको इतर प्राणियों की अपेक्षा श्रेष्ठतर-श्रेष्ठतम मानने वाला शक्तिदृष्ट्या अपने आपको कर्त्तु-मकर्त्तुमन्यथाकर्त्तुम्-समर्थ समझने का अभिमान रखने वाला भी यह मानव यों यावज्जीवन भय-शोकार्त्त बना रहता है। यही इसके स्वाभाविक शोकसमुत्थान का प्राकृतिक विश्लेषण है।

छ–प्राकृतिकशोकनिराकरणमीमांसा—

भगवान् श्रीकृष्ण अपने गीताशास्त्र के द्वारा इसी प्राकृतिक शोक के निराकरण का उपाय बतलाना चाहते हैं। अर्जुन निमित्तमात्र है, उद्देश्य सम्पूर्ण मानव प्रजा है। अर्जुन के बहाने भगवान् की

दृष्टि में लोककल्याण ही उद्देश्य बन रहा है, अतएव आप उसी व्यापक दृष्टि को लक्ष्य बनाकर पहले स्वाभाविक शोक-समुत्थान का विश्लेषण करते हैं, अनन्तर आत्मविद्याचतुष्टयी के स्वरूप-प्रदर्शन द्वारा इस स्वाभाविक-शोक निराकरण का मार्ग दिखला रहे हैं। आर्षविज्ञान गीता की यही पहली वह 'लोक-वृत्तोपनिषत्' है, जिसमें अर्जुन के मुख से भगवान् ने स्वाभाविक शोकसमुत्थान का स्वरूप कहलवाया है। स्वाभाविक शोक-स्वरूपप्रदर्शनानन्तर भगवान् इसकी निवृत्ति का उपक्रम करते हुए कहते हैं-मानव ! क्यों इस प्रकार दुःखी बनता है। स्मरण रख, शोक आत्मधर्म्म नहीं है-अपि तु, आगन्तुक धर्म्म है। अविद्या ही इस शोक का मूलकारण है। यह चूंकि आगन्तुक है, अतएव समय पर अपने आप हट जाने वाला है। जिस प्रकार मार्ग में जाने वाले बटोही पर आकस्मिक झञ्झावात आक्रमण कर उसे क्षुब्ध बना देता है, अनन्तर स्वतः शान्त हो जाता है, एवमेव जीवनयात्री को उसके जीवनपथ में आकस्मिक शोक आक्रमण कर क्षुब्ध बना देता है, कालान्तर में वह स्वतः शान्त हो जाता है। इसकी इस क्षणि-कता-नश्वरता को तत्त्वज्ञान द्वारा समझ कर इसकी उपेक्षा कर देनी चाहिए। जब तक आत्मविद्या का उदय नहीं हो जाता, तभी तक यह क्षणिक शोक तुझे क्षुब्ध बनाता है। यदि तत्त्वज्ञान द्वारा तू ! आत्म-विद्या का साक्षात्कार कर लेगा तो, अनन्तर यह तुझे अणुमात्र भी क्षुब्ध न कर सकेगा। अपि तु, जिस प्रकार प्रबल भी झञ्झावात पर्वत की अचलता में विघ्न नहीं डाल सकता, एवमेव प्रबल भी शोकाघात स्थितप्रज्ञ बने हुए तुझे कम्पित न कर सकेगा, अतएव यदि तुझे सदा के लिए इस शोक से त्राण पाना है तो तुझे स्थितप्रज्ञ बनना चाहिए-इस स्थितप्रज्ञता के लिए बुद्धि स्थिर करनी चाहिए, बुद्धिस्थैर्य्य के लिए ज्ञानकर्म्मोभयलक्षणा समता प्राप्त करनी चाहिए, समतासिद्धि के लिए समत्वप्रवर्तक चतुर्विध बुद्धियोग में से किसी एक बुद्धियोग का अनुगमन करना चाहिए एवं इस बुद्धियोगस्वरूपपरिचय के लिए तुझे आत्मविद्या का स्वरूप पहचानना चाहिए। बस, प्राकृतिकशोकस्वरूप-विश्लेषण एवं विद्यास्वरूपप्रदर्शन द्वारा शोकनिवृत्युपायप्रदर्शन, सम्पूर्ण आर्षगीताशास्त्र के ये दो ही मुख्य प्रतिपाद्य विषय हैं। मनुष्य क्यों दुःखी रहता है ? एवं कैसे मनुष्य इस दुःख से छुटकारा पा सकता है ? गीता ने इन दो ही प्रश्नों का समाधान किया है। जिस राष्ट्र के पास ऐसा शास्त्र सुरक्षित रहे, जो राष्ट्र रात-दिन ऐसे शास्त्र का पारायण करता रहे और फिर वह दुःखी-परतन्त्र-कामकामी-अशान्त-निर्बल बना रहे, सचमुच यह एक महान् आश्चर्य्य है। और इस आश्चर्य्य का एकमात्र यही समाधान है कि वस्तुगत्या राष्ट्र के पास गीतासम्पत्ति रही ही नहीं है।

ब-मानव की स्वाभाविक क्लीबता—

त्रिगुणात्मिका योगमाया के प्रबल आक्रमण से अपने ब्रह्म-कर्म्मधातुओं को समता में रखने में असमर्थ बनता हुआ मानव पदे-पदे विचलित होता रहता है। स्व-स्थिति से विचलित हो जाना ही मानव की क्लीबता है। हृदयबल की दुर्बलता ही इसे जरा-जरा सी घटनाओं से विचलित करती रहती है। अविद्यावरण ही इस हृदयदौर्बल्य का कारण है। कार्य्यकारणरहस्यज्ञानभावात्मिका अविद्या ही इसकी मुख्य निर्बलता है। देखते हैं कि रहस्यज्ञानशून्य एक बालक इसी हृदयदौर्बल्य के कारण विना भी शोक-कारणों के रो पड़ता है, घबरा उठता है। 'क्या होगा ? क्या करूँ ? इस रहस्य से

अपरिचित बालक यों दिन में अनेक बार रो पड़ता है । जो मानव इस कार्य्यकारणज्ञान से अपरिचित रहता है–उसकी भी ठीक यही दशा रहती है । आर्षगीताशास्त्र का उपक्रम करते हुए भगवान् ने सर्वप्रथम इस दुर्बलता के त्याग का ही आदेश देते हुए मानव का उद्बोधन कराया है–जिसका तात्पर्य्य यही है कि हे मानव ! अश्मासोममय पार्थिवतत्त्व से तेरी भूतात्मसंस्था का स्वरूप निर्म्माण हुआ है, अतएव तुझे यह विश्वास करना चाहिए कि तू पार्थिव है, धरित्री का अंश बनता हुआ अविचाली है । अपने इस कारण की दृढता को समझता हुआ तू यह अनुभव कर कि मैं पार्थिव हूँ, दृढ हूँ, अतएव संसार की कोई आपत्ति मुझे विचलित नहीं कर सकती । कायरपन, हृदयदौर्बल्य, क्षुद्रता–ये सब अस्थिरधर्म्म अपार्थिव हैं–जिनका मुझ पार्थिव से कोई सम्बन्ध नहीं है । इसलिए—

"क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते ।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप" ।।[1]

कायरपन-हृदयदौर्बल्य-अस्थिरता-अनुशोक-शोक-भय-अशान्ति आदि दुःखकारणों का मूल है–एकमात्र अविद्या, कार्य्यकारणरहस्यज्ञानाभाव । प्रत्यक्ष है कि एक बालक शोक के किसी कारण के न रहने पर भी सहसा रो पड़ता है । सोते-सोते, बैठे-बैठे, चलते-चलते रो पड़ना बालक का स्वभाव बन जाता है । अवश्य ही इस बालशोक का कारण उसकी कार्य्यकारणरहस्यज्ञानाभावात्मिका अविद्या ही है । मातापिता जब बालक को समझा देते हैं कि अरे ! यह तो यह बात है, पागल इसमें भय की कौनसी बात है ? तो बालक इस कार्य्यकारण को जानकर चुप हो जाता है । सिद्ध है कि विद्या जहाँ शोकनिवृत्ति का मुख्य कारण है । वहाँ अविद्या शोक प्रवृत्ति का कारण है । अविद्यावरण से शोककारणों के न रहने पर भी जहाँ मानव दुःखी हो जाता है, वहाँ विद्यास्वरूपपरिचय से शोककारणों के समुपस्थित होते रहने पर भी मानव सुशान्त बना रहता है । स्वाभाविक सुशान्तिप्राप्ति के कारणभूत इसी विद्यातत्त्व के स्वरूप-विश्लेषण के लिए गीताशास्त्र प्रवृत्त हुआ है, जिस विद्यातत्त्व के अव्ययात्मानुगत चार विवर्त्तों का दिग्दर्शन ही प्रकृत परिच्छेदार्थ है । इन्हीं चार विद्या-विवर्तों के कारण गीता को चातुर्विद्य शिक्षाशास्त्र' कहा जा सकता है ।

झ–चातुर्विद्यकारणमीमांसा —

गीता-प्रतिपादिता विद्या चार भागों में क्यों विभक्ता हुई ? प्रश्न का लौकिकसमाधान है–'लोकनिष्ठात्रयी' । विचारशील भारतीय विद्वानों ने तथाकथित शोक से मानवसमाज को उन्मुक्त करने के लिए जिन तीन विभिन्न पथों का अन्वेषण किया–वही 'पथत्रयी' 'लोकनिष्ठात्रयी' नाम से प्रसिद्ध हुई । क्या वेद में इस निष्ठात्रयी का मूल नहीं ? यदि हाँ तो विशुद्ध लोकभावानुगता ऐसी निष्ठात्रयी प्रामाणिक कैसे मान ली गई ? जबकि आर्ष-प्रजा–'**शब्दप्रमाणका वयं, यदस्माकं शब्द आह, तदस्माकं प्रमा-**

---

१ गीता २।३ ।

णम्-इस वाक्य को मूल बनाती हुई बिना शब्दप्रमाण (शास्त्रप्रमाण) के किसी भी विशुद्ध लौकिक विषय को प्रमाणभूत नहीं माना करती। यदि निष्ठात्रयी का मूल वेदशास्त्र में है तो उस दशा में इसे 'शास्त्रीयनिष्ठात्रयी' न कहकर 'लौकिकनिष्ठात्रयी' नाम से क्यों व्यवहृत किया गया? इस समस्या के निराकरण के लिए हम विज्ञ पाठकों का ध्यान गीताभूमिका-बहिरङ्गपरीक्षात्मक प्रथमखण्ड के 'नाम-मीमांसा' नामक प्रकरण की ओर आकर्षित कर रहे हैं।

गीताशास्त्र का पूरा नाम है 'भगवद्गीतोपनिषत्'। नाममीमांसा-प्रकरण में इस पूरे नाम के 'भग-वत्-गीता-उपनिषत्'-इन तीनों शब्दों का तात्त्विक विश्लेषण हुआ है। 'उपनिषच्छब्दरहस्य' नामक प्रकरण में ब्रह्म-ब्राह्मणात्मक वेदशास्त्र का स्वरूप स्पष्ट करते हुए यह बतलाया गया है कि बाह्यदृष्टि-परायण दार्शनिक विद्वानों की दृष्टि में ब्राह्मणात्मक वेद के 'विधि-आरण्यक-उपनिषत्' नामक तीन अवान्तर विभाग क्रमशः 'कर्म्म-भक्ति-ज्ञान' योगों के प्रतिपादक बने हुए हैं। कर्म्मकाण्ड विधि है, उपासनाकाण्ड किंवा भक्तिकाण्ड आरण्यक है एवं ज्ञानकाण्ड उपनिषत् है। शतपथ-ऐतरेय-तैत्तिरीय-गोपथादि नाम से प्रसिद्ध विधिग्रन्थ (जो कि व्यवहार में 'ब्राह्मण' नाम से प्रसिद्ध हैं) कर्म्मकाण्ड का निरूपण कर रहे हैं। शाङ्खायनारण्यक-तैत्तिरीयारण्यक-ऐतरेयारण्यक आदि नामों से प्रसिद्ध आरण्यक ग्रन्थ भक्तिकाण्ड का प्रतिपादन कर रहे हैं एवं ईश-केन-कठ-प्रश्नादि नामों से प्रसिद्ध उपनिषद्ग्रन्थ ज्ञानकाण्ड का विश्लेषण कर रहे हैं। इसी सम्बन्ध में विद्वानों की यह भी मान्यता रही है कि त्रिगुणभावापन्न गृहमेधी (गृहस्थाश्रमानुगामी गृहस्थ) त्रिगुणभावापन्न विधिभागानुगत कर्मकाण्ड का अनुगामी है। सगुणभावापन्न-सगुणेश्वरोपासक तपस्वी (वानप्रस्थाश्रमानुगामी उपासक) सगुणविद्यानुगत भक्तिकाण्ड का अनुगामी है एवं निर्गुणत्मानुगामी ज्ञानी (संन्यासाश्रमानुगामी संन्यासी) निर्गुणविद्यानुगत ज्ञानकाण्ड का अनुगामी है। विज्ञान-स्तुति-इतिहासात्मक, अतएव केवल ज्ञातव्य विषयात्मक ब्रह्मात्मक (मन्त्रात्मक) वेदभाग (संहिताभाग) के अतिरिक्त कर्म्म-भक्ति-ज्ञानात्मक, अतएव केवल कर्त्तव्यविषयात्मक ब्राह्मणात्मक वेदभाग के विधि, आरण्यक, उपनिषत्-इन तीन अवान्तर विभागों के द्वारा क्रमशः त्रिगुणात्मक यज्ञादि कर्म्म, सगुणेश्वरोपासना, सगुणविद्योपदेशमूलक निर्गुणविद्योपदेश-इन तीन कर्त्तव्य-विषयों का स्पष्टीकरण हुआ है, जिनके अधिकारी क्रमशः गृहस्थी-वानप्रस्थी-संन्यासी हैं। फलतः तीनों निष्ठाओं का शब्दमूलकत्व सिद्ध है एवं इसी बाह्यदृष्टिकोण से तीनों को हम 'शास्त्रनिष्ठात्रयी' कह सकते हैं एवं कहा जा रहा है। इसी आधार पर गीताशास्त्र को इसी निष्ठात्रयी का प्रतिपादक माना तथा मनवाया जा रहा है, जो मान्यता इस बाह्यदृष्टि की अपेक्षा से ठीक-ठीक कही जा सकती है।

विधि-आरण्यक-उपनिषत् नामक वेदभाग के आधार पर आविष्कृत-प्रतिष्ठित भी यह निष्ठात्रयी 'शास्त्रनिष्ठा' न कहलाकर लोकनिष्ठा क्यों कहलाई? प्रश्न है, जिसके सम्बन्ध में उक्त-विश्लेषण प्रासङ्गिक माना गया। हम नहीं अपि तु, स्वयं गीताशास्त्र ही इसे 'लोकनिष्ठा' नाम से व्यवहृत कर रही है। **'लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ'**[1]-इत्यादि रूप से स्पष्ट शब्दों में योगियों की कर्म्मयोगनिष्ठा को तथा ज्ञानियोगियों की ज्ञानयोगनिष्ठा को 'लोके' द्वारा लोकप्रचलित बतलाते

१ गीता ३।३।

हुए लोकनिष्ठा मान रहे हैं । विध्यादिसम्मता निष्ठा तो कर्म्म-भक्ति-ज्ञान भेद से तीन भागों में विभक्त है । उधर गीताचार्य्य लोकनिष्ठा से योग, सांख्य नामक दो निष्ठाओं का ही ग्रहण कर रहे हैं । प्रश्न स्वाभाविक है कि क्या गीतोद्धृता यह निष्ठाद्वयी लोकसम्मता निष्ठात्रयी से भिन्न है अथवा तो लोकनिष्ठा त्रयी ही गीता में लोकनिष्ठाद्वयी मानी गई है ? उत्तर–प्रश्न ही मान्य है । लोक में जिसे निष्ठात्रयी माना गया है–वही गीता में एक कारणविशेष से निष्ठाद्वयी मान ली गई है । कैसे ? सुनिए !

तत्त्वतः कर्म्म-भक्ति-ज्ञान–तीनों का स्वरूप परस्पर विभिन्न हैं । विद्वानों का कहना है कि इसी विभेद के आधार पर विधि, आरण्यक, उपनिषत्–इन तीन विभिन्न शास्त्रों का आविर्भाव हुआ है, अतः सूक्ष्मदृष्टया तीन ही निष्ठाएँ मानी जानी चाहिएँ । कर्म्मयोग में कर्म्म का प्राधान्य है, ज्ञानयोग में ज्ञान का प्राधान्य है । मध्यस्थ भक्तियोग में पूर्वस्थ कर्म्म का, उत्तरस्थ ज्ञान का, दोनों का भाग समाविष्ट है, अतएव कर्म्मयोगसमुच्चित-ज्ञानयोगात्मक मध्यस्थ इस योग को 'भक्तियोग' कहना अन्वर्थ बन रहा है । भक्तियोग में कर्म्म-ज्ञान के अतिरिक्त तत्त्वान्तर का अभाव है, अतएव इसका दोनों में से किसी भी एक योग में अन्तर्भाव किया जा सकता है । भक्तियोगानुगत कर्म्म आत्मविकासोपयिक है, अतएव इसका आत्मविद्यानुगत ज्ञानयोग में ही अन्तर्भाव करना समीचीन बनता है । इस प्रकार आत्मोपयिक भक्तियोग के ज्ञानयोग में अन्तर्भाव हो जाने से कर्म्म-ज्ञान, ये दो ही योग शेष रह जाते हैं । स्वयं विद्वानों ने भी इसी मान्यता का समर्थन किया है । भक्तिप्रतिपादक मध्यस्थ आरण्यकभाग का कर्म्मप्रतिपादक पूर्वस्थ विधिभाग में अन्तर्भाव न मानते हुए ज्ञानप्रतिपादक उत्तरस्थ उपनिषत्भाग में ही अन्तर्भाव माना जा रहा है–जैसा कि–**बृहदारण्यकोपनिषत्**–इत्यादि प्रचलित व्यवहार से प्रमाणित है । इसी दृष्टिकोण के आधार पर भगवान् ने भी मध्यस्थ भक्तियोग का सांख्यनिष्ठा (ज्ञानयोग) में अन्तर्भाव करते हुए निष्ठात्रयी के स्थान में निष्ठाद्वयी का ही ग्रहण पर्य्याप्त मान लिया है ।

उक्त मीमांसा से प्रकृत में हमें यह बतलाना था कि निष्ठात्रयी की आपातरमणीयता का मूल कारण बना वेद का वह ब्राह्मणभाग, जिसके विधि-आरण्यक-उपनिषत् नामक तीन विभाग माने जा रहे हैं । इसी एकमात्र आधार पर सर्वसाधारण ने इस निष्ठात्रयी को शास्त्रीय प्रामाणिक बुद्धि से ग्रहण किया । परन्तु वस्तुतः इस प्रमाण के प्रमाणाभास होने से इसे 'शास्त्रनिष्ठा' नाम का अधिकार न मिल सका, जैसा कि पाठक आगे जाकर देखेंगे । विधि-आरण्यक-उपनिषत् के आधार पर इन नामों के वैज्ञानिक समन्वय से अपरिचित रहने वाले विद्वानों के द्वारा लोकनिष्ठात्रयी का जन्म हो पड़ा और इसी आधार पर लोकसंग्रहभावनादृष्टया गीताशास्त्र की वैज्ञानिकी बुद्धियोगनिष्ठा को चार भागों में विभक्त हो जाना पड़ा, जैसा कि अनुपद में ही स्पष्ट किया जाने वाला है ।

वेद के विधि-आरण्यक-उपनिषत् भागों से क्रमशः सम्बद्ध प्राचीनाभिमत कर्म्म-भक्ति-ज्ञानयोगों का क्रमशः **कर्म्मयोगपरीक्षा, भक्तियोगपरीक्षा, ज्ञानयोगपरीक्षा** नामक तीन भूमिकाखण्डों में विस्तार से विश्लेषण किया जा चुका है । तीनों के विस्तृत स्वरूप जिज्ञासुओं को उन्हीं तीनों भूमिका खण्डों का अवलोकन करना चाहिए । यहाँ प्रकरणसङ्गति के लिए दो शब्दों में इन तीनों का दिग्दर्शन करा दिया जाता है ।

ञ–प्राचीनाभिमत कर्म्मयोग (योगनिष्ठा)—

"देखते हैं–स्थावर-जङ्गमात्मक विश्व का सञ्चालन उसकी स्वरूपरक्षा, पुष्टि, तुष्टि सब कुछ कर्म्म पर ही निर्भर है। सूर्य्य-चन्द्रमा-ग्रह-नक्षत्र-पर्जन्य-मरुत् आदि के कर्म्मों से ही विश्व उत्पन्न हुआ है, इन्हीं के कर्म्मों से विश्व की स्वरूपरक्षा हो रही है। व्यक्ति-कुटुम्ब-जाति-समाज-राष्ट्रपरम्परा से विश्व का पालन-स्वरूपसंरक्षण भी कर्म्म से ही देखा जाता है। जब तक कर्म्म है, तभी तक विश्व एवं विश्वगर्भ में प्रविष्ट प्रजा की स्वरूपरक्षा है। इस प्रकार लोकदृष्ट्या कर्म्म एक आवश्यक उपादेयतत्त्व बन रहा है। बिना कर्म्म के ऐहलौकिक किसी भी विषय की सिद्धि सम्भव नहीं है। आत्मपक्षपाती कर्म्म को तमोगुणप्रधान मानते हुए अपने ये उद्गार प्रकट करते हैं कि कर्म्म से आत्मज्योति आवृत हो जाती है, आत्मा बद्ध हो जाता है, फलस्वरूप कर्म्म से आत्मा की स्वाभाविक शान्ति का उच्छेद हो जाता है। कर्म्मपक्षपाती कहता है, भूलते हो ! कर्म्म का परित्याग असम्भव है। फिर जन्मान्तर से आत्मा पर सञ्चित सांस्कारिक कर्म्म की निवृत्ति भी तो कर्म्म के विना असम्भव है। कर्म्म कभी अकल्याण का कारण नहीं बनता। कर्म्म को यथाविधि न करने से ही अकल्याण होता है। प्रकृति के अनुसार किया हुआ शास्त्रीय कर्म्म एवं लौकिक सत्कर्म्म ऐहिक–आमुष्मिक, उभयलोक कल्याणकर है, जिस कल्याणकर प्राकृत कर्म्म का विधिभाग में निरूपण हुआ है। शास्त्रनिष्ठ आर्षप्रजा का कर्त्तव्य है कि वह वेदोक्त स्वधर्म्मलक्षण-वर्णधर्म्मानुगत कर्त्तव्यकर्म्म का यावज्जीवन अनुगमन करती रहे। यही इसका परम पुरुषार्थ है। इस कर्म्मनिष्ठा से आर्षमानव उभयलोक सुख का पात्र बन जाएगा।" आधिभौतिक-साधन, आधिभौतिक ही साध्य, एवंविध भौतिक कर्म्मयोग ही लोकानुगता कर्म्मयोगनिष्ठा कहलाई है, जिसमें व्यक्तिस्वार्थ का प्राधान्य है।

ट–प्राचीनाभिमत-भक्तियोग (उभयनिष्ठा)—

"आधिभौतिक कर्म्मों के द्वारा सांसारिक स्थिति की रक्षा सर्वात्मना हो जाती है–यह सत्य है। यह भी ठीक है कि ज्योतिष्टोम यज्ञादिलक्षण वैदिक काम्यकर्म्मों से भूतात्मा नियत समय तक के लिए पारलौकिक स्वर्गसुख का भी भोक्ता बन जाता है। इस प्रकार साध्य-साधनोभयथा भौतिक बने हुए कर्म्मयोग से भौतिक शरीर का तथा भौतिक आत्मा (भूतात्मा) का, दोनों का कल्याण हो जाता है और इस दृष्टि से इस भूतप्रधान कर्म्मयोग की उपादेयता से विमुख नहीं हुआ जा सकता। यह सब कुछ होने पर भी मानना पड़ेगा कि इस कर्म्मयोग में उस शाश्वत-आत्मशान्ति का नितान्त अभाव ही रहता, जो विना आध्यात्मिकेश्वरलक्षण सगुणब्रह्म नामक प्रत्यगात्मा के अनुग्रह के विना असम्भव है। प्रत्यगात्मा ज्ञानप्रधान है, इसके परिज्ञान से ही आत्मशान्ति अमृततत्वप्राप्ति सम्भव है, जैसा कि–**'तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः'–'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय'**–इत्यादि श्रौतप्रमाणों से प्रमाणित है। आवश्यक है कि भौतिक कर्म्मों का समर्पण प्रत्यगात्मा के प्रति कर दिया जाए। साधन आधिभौतिक ही रहें, परन्तु साध्य आधिदैविक बनाया जाए। अपने साधनभूत प्रत्येक आधिभौतिक कर्म्म का आधार साध्यभूत आधिदैविक ज्ञानात्मा (सगुणब्रह्मलक्षण प्रत्यगात्मा)

बनाया जाए । ईश्वरार्पणबुद्धचा कर्म्म किया जाए । यही उभयात्मकयोग साधनभूत भौतिक कर्म्मभाग से, साध्यभूत दैविक ज्ञानभाग से उभयात्मक बनता हुआ मानव का परमपुरुषार्थ साधक बन जाएगा एवं यही मानवजीवन की कृतकृत्यता मानी जाएगी ।"

ठ–प्राचीनाभिमत ज्ञानयोग (सांख्यनिष्ठा)—

"भक्तिवादियों ने ईश्वरार्पण को इसलिए आवश्यक माना कि बिना आत्मावबोध के शान्ति प्राप्त करना असम्भव है । यहीं हमें (ज्ञानवादी को) कुछ कहना है । केवल कर्म्म से शान्ति क्यों नहीं मिलती ? प्रश्न है, जिसका उत्तर है कर्म्मानुगत त्रिगुणभाव । जब तक कर्म्म है, तब तक त्रैगुण्य है एवं जब तक त्रैगुण्य है, तब तक गुणानुगता अशान्ति दुर्निवार है । भक्तिमार्ग में शान्ति इसलिए मिल जाती है कि सगुण ब्रह्मानुग्रह द्वारा भूतात्मा निर्गुणब्रह्म की प्रतिच्छाया से युक्त हो जाता है । इसी से यह भी सिद्ध है कि सगुणब्रह्मोपासनात्मक भक्तिमार्ग में भी उस विशुद्ध शान्ति का अभाव है, जिसका एकमात्र अधिष्ठान गुणातीत निर्गुणब्रह्म माना गया है । निर्गुणब्रह्मावाप्ति गुणात्मक कर्म्ममार्ग से सर्वथा विभिन्न तत्त्व है, अतएव शान्तिसाधक निर्गुणात्मबोध के लिए गुणात्मक कर्म्ममात्र का परित्याग आवश्यक बन जाता है । साधन, साध्य दोनों जब तक आधिदैविक नहीं बना लिए जाते, तब तक परित्राण असम्भव है । कर्म्मात्यन्तविमोकलक्षण ऐसा संन्यास ही जीवात्मा का वास्तविक परम पुरुषार्थ है । यही संख्यातः सिद्धा-सांख्यनिष्ठा है, जिसे ज्ञानत्वेन ज्ञानयोगनिष्ठा भी कहा जा सकता है ।"

ड–प्राचीनाभिमत योगत्रयी का सारासारविमर्श—

प्राचीनाभिमत उक्त तीनों निष्ठाओं से हमें इस तथ्य पर पहुँचना पड़ा कि तीनों निष्ठाएँ परस्पर सर्वथा विभिन्न दृष्टिकोण रख रही हैं । तीनों एक प्रकार से पारस्परिक समन्वय से विदूर हैं । यही नहीं अपितु, तीनों निष्ठाओं में 'अभिनिवेश' नाम की सुप्रसिद्ध उस अविद्याबुद्धि का साम्राज्य है, जो सत्त्व-रज से नहीं अपि तु, तमोगुण से आक्रान्त मानी गई है । कर्म्मयोग निष्ठात्मिका वेदनिष्ठा तो **'त्रैगुण्यविषया वेदाः'** के अनुसार गुणात्मिका है ही । भक्तियोगनिष्ठा भी सगुणब्रह्मोपासना-परा बनती हुई गुणात्मिका ही है । फिर इस भक्तिमार्ग में लौकिक कामना न सही, ईश्वरप्राप्तिकामना अवश्य है । कामनामात्र–**'काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः'**–के अनुसार रजोगुण से समुद्भूत होने के कारण रजोगुणात्मिका है । निर्गुणब्रह्मध्यानात्मक ज्ञानयोग में–मान लेते हैं तमोगुण-रजोगुण का अभाव है परन्तु सत्त्वगुण का यहाँ भी प्रभुत्व है । वैसे पूर्वदृष्टि के अनुसार अभिनिवेश लक्षण तमोगुण का तीनों निष्ठाओं में समावेश हो रहा है । फलतः प्राचीनाभिमत काम्यकर्म्मयोग, काम्यभक्तियोग, कर्म्मत्यागलक्षणज्ञानयोग–तीनों में से एक भी निष्ठा गुणसम्पर्क से वञ्चित नहीं है, अतएव तीनों वेदशास्त्रमूलक बनती हुई भी शास्त्रनिष्ठा से बहिष्कृत हैं, अतएव इन्हें लोकनिष्ठा कहना ही अन्वर्थ बनता है ।

गुणभाव के अतिरिक्त तीनों निष्ठाएँ विशुद्ध वैय्यक्तिक स्वार्थमूला बनती हुई लोकसंग्रह से भी वञ्चित है, जो लोकसंग्रह गीताचार्य्य की दृष्टि में आवश्यक बन रहा है । काम्यकर्म्मयोगी केवल अपने

ऐहिक-आमुष्मिक भोग के लिए कर्म्ममार्ग में प्रवृत्त होता है। काम्यभक्तियोगी केवल अपनी आत्मशान्ति के लिए देवतोपासन में प्रवृत्त होता है एवं ज्ञानयोगी केवल अपनी मुक्ति की चिन्ता में व्यस्त है। इस प्रकार तीनों निष्ठाएँ केवल स्वार्थमूला बनती हुई–'**भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्**'–के अनुसार लोकसंग्रह-लोककल्याण से वञ्चित रहती हुई पापनिष्ठाएँ सिद्ध हो रही हैं। तीनों निष्ठाओं के पक्षपाती अपनी-अपनी निष्ठा को इतर निष्ठाद्वयी की तुलना में श्रेष्ठ मानते हुए राष्ट्रीय संगठन के उच्छेदक बन रहे हैं। इस प्रकार योगक्षेमपरायण यथाजात मानवों की भौतिक विश्वलक्षण व्यक्त क्षरात्मा से सम्बद्ध स्वार्थसाधनलक्षणा कर्म्मनिष्ठा, योगक्षेमपूर्वक आत्मकल्याणपरायण मानवों की विभिन्न देवतोपासनालक्षणक्षरात्मा से सम्बद्ध स्वार्थसाधनलक्षणा भक्तिनिष्ठा एवं विशुद्ध आत्मकल्याणपरायण मानवों की अव्यक्त अक्षरात्मा से सम्बद्ध स्वार्थसाधनलक्षणा ज्ञाननिष्ठा तीनों ही तत्त्वतः शोकात्यन्त निवृत्ति के स्थान में शोकात्यन्तप्रवृत्ति का ही कारण सिद्ध हो रही हैं। कारण, तीनों निष्ठाएँ विद्याबुद्धिलक्षण बुद्धियोग से वञ्चित रहती हुई उस अव्ययात्मा के अनुग्रह से सर्वथा असंस्पृष्ट हैं, जिस अव्ययात्मा के सम्बन्ध में–**ज्ञात्वा मां अव्ययात्मानं शान्तिमृच्छति**–यह सिद्धान्त स्थापित हुआ है। विद्या-बुद्धिलक्षणा विद्या ही शोकसन्तापनिवृत्ति का अन्यतम कारण है। तीनों लोकनिष्ठाएँ इस विद्याविभूति से वञ्चित हैं। एकमात्र इसी आधार पर प्राचीनाभिमता इस निष्ठात्रयी की गीताशास्त्र में सर्वथा उपेक्षा हुई है एवं इनके स्थान में विद्यायुक्ता योगचतुष्टयी का समर्थन हुआ है, जिसका-स्वरूप विश्लेषण ही प्रकृत परिच्छेदार्थ है।

क्या भगवान् ने प्राचीनाभिमत कर्म्म-भक्ति-ज्ञान तीनों लोकनिष्ठाओं का आमूलचूड़ खण्डन कर सर्वथा अपूर्व-अश्रुतपूर्व बुद्धियोग चतुष्टयी की स्थापना की ? नहीं। अपि तु, लोकसंग्राहक भगवान् ने अपने लक्षीभूत बुद्धियोग के साथ-साथ लोकप्रचलित तीनों लोकनिष्ठाओं का भी संग्रह कर लिया। तीन लोकनिष्ठाएँ, चौथी स्वयं भगवन्निष्ठा इस प्रकार गीताशास्त्र निष्ठाचतुष्टयी का प्रतिपादक बन गया। यदि लोक में निष्ठात्रयी प्रचलित न होती, तो गीता अपने स्वरूप से केवल एकनिष्ठा की ही प्रतिपादिका मानी जाती। इसी आधार पर हमने पूर्व में कहा है कि लोकनिष्ठात्रयी के कारण ही गीता-प्रतिपादिता विद्या चार भागों में विभक्त हुई।[1]

क्या लोकसंग्राहक भगवान् ने उसी रूप से तीनों लोकनिष्ठाओं का स्वशास्त्र में संग्रह कर लिया ? नहीं। अपि तु, तीनों का संग्रह एक अपूर्व संशोधन के साथ हुआ। सर्वारम्भ में जिस देवयुग में विवस्वान् के प्रति अन्यशरीरावच्छिन्न जिस अव्यय कृष्ण के द्वारा जिस गीता का सर्वप्रथम उपदेश हुआ था, वह गीताशास्त्र विशुद्ध अव्ययविद्यानुगत (सर्वाव्ययानुगत) वैराग्यबुद्धियोग शास्त्र था। दूसरे शब्दों में मूलभूत गीताशास्त्र में प्राचीनाभिमत निष्ठात्रयी से सम्बन्ध रखने वाले संघर्ष का अभाव था, जैसा कि वर्तमान गीताशास्त्र के–'**एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः**'–इस वचन से प्रतिध्वनित है। अर्जुन के प्रति वासुदेवशरीर से गीता का, किंवा सर्वाव्ययविद्यानुगत वैराग्यबुद्धियोग का उपदेश करते

१ द्रष्टव्य पृ० १२७ 'चातुर्विद्यकारणमीमांसा' प्रकरण।

हुए भगवान् ने बतलाया कि जिस वैराग्यबुद्धियोग का सर्वप्रथम मैंने विवस्वान् को उपदेश दिया था, विवस्वान् से जो उपदेश वैवस्वत मनु के प्रति, मनु के द्वारा अयोध्याधिपति राजर्षि इक्ष्वाकु के प्रति, इस प्रकार परम्परया राजर्षिवंश में विशेषरूप से प्रचलित रहा था, वही उपदेश कालातिक्रम से आगे जाकर विलुप्त हो गया। यही नहीं अपि तु, हिरण्यगर्भ कपिलादि द्वारा सर्वप्रथम उपदिष्ट लोकनिष्ठा-त्रयी ने उस वैराग्यबुद्धियोग का आसन छीन लिया। निष्ठात्रयी के संघर्ष में पड़कर गीता का विद्या-नुगत योग विलुप्त हो गया। आज उसी लुप्तयोग का मैं तेरे प्रति पुनः उपदेश कर रहा हूँ–'**स एव मया ते ऽद्य**। स्पष्ट है कि द्वापरान्त एवं कलि के आरम्भ में अर्जुन के प्रति उपदिष्ट गीताशास्त्र को अपने लक्षीभूत विलुप्त सर्वाव्ययविद्यानुगत वैराग्यबुद्धियोग के उद्धार के साथ-साथ तत्समय में लोक में प्रच-लित प्राचीनाभिमत लोकनिष्ठात्रयी का भी लोकसंग्रहदृष्टि से संशोधन के साथ इस पुनः संस्कृत गीता-शास्त्र में संग्रह करना पड़ा। स्वमत निरूपण के साथ-साथ परमतानुगता इस निष्ठात्रयी का भी समन्वय अपेक्षित हुआ। फलस्वरूप इस प्रतिसंस्कृत गीताशास्त्र में निष्ठाचतुष्टयी का प्रतिपादन सामायिक बन गया। और यों अर्जुन के प्रति उपदिष्ट गीताशास्त्र विवस्वान् के प्रति उपदिष्ट गीता-शास्त्र की अपेक्षा चातुर्विद्यानुगत चातुर्योगशास्त्र बन गया। इसी आधार पर हमें कहना एवं मानना पड़ा कि प्राचीनाभिमता निष्ठात्रयी के सम्बन्ध से ही गीताप्रतिपादिता विद्यायोगविभूति चार भागों में विभक्त हुई, जिसका निम्नलिखित शब्दों में दिग्दर्शन कराया जा सकता है—

ढ–लोकनिष्ठात्रयी का संशोधन–

लोकसम्मता निष्ठात्रयी से सम्बन्ध रखने वाला संशोधन केवल विद्याबुद्धि से सम्बद्ध है। बुद्धि से वियुक्त यही निष्ठात्रयी जहाँ अनुपादेय है, वहाँ बुद्धियुक्ता यही निष्ठात्रयी उपादेया बन जाती है। प्रत्येक कर्म्म में इन्द्रियों का सहयोग अपेक्षित है। इन्द्रियव्यापार मनःसहयोग पर निर्भर है। मनोव्यापार बुद्धिसहयोग की अनिवार्य्यरूप से अपेक्षा रखता है। ऐसी दशा में मान लेना पड़ेगा कि प्राचीनाभिमता लोकनिष्ठात्रयी भी बुद्धि से अवश्य युक्त है। निष्ठात्रयी ही क्या, सामान्य कर्म्म भी विना बुद्धि के योग के सम्भव नहीं। और इस दिशा में योगमात्र बुद्धिप्रेरणा से युक्त रहते हुए बुद्धियोग ही माने जाएँगें। यही क्यों, हिंसा-स्तेय आदि निन्द्य कर्म्मों में भी बुद्धियोग आवश्यकरूप से अपेक्षित है। ऐसी स्थिति में किसी भी सदसत् योग को बुद्धियोगमर्य्यादा से बहिष्कृत नहीं किया जा सकता। प्रेक्षापूर्वकारित्व-लक्षण बुद्धि का व्यापार जब योगमात्र में अपेक्षित है तो लोकनिष्ठात्रयी को भी बुद्धियोगसीमा से कैसे बाहर माना जा सकता है? प्रश्न स्वाभाविक है कि जब कि प्रेक्षापूर्वकारित्वेन लोकनिष्ठात्रयी बुद्धि के व्यापार से युक्त है, तो इसे बुद्धियोग से किस आधार पर वञ्चित माना गया?

प्रश्नसमाधि 'विद्या-अविद्या' शब्दों पर निर्भर है। मानते हैं, मानना पड़ता है कि कोई भी कर्म्म विना बुद्धिप्रेरणा के सम्भव नहीं। यह मान लेने पर भी विद्या-अविद्या के सम्बन्ध तारतम्य से बुद्धि के दो विवर्त बन जाते हैं। विद्यानुगता बुद्धि विद्याबुद्धि कहलाई है एवं अविद्यानुगता बुद्धि अविद्याबुद्धि कहलाई है। दोनों में पर्य्याप्त प्रतिद्वन्द्विता है। अविद्यातत्व बुद्धि का आगन्तुक धर्म्म है, विद्यातत्त्व बुद्धि

का स्वरूपधर्म्म है । अविद्या के आगमन से बुद्धि का विद्याभाग अभिभूत हो जाता है । बुद्धि अविद्यावरण से आवृत होती हुई अविद्यामयी बन जाती है । अविद्या के निराकरण से बुद्धि का विद्याभाग मेघापाये सूर्य्यवत् विकसित हो जाता है, बुद्धि अपने विद्याभाग से अनुगृहीत बनती हुई विद्याबुद्धि बन जाती है । 'अविद्या' शब्द सन्देहास्पद है । सामान्यतः विद्या का अभाव अविद्या माना जा रहा है । अभाव कोई वस्तुतत्त्व नहीं है । ऐसी स्थिति में 'अविद्या के आवरण से आवृत बुद्धि अविद्याबुद्धि है'– इस वाक्य का कुछ भी अर्थ नहीं रह जाता । जब अविद्या केवल विद्या का अभाव है, अभाव जब वस्तुतत्त्व (सत्तासिद्ध पदार्थ) नहीं है, तो इस 'कुछ नहीं' के द्वारा बुद्धि का आवरण सम्भव ही कैसे बन सकता है ? इस विप्रतिपत्ति का निराकरण करते हुए विद्वानों ने हमें बतलाया कि अविद्या का 'नञ्' शब्द अभावार्थक नहीं, अपि तु, अल्पार्थक है । अल्पाविद्या ही अविद्या है, न कि विद्या का अभाव अविद्या है । इस अल्पता का अनेक प्रकार से समन्वय किया जा सकता है ।

सामान्यरूप से जान लेना, किन्तु विशेषरूप से न जानना भी अविद्या है । कुछ जान लेना, कुछ न जानना भी अविद्या है । अमुक व्यक्ति आ रहा है, यह जानते हैं । किन्तु आकर वह क्या करेगा, कहेगा, यह नहीं जानते, यह भी अविद्या है । तात्पर्य्य अज्ञानसहकृत ज्ञान ही अविद्या है । किंवा ज्ञानाभावसमुच्चित ज्ञान ही अविद्या है । जैसे को तैसा न समझकर विपरीत समझ लेना ही अज्ञान है–यही अविद्या है । भ्रमात्मक ज्ञान, संशयज्ञान ही अविद्या है । इस प्रकार अविद्या का अनेक प्रकार से समन्वय सम्भव है । विद्यात्मक ज्ञान जहाँ **'इदमित्थमेद नान्यथा'** इत्याकारक निश्चयात्मक प्रमाज्ञान का जनक है, वहाँ अविद्यात्मक ज्ञान (अज्ञानावृत ज्ञान) **'इदं वा स्यात् इदं वा'** इत्याकारक अनिश्चयात्मक बहुशाख संशयज्ञान किंवा भ्रमज्ञान का जनक बन जाता है । अज्ञान, अविद्या शब्द ज्ञानाभाव-विद्याभाव के वाचक नहीं है, अपि तु, अज्ञानावृत ज्ञान (**अर्द्धज्ञान**) ही अज्ञान है, अविद्यावृता विद्या ही अविद्या है । यदि अज्ञान-अविद्या शब्दों के 'नञ्' का केवल अभाव ही अर्थ होता तो-**'अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः'**[1] इत्यादि भगवद्वचन का समन्वय असम्भव था । क्योंकि अभावलक्षण अज्ञान कभी आवरक नहीं बन सकता । अभावात्मक अपदार्थ कैसे आवरक बन सकता है ?

प्रकृतमनुसरामः । अविद्यायुक्ता बुद्धि का अर्थ हुआ अविद्यासहकृताविद्या से युक्त बुद्धि । इस दृष्टिकोण के आधार पर विषय का यों समन्वय किया जा सकता है कि अविद्यासंस्कारों से युक्ता बुद्धि अपना स्वाभाविक विद्याविकास छोडकर मन के वश हो जाती है । अविद्यावृता विद्यालक्षणा अविद्या मोह-अस्मिता-आसक्ति-अभिनिवेश भेद से चार प्रकार की मानी गई है । मोह अज्ञान है, अस्मिता अनैश्वर्य्य है, आसक्ति रागद्वेषात्मिका है, अभिनिवेश अधर्म्म है । बुद्धि को अपना क्रीतदास बनाए रखने वाला सौम्यमन स्वभावतः इन्द्रियदास बना रहता है, इन्द्रियदास मन विषयदास बन जाता है । विषयासक्त मन विषयसंस्कारों से अधिकाधिक आवृत होता हुआ बुद्धि के स्वाभाविक विद्याविकास को अधिकाधिक आवृत करता जाता है । परिणाम इस विषयलिप्सा का यह होता है कि अविद्या-ग्रस्ता ऐसी बुद्धि

---

१ गीता ५।१५।

मन के प्रति सर्वात्मना आत्मसमर्पण करती हुई अपना स्वातन्त्र्य खो बैठती है। स्वतन्त्रता-वञ्चिता बुद्धि को बुद्धि कहना व्यर्थ है। इसी आधार पर अविद्याबुद्धियुक्त योगमात्र को बुद्धिवञ्चित कह देने में कोई आपत्ति नहीं। चूँकि प्राचीनाभिमता लोकनिष्ठात्रयी में मनोऽनुगता स्वार्थलिप्सा का समावेश है, अतएव उसमें मनः प्राधान्य है, अतएव बुद्धि परतन्त्र है, अतएव इस निष्ठात्रयी को बुद्धियोग (विद्या-बुद्धियोग) से वञ्चित कहना अन्वर्थ बन जाता है। यह भी स्पष्टीकरण कर लीजिए कि लोकनिष्ठात्रयी में से किस निष्ठा के साथ किस अविद्यातत्त्व का सम्बन्ध है?

स्पष्टीकरण से पहले यह जान लेना आवश्यक होगा कि मोह-अस्मिता-आसक्ति-अभिनिवेश, इन चार अविद्याभावों से युक्त एतन्नाम से ही प्रसिद्ध चतुर्विधा अविद्याबुद्धि में से आध्यात्मिक आत्मप्रपञ्च के चार पर्वों में से किसके साथ किस बुद्धि का सम्बन्ध है? इसी स्पष्टीकरण से लोकनिष्ठात्रयी का स्पष्टीकरण गतार्थ बन जाएगा। सर्वात्मना व्यापक **समब्रह्म** नाम से प्रसिद्ध **सर्वाव्ययात्मा**, प्रत्यगात्मानुगत **ईश्वराव्ययात्मा** शारीरकात्मानुगत **जीवाव्ययात्मा** प्रकृत्यनुगत (अक्षरानुगत) **परमाव्ययात्मा**–इन आध्यात्मिक चतुर्द्धाविभक्त अव्ययात्म विवर्त्तों के साथ क्रमशः वैराग्य-ऐश्वर्य्य-धर्म्म-ज्ञानात्मिका चार विद्याबुद्धियों का सम्बन्ध माना गया है। फलतः वैराग्य की प्रतिद्वन्द्विनी **आसक्तिबुद्धि** नाम की अविद्या-बुद्धि से सर्वाव्ययात्मा आवृत्त होता है। ऐश्वर्य्य की प्रतिद्वन्द्विनी **अस्मिताबुद्धि** से ईश्वराव्ययात्मा आवृत होता है। धर्म्म की प्रतिद्वन्द्विनी **अभिनिवेशबुद्धि** से जीवाव्ययात्मा आवृत होता है एवं ज्ञान की प्रतिद्वन्द्विनी **मोहबुद्धि** से परमाव्ययात्मा आवृत होता है। जैसा कि परिलेख से स्पष्ट है—

१–सर्वाव्ययात्मा	→सर्वानुगतः	→वैराग्यबुद्धयायुक्तः	→आसक्तिबुद्धिविपर्य्ययः
२–ईश्वराव्ययात्मा	→प्रत्यगात्मानुगतः	→ऐश्वर्य्यबुद्धयायुक्तः	→अस्मिताबुद्धिविपर्य्ययः
३–जीवाव्ययात्मा	→शारीरकात्मानुगतः	→धर्म्मबुद्धयायुक्तः	→अभिनिवेशबुद्धिविपर्य्ययः
४–परमाव्ययात्मा	→प्रकृत्यनुगतः	→ज्ञानबुद्धयायुक्तः	→मोहबुद्धिविपर्य्ययः



विद्याबुद्धिलक्षणा बुद्धि के योग से वञ्चित प्राचीनाभिमत अव्यक्ताक्षरात्मपरक–कर्म्मत्यागलक्षण ज्ञानयोग (सांख्यनिष्ठा) में मोहबुद्धि का साम्राज्य बना रहता है, प्राचीनाभिमत विभिन्न देवतोपासना-त्मक कर्म्मज्ञानोभयलक्षण भक्तियोग (उभयनिष्ठा) में आस्मिता का प्रभुत्व अक्षुण्ण बना रहता है एवं प्राचीनाभिमत विश्वक्षरात्मक प्रवृत्तकर्म्मलक्षण कर्म्मयोगनिष्ठा (योगनिष्ठा) में अभिनिवेश नाम की अविद्याबुद्धि सुरक्षित रहती है। इस प्रकार प्राचीनाभिमता अविद्याबुद्धि सहकृता लोकनिष्ठात्रयी में अविद्यामूलक शोक-सन्ताप बने रह जाते हैं, अतएव बुद्धियोग पक्षपाती भगवान् की दृष्टि में लोकप्रचलित तीनों ही योग तब तक सर्वथा अनुपादेय बने रह जाते हैं, जब तक कि तीनों विद्याबुद्धियों से युक्त नहीं हो जाते। यही भगवान् ने किया भी। तीनों लोकनिष्ठाओं में भगवान् ने क्रमशः ज्ञाननिष्ठा में ज्ञानबुद्धि का, भक्तिनिष्ठा में ऐश्वर्य्यबुद्धि का एवं कर्म्मनिष्ठा में धर्म्मबुद्धि का समावेश किया। इस बुद्धियोग-सम्पत् के समावेश के अतिरिक्त थोड़ा संशोधन और हुआ। कर्म्मनिष्ठा में व्यक्तिस्वार्थलिप्सासाधिका

कामना का साम्राज्य था, जो कामना त्रैगुण्यमूला थी। भगवान् ने इसमें से व्यक्तिकामना का बहिष्कार कर इस कर्म्मनिष्ठा को यज्ञार्थकामना (विश्वकल्याणकामना) से युक्त बनाकर इस कर्म्मनिष्ठा को गुणसम्पर्क से पृथक् करते हुए 'धर्म्मबुद्धियोग' नाम प्रदान किया, जो योग प्राचीनाभिमत काम्यकर्म्मयोग का ही संशोधितरूप है। भक्तिनिष्ठा में भी रजोगुणात्मिका कामना तथा स्वार्थलिप्सा का प्रभुत्व था।

इसके अतिरिक्त विभिन्न देवताओं के साध्य रहने से यह भक्तिमार्ग उस अव्यवसाय का जनक बन रहा था, जो बहुशाख अव्यवसाय व्यवसायशील आत्मस्थिरता का विच्छेदक माना गया है एवंविध भक्तिमार्ग में से कामना-स्वार्थलिप्सा का बहिष्कार किया गया। नाना देवतावाद को साध्यकोटि से हटाकर साधन बनाया गया एवं एकेश्वराव्यय को साध्य बनाया गया। एवंविध इस योग को 'ऐश्वर्य्य-बुद्धियोग' नाम प्रदान किया, जो योग प्राचीनाभिमत काम्यभक्तियोग का ही संशोधितरूप है। ज्ञान-निष्ठा में कर्म्मत्याग का प्राधान्य था, साथ ही इतरयोगवत् केवल स्वकल्याण ही इस योग का मुख्य लक्ष्य था। कर्म्मत्याग चूंकि असंभव है, अतएव इस निष्ठा में कर्म्म का समावेश किया गया, स्वार्थ-निवृत्ति के लिए परमाव्यय को साध्य बनाया गया। और ऐसे संशोधित ज्ञानयोग को 'ज्ञानबुद्धियोग' नाम प्रदान किया गया। इस प्रकार विद्याबुद्धिसमावेशानुगत कामत्याग-कर्म्मग्रहणादिलक्षण संशोधनों के द्वारा भगवान् ने महाभारतकालीन गीताशास्त्र में लोकप्रचलित तीनों निष्ठाओं का भी समावेश कर लिया। और यों सर्वाव्ययानुगत वैराग्यबुद्धियुक्त देवयुगकालीन गीताशास्त्र इस महाभारत युग में निष्ठाचतुष्टयी का प्रवर्त्तक बन गया–जैसा कि परिलेख से स्पष्ट है—

(१) देवयुगकालीनं गीताशास्त्रम्—विशुद्धबुद्धियोगशास्त्रम्

↓

(२) मध्यकालानुगतं शास्त्रम्——लोकनिष्ठात्रयी प्राचाम्

↓

१–ज्ञानयोगः
२–भक्तियोगः
३–कर्म्मयोगः

(३) महाभारतानुगतं गीताशास्त्रं—बुद्धियोगचतुष्टयी-शास्त्रम्

↓

१–वैराग्यबुद्धियोगः—भगवन्मतम्
२–ऐश्वर्य्यबुद्धियोगः—प्राचां भक्तियोगः
३–धर्म्मबुद्धियोगः——प्राचां कर्म्मयोगः
४–ज्ञानबुद्धियोगः——प्राचां ज्ञानयोगः

परिच्छेदारम्भ से अब तक यह स्पष्ट किया गया कि गीताशास्त्र स्वयं अपने मुख्य प्रतिपाद्यरूप वैराग्यविद्या के सम्बन्ध से एवं प्राचीनाभिमत संशोधित निष्ठात्रयी के समन्वय से **'चातुर्विद्यशास्त्र'** कहलाया। दूसरे शब्दों में चातुर्योग के मूलाधारभूत चार विद्याविवर्तों की शिक्षा हमें गीताशास्त्र से प्राप्त हुई, अतएव इस परिच्छेद को **'चातुर्विद्यशिक्षा'** नाम से व्यवहृत किया गया। अब इस सम्बन्ध में प्रश्न केवल यही शेष रह जाता है कि गीताप्रतिपादिता इन चार विद्याओं का क्या स्वरूप है? विशदव्याख्यासापेक्ष इस प्रश्न का समाधान स्वयं गीतामूलभाष्य से ही सम्बद्ध है। प्रस्तुत भूमिकाखण्ड में उन विद्याओं का यथानुरूप विश्लेषण कर देना अशक्य है। फिर भी प्रकरण सङ्गति के लिए दो शब्दों में इन चारों विद्याओं का दिग्दर्शन करा देना आवश्यक हो जाता है।

ण–सिद्ध, साध्यलक्षणविद्याविवर्त्त—

विद्या शब्द से गीताशास्त्र में **सिद्धविद्या, साध्यविद्या**–इन दो विद्याओं का ग्रहण किया जाएगा एवं इसी दृष्टिकोण को लक्ष्य बनाकर विद्या-शिक्षा की मीमांसा की जाएगी। नित्यसिद्ध आत्मविद्या सिद्धविद्या है एवं इस आत्मविद्यास्वरूप को विकसित करने वाली संस्कारात्मिका अनुष्ठेया बुद्धिविद्या साध्यविद्या है। आत्मा से यहाँ अव्ययात्मा परिगृहीत है। यह आध्यात्मिक अव्ययात्मा सर्वाव्यय, ईश्वराव्यय, जीवाव्य, परमाव्यय–भेद से चार भागों में विभक्त होकर अध्यात्मसंस्था में प्रतिष्ठित है। तत्त्व यही है कि अध्यात्मसंस्था में स्वायम्भुव **अव्यक्तात्मा, पारमेष्ठ्य महानात्मा, सौर विज्ञानात्मा, चान्द्र प्रज्ञानात्मा, पार्थिव प्राणात्मा, भौम भूतात्मा**–ये ६ खण्डात्मा प्रतिष्ठित हैं। इनमें से भौम भूतात्मा (शरीर) का पार्थिव प्राणात्मा (जीव) में अन्तर्भाव है। चान्द्र प्रज्ञानात्मा का सौर विज्ञानात्मा में अन्तर्भाव है। पारमेष्ठ्य महानात्मा का स्वायम्भुव अव्यक्तात्मा में अन्तर्भाव है। इस प्रकार ६ खण्डात्म-विवर्तों के इस अन्तर्भावक्रम से तीन विवर्त्त रह जाते हैं। महानात्मगर्भित अव्यक्तात्मा एक स्वतन्त्र विवर्त है, इसमें भुक्त अव्ययात्मा परमाव्ययात्मा है। प्रज्ञानात्मगर्भित विज्ञानात्मा एक स्वतन्त्र विवर्त है–इसमें भुक्त अव्ययात्मा ईश्वराव्यय है। भूतात्मगर्भित प्राणात्मा एक स्वतन्त्र विवर्त है, इसमें भुक्त अव्ययात्मा जीवाव्यय है। इस प्रकार खण्डात्मषट्क के तीन युग्मों के साथ क्रमशः परम-ईश्वर-जीवाव्ययों का सम्बन्ध है, जिसका तात्पर्य्य यही है कि परमाव्यय अक्षरप्रधान है, ईश्वराव्यय अव्ययप्रधान है, जीवाव्यय क्षरप्रधान है। इन छओं खण्डात्माओं में सर्वात्मना समरूप से व्याप्त रहने वाला चौथा अखण्ड पुरुषात्मा है, जो क्षराक्षराव्ययात्मक 'षोडशीपुरुष' नाम से प्रसिद्ध है, जिसके लिए **'अव्यक्तात् पुरुषः परः'**–यह कहा गया है। सर्वत्र समव्याप्ति के कारण ही त्रिपुरुषपुरुषात्मक यह पुरुषात्मा सर्वाव्यय कहलाया है। इसी सर्वाव्यय की अव्यय-अक्षर-क्षरपर्वतारतम्य से खण्डात्माओं में व्याप्ति हुई है। सर्वाव्यय की अव्ययकला का प्रज्ञानात्मगर्भित विज्ञानात्मा में, सर्वाव्यय की अक्षरकला का महानात्म-गर्भित अव्यक्तात्मा में एवं सर्वाव्यय की क्षरकला का भूतात्मगर्भित प्राणात्मा में समन्वय हो रहा है।

विषयस्पष्टीकरण के लिए यों समझिए कि परात्पर-अव्यय-अक्षर-क्षर मूर्ति षोडशीपुरुष के सर्व-असर्व भेद से दो विवर्त माने गए हैं। परात्पर-अव्यय-अक्षर-क्षर चारों पर्वों से समतुलित, परात्पररूपेण विकसित, अतएव अव्ययाक्षरक्षरगर्भित परात्परलक्षण षोडशीपुरुष सर्वाव्ययात्मा है, यही आध्यात्मिक

अखण्डात्मा है। इस एक सर्वरूप के अतिरिक्त तीन खण्डात्मयुग्मों के सम्बन्ध से इस सर्व के अव्यय-अक्षर-क्षर पर्वों के तारतम्य से ईश्वर-परम-जीवाव्यय नामक तीन विवर्त हो जाते हैं। परात्पर-अक्षर-क्षरगर्भित अव्ययात्मा पहला असर्वाव्यय है। इसमें प्रधानरूप से अव्यय विकसित है—यही असर्वाव्यय (अव्ययात्मक अव्यय) प्रज्ञानात्मगर्भित विज्ञानात्मा नामक खण्डात्मयुग्म का अनुग्राहक बन रहा है। परात्पर-अव्यय-क्षरगर्भित अक्षरात्मा दूसरा असर्वाव्यय है, इसमें प्रधानरूप से अक्षर विकसित है। यही असर्वाव्यय (अक्षरात्मक अव्यय) महानात्मगर्भित अव्यक्तात्मा नामक खण्डात्मयुग्म का अनुग्राहक बन रहा है। परात्पर-अव्यय-अक्षरगर्भित क्षरात्मा तीसरा असर्वाव्यय है, इसमें प्रधानरूप से क्षर विकसित है। यही असर्वाव्यय (क्षरात्मक अव्यय) भूतात्मगर्भित प्राणात्मा नामक खण्डात्मयुग्म का अनुग्राहक बन रहा है। इस प्रकार परात्पर-अव्यय-अक्षर-क्षरमूर्ति पुरुषात्मा ही इन चारों पर्वों की प्रधानता से अध्यात्मसंस्था में सर्व, ईश्वर, परम, जीवाव्यय—इन चार विवर्तभावों में परिणत हो रहा है। एक ही आत्मा चतुःसंस्थ बन रहा है, जिसमें प्रथमरूप सर्वात्मक है, आगे के तीनों रूप असर्वात्मक हैं। निम्न-लिखित परिलेखों से चारों अव्ययात्मविवर्तों का स्पष्टीकरण हो रहा है—

अखण्ड-सखण्डात्मविवर्तभावपरिलेखः—

❀ परात्पर–अव्यय–अक्षर–आत्मक्षरमूर्तिः–पुरुषात्मा–**अखण्डात्मा**–सर्वः (१)

१–स्वायम्भुवः–**अव्यक्तात्मा** (अव्यक्तम्)
२–पारमेष्ठ्यः–**महानात्मा** (महत्)
} →महानात्मगर्भितः–**अव्यक्तात्मा** (२)

३–सौरः——**विज्ञानात्मा** (बुद्धिः)
४–चान्द्रः——**प्रज्ञानात्मा** (मनः)
} →प्रज्ञानात्मगर्भितः–**विज्ञानात्मा** (३)

५–पार्थिवः——**प्राणात्मा** (सेन्द्रियो जीवः)
६–भौमः——**भूतात्मा** (शरीरम्)
} →भूतात्मगर्भितः—**प्राणात्मा** (४)

} →खण्डात्मानः असर्वाः



❀ भौतिकशरीरं आधारभूमिः, तदवच्छिन्नः प्राणात्मा जीवः पार्थिवः। ततः पराणीन्द्रियाणि। इन्द्रियेभ्यः परं मनः प्रज्ञानात्मा चान्द्रः। मनसस्तु परा बुद्धिर्विज्ञानात्मा सौरः। बुद्धेरात्मा महान् परः पारमेष्ठ्यः। महतः परमव्यक्तात्मा स्वायम्भुवः। अव्यक्तात् पुरुषः परः। पुरुषान्न परं किञ्चित्–सा काष्ठा सा परागतिः।

१–सर्वाव्ययः	**२–पराव्ययः**	**३–परमाव्ययः**	**४–अवराव्ययः**
परात्परः	अव्ययः	अक्षरः	क्षरः
महेश्वरः	ईश्वरः	जीवः	जगत्

आध्यात्मिकाव्ययविवर्तचतुष्टयीपरिलेखः—

१–अव्यय–अक्षर–आत्मक्षरगर्भितः–परात्परप्रधानः–पुरुषात्मा–सर्वाव्ययः–परात्परः पुरुषः
२–परात्पर–अक्षर–आत्मक्षरगर्भितः–अव्ययप्रधानः–पुरुषात्मा–असर्वाव्ययः–अव्ययः पुरुषः
३–परात्पर–अव्यय–आत्मक्षरगर्भितः–अक्षरप्रधानः–पुरुषात्मा–असर्वाव्ययः–अक्षरः पुरुषः

४–परात्पर–अव्यय–अक्षरगर्भितः–आत्मक्षरप्रधानः–पुरुषात्मा–असर्वाव्ययः–आत्मक्षरः पुरुषः



आध्यात्मिकखण्डात्मानुगताः-अव्ययात्मविवर्तभावाः —

१–प्राणात्म–विज्ञानात्म–अव्यक्तात्मविवर्तेषु समरूपेणावस्थितः———→परात्परपुरुषः–सर्वाव्ययः–समब्रह्म[1]

२–प्रज्ञानात्मगर्भितविज्ञानात्मन्यवस्थितः–परात्पराक्षरात्मक्षरगर्भितः→अव्ययपुरुषः–असर्वाव्ययः–ईश्वराव्ययः[2]

३–महानात्मगर्भिताव्यक्तात्मन्यवस्थितः–परात्पराव्ययात्मक्षरगर्भितः→अक्षरपुरुषः असर्वाव्ययः–जीवाव्ययः[3] परमाव्ययः

४–भूतात्मगर्भितप्राणात्मन्यवस्थितः–परात्पराव्ययाक्षरगर्भितः→आत्मक्षरपुरुषः–असर्वाव्ययः–शिपिविष्टाव्ययः[4] अवराव्ययः

आध्यात्मिक चतुर्द्धाविभक्त उक्त पुरुषात्मचतुष्टयी को लक्ष्य बनाकर सिद्ध-साध्य विद्याओं का समन्वय कीजिए। **'अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन'**–इत्यादि गीतासिद्धान्त के अनुसार गीता में सर्वत्र 'अस्मच्छब्द' वाच्य अव्ययात्मा अमृतलक्षण ब्रह्म (ज्ञान), मृत्युलक्षण कर्म्म- दोनों विभूतियों से युक्त मानना पड़ेगा। मृत्युलक्षणा कर्म्मविभूति का विश्लेषण अगले परिच्छेद में किया जाएगा। प्रकृत में केवल अमृतलक्षणा ब्रह्मविभूति का ही विश्लेषण अपेक्षित है। ब्रह्म ज्ञान है, ज्ञान ही विद्या है। यद्यपि अपने प्रातिस्विकरूप से अव्ययज्ञान किंवा अव्ययविद्या एक विद्या ही है तथापि स्थानभेदकृत उपाधिभेद से अव्ययात्मा के चार संस्थाओं में विभक्त हो जाने के कारण अव्ययविद्या के भी उपाधि-भेदानुगत चार विवर्त हो जाते हैं, जिनके सिद्ध-साध्य भेद से (प्रत्येक के) दो-दो विवर्त हो जाते हैं। इन्हीं के तात्त्विक विश्लेषण की ओर क्रमशः विज्ञपाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है।

त–सर्वाव्ययात्मिका विद्या और योग (१)—

योगचतुष्टयानुगता विद्याचतुष्टयी ही गीताशास्त्र का मुख्य लक्ष्य है, अतएव हम पाठकों से आग्रह करेंगे कि वे विद्याचतुष्टयी के आधारभूत जिन अखण्ड-सखण्ड-आत्मविवर्तों का पूर्व में व्यवकलित-रूप से दिग्दर्शन कराया गया है, उनका संकलितरूप से सिंहावलोकनदृष्ट्या निरीक्षण कर लेना चाहिए। आत्मा अखण्ड है, वह एक है। वह अखण्ड एक ही तत्त्व माया-कला-गुण-विकारादि परिग्रहों (उपाधियों) के सम्बन्ध से **'चतुष्टयं वा इदं सर्वम्'**–इस अनुगम के अनुसार चार भागों में विभक्त हो रहा है। अखण्डात्मा के वे सोपाधिक चार विवर्त ही क्रमशः परात्पर-अव्यय-अक्षर-आत्मक्षर-प्रधान बनते हुए सर्वाव्यय, पराव्यय, परमाव्यय, अवराव्यय नामों से प्रसिद्ध हुए हैं। संकेतभाषानुसार सर्व, पर, परम, अवर–ये चार शब्द क्रमशः परात्पर, अव्यय, अक्षर, आत्मक्षर–इन चार आत्मविवर्तों के वाचक माने गये हैं, अतएव सर्वाव्यय का तात्पर्य्य होता है–परात्परलक्षण अव्यय, पराव्यय का निष्कर्ष निकलता है–अव्ययलक्षण अव्यय, परमाव्यय का अर्थ निकलता है–अक्षरलक्षण अव्यय एवं अवराव्यय का भाव होता है–क्षरलक्षण अव्यय। इन चारों ही अव्ययात्मसंस्थाओं में यद्यपि परात्पर-अव्यय-अक्षर-आत्मक्षर–इन चारों का समावेश है और इस दृष्टि से इन चारों ही अव्ययात्मसंस्थाओं को **'सर्वाव्ययसंस्था'**–कहा भी जा सकता है तथापि एक विशेष हेतु से चारों संस्थाओं में से पहली परात्परलक्षण अव्ययसंस्था तो 'सर्वाव्ययसंस्था कहलाई है एवं आगे की शेष तीनों संस्थाएँ 'असर्वाव्ययसंस्था' कहलाई हैं। वह विशेष हेतु है–समत्व और असमत्व। प्रथमसंस्था में भुक्त अखण्ड-सखण्ड विवर्त जहाँ समभावापन्न हैं, वहाँ शेष तीनों संस्थाओं में भुक्त आत्मविवर्त गौण-प्रधानरूप से प्रतिष्ठित रहते हुए विषमभावापपन्न है। समत्वेन प्रथमसंस्था जहाँ सर्वधर्म्मोपपन्ना है, वहाँ विषमत्वेन संस्थात्रयी असर्वधर्म्मोपपन्ना है। निम्नलिखित परिलेखों को लक्ष्य बनाइए एवं तदाधारेण प्रतिपाद्य योगानुगत विद्याविवर्तों पर क्रमशः दृष्टि डालिए—

(१)–प्रथमसंस्था-परिलेखः (परात्परलक्षणः-सर्वाव्ययः) तृप्तिगुणान्वितः—

१–	१–स्वायम्भुवः–'अव्यक्तात्मा' (अव्यक्तम्) २–पारमेष्ठ्यः–'महानात्मा' (महान्)	–तद्गर्भितः 'परः' (अव्यय)	४.-'सर्वत्र समरूपेण व्याप्तः 'सर्वः' (परात्परः) → स एव सर्वाव्ययः'
२–	१–सौरः–'विज्ञानात्मा' (बुद्धिः) २–चान्द्रः–'प्रज्ञानात्मा' (मनः)	–तद्गर्भितः 'परमः' (अक्षरः)	
३–	१–पार्थिवः–'प्राणात्मा' (सेन्द्रियो जीवः) २–भौमः–'भूतात्मा' (शरीरम्)	–तद्गर्भितः अवरः (आत्मक्षरः)	

——❀——

(२)–द्वितीयसंस्था-परिलेखः–(अव्ययलक्षणः-असर्वाव्ययः)-पुष्टिगुणान्वितः—

१–प्राणात्म-विज्ञानात्म-अव्यक्तात्मविवर्तेषु समरूपेणावस्थितः→ परात्परः

२–महानात्मगर्भिताव्यक्तात्मन्यवस्थितः————→ अक्षरः

३–भूतात्मगर्भितप्राणात्मन्यवस्थितः————→ आत्मक्षरः

} परात्पराक्षरात्मक्षरगर्भितः-प्रज्ञानात्मगर्भितविज्ञाना-→त्मन्यवस्थितः 'असर्वः-(अव्ययः) स एष असर्वाव्ययः'

——❀——

(३)–तृतीयसंस्था-परिलेखः (अक्षरलक्षणः-असर्वाव्ययः)-तुष्टिगुणान्वितः—

१–प्राणात्म–विज्ञानात्म-अव्यक्तात्मविवर्तेषु समरूपेणावस्थितः→ परात्परः

२–प्रज्ञानात्मगर्भितविज्ञानात्मन्यवस्थितः————→ अव्ययः

३–भूतात्मगर्भितप्राणात्मन्यवस्थितः————→ आत्मक्षरः

} परात्पराव्ययात्मक्षरगर्भितः-महानात्मगर्भिताव्यक्तात्म-→न्यवस्थितः 'असर्वः' (अक्षरः) स एष असर्वाव्ययः

——❀——

(४)—चतुर्थसंस्था-परिलेखः-(आत्मक्षरलक्षणः-असर्वाव्ययः)-भुक्तिगुणान्वितः—

१—प्राणात्म-विज्ञानात्म-अव्यक्तात्मविवर्तेषु समरूपेणावस्थितः→परात्परः

२—प्रज्ञानात्मगर्भितविज्ञानात्मन्यवस्थितः——————→अव्ययः

३—महानात्मगर्भिताव्यक्तात्मन्यवस्थितः——————→अक्षरः

} परात्पराव्ययाक्षरगर्भितः-भूतात्मगर्भितप्राणात्म-→न्यवस्थितः-'असर्वः' (आत्मक्षरः) स एष असर्वाव्ययः

सर्वसंग्रहः—

१— {

१—अव्यक्त-महान्—विज्ञान-प्रज्ञान-भूत-प्राणात्मविवर्तेषु, अव्ययाक्षरात्मक्षरविवर्तेषु-समरूपेणावस्थितः→परात्परः

२—परात्पराक्षरात्मक्षरेषु—विषमरूपेणावस्थितः—प्रज्ञानात्मगर्भितविज्ञानात्मन्यवस्थितः——————→अव्ययः

३—परात्पराव्ययात्मक्षरेषु—विषमरूपेणावस्थितः—महानात्मगर्भितविज्ञानात्मन्यवस्थितः——————→अक्षरः

४—परात्पराव्ययाक्षरेषु—विषमरूपेणावस्थितः—भूतात्मगर्भितप्राणात्मन्यवस्थितः——————→आत्मक्षरः

}

——❀——

२—

१—परात्परात्मा	महेश्वरः	परात्पराव्ययः	परात्परात्मा	अधिष्ठानम्	सर्वाव्ययः (परात्परः)
२—अव्ययात्मा	ईश्वरः	पराव्ययः	परात्मा	साक्षी	असर्वाव्ययः (परः)
३—अक्षरात्मा	जीवः	परमाव्ययः	परमात्मा	भोक्ता	असर्वाव्ययः (परमः)
४—आत्मक्षरात्मा	जगत्	अवराव्ययः	अवरात्मा	शिपिविष्टः	असर्वाव्ययः (अवरः)

उक्त आत्मसंस्थाओं में से सर्वप्रथम परात्परलक्षणा-सर्वाव्ययात्मिका पहली संस्था को लक्ष्य बनाइए। क्योंकि सर्वाव्ययात्मिका विद्या एवं तदनुगत योग का इसी से सम्बन्ध है। परात्पर, अव्यय, अक्षर, आत्मक्षर-इन चारों आध्यात्मिक आत्मविवर्तों से समतुलिता अतएव साम्यावस्थापन्ना, अतएव च-समब्रह्मात्मविद्यालक्षणा सर्वाव्ययात्मानुगता प्रथमा विद्या एवं तदनुगत प्रथम योग के सम्बन्ध में सिद्ध-साध्य शब्दों की परिभाषा को लक्ष्य बनाकर ही विषय का समन्वय करना चाहिए। नित्यसिद्ध आत्मज्ञान 'सिद्धविद्या' है, नित्यसिद्ध आत्मकर्म्म 'सिद्धयोग' है। इस नित्यसिद्धा आत्मज्ञानलक्षणा आत्मविद्या का स्वरूप बतलाने वाला साधक स्थानीय ज्ञान ही साध्यविद्या है। एवमेव साध्या विद्या के द्वारा आत्मविद्या के साथ आत्मकर्म्म का सम्बन्ध सुरक्षित रखने वाला अनुष्ठेय-विहित-कर्म्म ही 'साध्ययोग' है। साध्यविद्यानुगत साध्ययोग से सिद्धयोगानुगत सिद्धविद्या का (ज्ञान-कर्म्ममय आत्मा का) विकास होता है। चूंकि साध्य विद्या-योग सिद्ध-विद्या-योगों के स्वरूपसंरक्षक हैं, अतएव सिद्धों के नामों का सम्बन्ध साध्यों के साथ हो जाता है एवं साध्य नामों का सम्बन्ध सिद्धों के साथ हो जाता है। उदाहरण के लिए सर्वाव्ययात्मिका सिद्धविद्या का नाम है-'वैराग्यविद्या' एवं सिद्ध-योग का नाम है-'वैराग्यबुद्धियोग'। इस सिद्धवैराग्यविद्या का स्वरूप-विश्लेषण करने वाली, नित्य-सिद्ध कार्य्यकारणरहस्यज्ञान का स्पष्टीकरण करने वाली विद्या वैराग्यविद्योदय का कारण है अतएव इस हेतुभूता विद्या को **'तात्स्थ्यात्ताच्छब्द्यम्'**-न्याय से 'वैराग्यविद्या' ही कह दिया जाता है। एवमेव सिद्ध वैराग्यबुद्धियोग की अनुष्ठानप्रकारात्मक वैराग्यबुद्धियोगोदय का हेतुभूत साध्ययोग भी इसी नाम से व्यवहृत कर दिया जाता है।

सिद्ध-साध्य विद्या-योगों के अतिरिक्त साध्या अविद्या तथा साध्य अयोगात्मकयोग-इन अविद्या-अयोग विवर्तों का भी प्रासङ्गिक दिग्दर्शन अपेक्षित है। बुद्धि के विद्यायोगात्मक चार विवर्तों के प्रतिद्वन्द्वी अविद्या-अयोगात्मक चार विवर्त और होते हैं-जिनका पूर्व में यत्र तत्र अनेकधा स्पष्टीकरण किया जा चुका है। प्रतिपाद्य-विषय के बोध-सौकर्य्य की दृष्टि से इन आठों विद्या-योगात्मक तथा अविद्या-अयोगात्मक साध्य बुद्धि-विवर्तों को लक्ष्य में रखना अनिवार्य बन जाता है। वैराग्य, ऐश्वर्य्य, ज्ञान, धर्म्म-ये चार सद्बुद्धियाँ हैं एवं आसक्ति, अस्मिता, अविद्या-अभिनिवेश-ये चार असद्बुद्धियाँ हैं। सद्बुद्धिचतुष्टयी भी ज्ञान-कर्म्मात्मिका है, असद्बुद्धिचतुष्टयी भी ज्ञान-कर्म्मात्मिका है। सद्बुद्धियों के ज्ञानविवर्त 'विद्या' कहलाए हैं, कर्म्मविवर्त 'योग' कहलाए हैं एवं असद्बुद्धियों के ज्ञानविवर्त 'अविद्या' कहलाए हैं, कर्म्मविवर्त 'अयोग' कहलाए हैं। वैराग्यादि सद्बुद्धिविवर्त क्रमशः तृप्ति-पुष्टि-तुष्टि-भुक्ति गुणप्रवर्तक हैं एवं आसक्त्यादि असद्बुद्धिविवर्त क्रमशः क्षोभ, अपूर्णता, मोह, शून्यता दोष प्रवर्तक हैं। वैराग्यबुद्धि का विद्याभाग परात्परब्रह्मानन्यता (समब्रह्मानन्यतालक्षणा) रागद्वेषविवर्जिता **अनासक्ति** है, योगभाग परात्परब्रह्मानन्यतानुगत **अनासक्त कर्म्म** है। इन दोनों का प्रथमात्मसंस्था से सम्बन्ध है। ऐश्वर्यबुद्धि का विद्याभाग अव्ययब्रह्मानन्यता (सगुणब्रह्मानन्यता) लक्षणा अस्मिताविवर्जिता आत्मप्रपत्ति है, योग भाग अव्ययब्रह्मानन्यतानुगत अस्मिताविवर्जित **आत्मसमर्पण कर्म्म** है। इन दोनों का द्वितीयात्मसंस्था से सम्बन्ध है। ज्ञानबुद्धि का विद्याभाग अक्षरब्रह्मानन्यता (निर्गुणब्रह्मानन्यता) लक्षणा अविद्याविवर्जिता **निवृत्ति** है, योगभाग अक्षरब्रह्मानन्यतानुगत अविद्याविवर्जित **निवृत्तकर्म्म** है।

इन दोनों का तृतीयात्मसंस्था से सम्बन्ध है। धर्म्मबुद्धि का विद्याभाग आत्मक्षरब्रह्मानन्यता (विराड्-ब्रह्मानन्यता) लक्षणा अभिनिवेशविवर्जिता **प्रवृत्ति** है, योगभाग आत्मक्षरब्रह्मानन्यतानुगत अभिनिवेश-विवर्जित **प्रवृत्तकर्म्म** है। इन दोनों का चतुर्थात्मसंस्था से सम्बन्ध है। आसक्तिबुद्धि का अविद्याभाग विषम विषयानन्यतालक्षणा रागद्वेषयुक्ता तृप्तिविवर्जिता **आसक्ति** है, अयोगात्मक योगभाग **आसक्तकर्म्म** है। अस्मिताबुद्धि का अविद्याभाग नास्तिकतानन्यतालक्षणा अनैश्वर्य्ययुक्ता पुष्टिविवर्जिता **कामना है,** अयोगात्मक योगभाग **कामप्रधानविकर्म्म** है। अविद्याबुद्धि का अविद्याभाग अन्यमनस्कतानन्यतालक्षणा मोहयुक्ता तुष्टिविवर्जिता **स्तब्धता** है, अयोगात्मक योग **अकर्म्म** है। अभिनिवेशबुद्धि का अविद्याभाग दुराग्रहानन्यतालक्षणा धृष्टतायुक्ता भुक्तिविवर्जिता **उच्छृङ्खलता** है, अयोगात्मकयोग **विकर्म्म है।** इन चारों असद्बुद्धिविवर्तों की प्रधानता से पूर्वोक्त चारों आत्मसंस्थाएँ क्रमशः स्व-स्वरूपविकास से आवृत हो जाती हैं। बुद्धि से सम्बन्ध रखने वाले इन सदसत् आठ विवर्तों के लक्षण उक्त परिभाषा के आधार पर निम्नलिखित परिलेखों के (पृ० सं० १४६-१४७) द्वारा किए जा सकते हैं—

(१)—सद्बुद्धिचतुष्टयी—

१ । १ — (१)—तत्र प्रथमा—'वैराग्यबुद्धिः'—प्रथमात्मसंस्थानुगता—(उपकारिणी)

१—तृप्तिगुणप्रवर्तकत्वे सति—परात्परब्रह्मानन्यतालक्षणरागद्वेषविवर्जिताऽनासक्तित्वं—साध्यविद्यात्वम्

२—तृप्तिगुणप्रवर्तकत्वे सति—परात्परब्रह्मानन्यतानुगत—रागद्वेषविवर्जिताऽनासक्तकर्म्मत्वं—साध्ययोगत्वम्

२ । २ — (२)—द्वितीया—'ऐश्वर्य्यबुद्धिः'—द्वितीयात्मसंस्थानुगता—(उपकारिणी)

१—पुष्टिगुणप्रवर्तकत्वे सति—अव्ययब्रह्मानन्यतालक्षणास्मिताविवर्जिताऽऽत्मप्रतिपत्तित्वम्—साध्यविद्यात्वम्

२—पुष्टिगुणप्रवर्तकत्वे सति—अव्ययब्रह्मानन्यतानुगतास्मिताविवर्जिताऽऽत्मसमर्पणकर्म्मत्वम्—साध्ययोगत्वम्

३ । ३ — (३)—तृतीया—'ज्ञानबुद्धिः'—तृतीयात्मसंस्थानुगता—(उपकारिणी)

१—तुष्टिगुणप्रवर्तकत्वे सति—अक्षरब्रह्मानन्यतालक्षणाविद्याविवर्जितनिवृत्तित्वम्—साध्यविद्यात्वम्

२—तुष्टिगुणप्रवर्तकत्वे सति—अक्षरब्रह्मानन्यतानुगताविद्याविवर्जितनिवृत्तकर्म्मत्वम्—साध्ययोगत्वम्

४ । ४ — (४)—चतुर्थी—'धर्म्मबुद्धिः'—चतुर्थात्मसंस्थानुगता—(उपकारिणी)

१—मुक्तिगुणप्रवर्तकत्वे सति—आत्मक्षरब्रह्मानन्यतालक्षणाभिनिवेशविवर्जितप्रवृत्तित्वम्—साध्यविद्यात्वम्

२—मुक्तिगुणप्रवर्तकत्वे सति—आत्मक्षरब्रह्मानन्यतानुगताभिनिवेशविवर्जितप्रवृत्तकर्म्मत्वम्—साध्ययोगत्वम्

शेष तालिका अगले पृष्ठ पर→

(२)–असद्बुद्धिविद्याचतुष्टयी—

५ । १ — **(१)–तत्र प्रथमा–'आसक्तिबुद्धिः'–प्रथमात्मसंस्थानुगता–(अपकारिणी)**

१–क्षोभदोषप्रवर्तकत्वे सति–विषयानन्यतालक्षणतृप्तिविवर्जितासक्तित्वम्–साध्य-अविद्यात्वम्

२–क्षोभदोषप्रवर्तकत्वे सति–विषयानन्यतानुगततृप्तिविवर्जितासक्तकर्म्मत्वम्–साध्य-अयोगत्वम्

६ । २ — **(२)–द्वितीया–'अस्मिताबुद्धिः'–द्वितीयात्मसंस्थानुगता–(अपकारिणी)**

१–अपूर्णतादोषप्रवर्तकत्वे सति–नास्तिकतानन्यतालक्षणपुष्टिविवर्जितकामनात्वम्–साध्य-अविद्यात्वम्

२–अपूर्णतादोषप्रवर्तकत्वे सति–नास्तिकतानन्यतानुगतपुष्टिविवर्जितविकर्म्मत्वम्–साध्य-अयोगत्वम्

७ । ३ — **(३)–तृतीया–'अविद्याबुद्धिः'–तृतीयात्मसंस्थानुगता–(अपकारिणी)**

१–मोहदोषप्रवर्तकत्वे सति–अन्यमनस्कतानन्यतालक्षणतुष्टिविवर्जितजडतात्वम्–साध्य-अविद्यात्वम्

२–मोहदोषप्रवर्तकत्वे सति–अन्यमनस्कतानन्यतानुगततुष्टिविवर्जिताकर्म्मत्वम्–साध्य-अयोगत्वम्

८ । ४ — **(४)–चतुर्थी–'अभिनिवेशबुद्धिः'–चतुर्थात्मसंस्थानुगता–(अपकारिणी)**

१–शून्यतादोषप्रवर्तकत्वे सति–दुराग्रहानन्यतालक्षणभुक्तिविवर्जितोच्छृङ्खलतात्वम्–साध्य-अविद्यात्वम्

२–शून्यतादोषप्रवर्तकत्वे सति–दुराग्रहानन्यतानुगतभुक्तिविवर्जितविकर्म्मत्वम्–साध्य-अयोगत्वम्

अष्टौ बुद्धयः

रागात्मक अनुकूलबन्धन, द्वेषात्मक प्रतिकूलबन्धन–इन दोनों आसक्तिबन्धनों से सर्वथा विमुक्त, विना किसी पाशबन्धन (अन्तर्य्यामिलक्षण चितिबन्धनात्मक ग्रन्थिबन्धन सम्बन्ध) के केवल विभूति-सम्बन्ध (बहिर्य्यामिलक्षणयोगबन्धनात्मक संशर बन्धन) से यच्चयावत् आध्यात्मिक खण्डात्मविवर्तों में समरूप से प्रतिष्ठित, विभूतिसम्बन्ध के प्रभाव से ही स्वस्वरूप से पूर्णविकसित, पूर्णविकासानुगत पूर्णता-लक्षण तृप्तिगुण से सर्वात्मना परिप्लुत, अव्यय-अक्षर-आत्मक्षरगर्भित, सर्वबलविशिष्टरसैकघनमूर्ति परात्परपुरुष नामक सर्वाव्ययात्मा का सहजसिद्ध स्वाभाविक विकसित ज्ञान ही सर्वाव्ययात्मिका आत्म-विद्या का सिद्धावस्थापन्न स्वरूपलक्षण है। एवमेव इसी सर्वाव्ययात्मा का सहजसिद्ध स्वाभाविक विक-सित कर्म्म ही सर्वाव्ययात्मक आत्मयोग का सिद्धावस्थापन्नस्वरूपलक्षण है। सिद्धा आत्मविद्या, सिद्ध आत्मयोग, उभयसमष्टिलक्षण विद्या-योगात्मक नित्यसिद्ध सर्वाव्ययात्मा ही प्रथम आत्मसोपान है। 'विज्ञानात्मा' नाम से प्रसिद्ध बुद्धि के चार विद्याविवर्तों में से जिस विद्याविवर्त से उक्त आत्मविद्या का विकास सुरक्षित रहता है, वह बुद्धिविद्या किंवा विद्याबुद्धि ही सिद्धविद्योदय का हेतु बनती हुई साध्य-विद्या है, जिसे 'वैराग्यविद्या' (वैराग्यविद्योदय हेतुभूताविद्या) कहा जा सकता है। इसी विद्याबुद्धि के विद्याभाग से सञ्चालित अनासक्तिलक्षण वह कर्म्म जो सिद्ध आत्मयोग को सुरक्षित रखता है–साध्ययोग है–जिसे वैराग्यबुद्धियोग (वैराग्ययोगोदय हेतुभूत बुद्धियोग) कहा जा सकता है। तात्पर्य्य कहने का यही है कि बुद्धचनुगत साध्यविद्या से युक्त बुद्धचनुगत साध्य वैराग्ययोग से आत्मानुगत सिद्ध विद्यायुक्त सिद्धयोग तृप्तिगुण से विकसित हो जाता है, फलतः सर्वाव्ययात्मा सर्वात्मना प्रसादावस्था को प्राप्त हो जाता है।

तृप्तिगुणान्विता सर्वाव्ययात्मिका सिद्ध आत्मविद्या (किंवा आत्मा का विद्याभाग) आनन्द-विज्ञान-मनोघन है एवं तृप्तिगुणान्वित सर्वाव्ययात्मक सिद्ध आत्मयोग (किंवा आत्मा का योग-कर्म्म-भाग) मनः-प्राणवाग्घन है। तृप्तिगुणप्रवर्तिका वैराग्यभावात्मिका साध्य बुद्धिविद्या (किंवा बुद्धि का विद्याभाग) राग-द्वेषविवर्जिता परात्परब्रह्मानन्यता (समब्रह्मानन्यता) लक्षणा विषयवियुक्ता क्षोभर-हिता अनासक्ति है एवं तृप्तिगुणप्रवर्तक वैराग्यभावात्मक साध्य बुद्धियोग (किंवा बुद्धि का योग-कर्म्म-भाग) रागद्वेषविवर्जितपरात्परब्रह्मानन्यतानुगत अनासक्तकर्म्म है। अनासक्तिलक्षणा साध्या बुद्धिविद्या से आनन्द-विज्ञान-मनोघना सिद्धा आत्मविद्या का सम्बन्ध है एवं अनासक्तिकर्म्मलक्षण साध्य बुद्धियोग से मनः-प्राण-वाग्घन सिद्ध आत्मयोग का सम्बन्ध है।

इसी आधार पर सर्वाव्ययात्म नाम की प्रथम संस्था से सम्बन्ध रखने वाली सिद्ध-साध्य-विद्याओं के एवं सिद्ध-साध्य-योगों के निम्नलिखित लक्षण किए जा सकते हैं—

१– १–तृप्तिगुणान्वितत्वे सति-आनन्द-विज्ञान-मनो-घनत्वं-सर्वाव्ययात्मानुगतसिद्धविद्यात्वम् ।
२–तृप्तिगुणान्वितत्वे सति–मनः–प्राण–वाग्–घनत्वं–सर्वाव्ययात्मानुगतसिद्धयोगत्वम् ।

२– १–तृप्तिगुणप्रवर्तकत्वे सति–परात्परब्रह्मानन्यतालक्षण–रागद्वेषविवर्जितविषयवियुक्तक्षोभरहिता नासक्तित्वं-बुद्धचनुगतसाध्यविद्यात्वम् ।
२–तृप्तिगुणप्रवर्तकत्वे सति–परात्परब्रह्मानन्यतानुगत–रागद्वेषविवर्जितविषयवियुक्तक्षोभरहिता नासक्तकर्म्मत्वं–बुद्धचनुगतसाध्ययोगत्वम् ।



प्रसङ्गोपात्त बुद्धि के साध्य-विद्या, योगभावों का दिग्दर्शन कराया गया। अब पुनः प्रकृत की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है। बतलाया गया है कि सर्वाव्ययात्मानुगता विद्या वैराग्यविद्या है एवं तदनुगतयोग वैराग्ययोग है। इन दोनों सिद्ध-विद्यायोगों के स्वरूपसंरक्षक बुद्धचनुगत साध्य विद्यायोग भी इन्हीं नामों से व्यवहृत हुए हैं। वैराग्यबुद्धिविद्या से वैराग्यात्मविद्या का विकास होता है एवं वैराग्यबुद्धियोग से वैराग्यात्मयोग का विकास होता है। आत्मा एवं बुद्धिभेद से सिद्ध एवं साध्यरूप से दो भागों में विभक्त यही विद्या सर्वाव्ययात्मविद्या है, जिसे हम **'परात्परात्मविद्या'** भी कह सकते हैं। इस विद्या के प्रथम आविष्कारक कृष्णाव्यय थे, अतएव यह विद्या **'भगवद्विद्या, भगवन्निष्ठा भगवन्मत'** आदि नामों से व्यवहृत हुई है। इस विद्या के साध्यपर्व (वैराग्यबुद्धि) से सिद्धपर्व में सहजसिद्ध पूर्णतालक्षण तृप्तिगुण का विकास होता है, अतएव गुणापेक्षया इसी को **'तृप्तिविद्या-पूर्णविद्या'** आदि नामों से भी व्यवहृत किया जा सकता है। इस विद्या का फल है–रागद्वेषनिवृत्तिपूर्वक सर्वत्र असङ्ग-भावेन सहयोग, अतएव फलापेक्षया इसे **'वैराग्यविद्या, अनासक्तिविद्या'** आदि नामों से व्यवहृत किया जा सकता है। प्रथम शिष्य विवस्वान् से आरम्भ कर अन्तिम शिष्य अर्जुनपर्य्यन्त इस भगवद्विद्या का प्रधानरूप से राजर्षिपरम्परा में ही प्रचार रहा है, अतएव शिष्यपरम्परापेक्षया इसे **'राजर्षिविद्या'**–कहा जा सकता है।

इस विद्या का देवयुगारम्भ में सर्वप्रथम विवस्वान् के प्रति उपदेश हुआ था, अतएव युगापेक्षया इसे–'देवयुगविद्या, सत्ययुगविद्या'–आदि नामों से व्यवहृत किया जा सकता है। परात्परपुरुष सनातन है, शाश्वतधर्म्मा है, अतएव तद्रूपा इस विद्या को कालापेक्षया **'सनातनविद्या'** कहा जा सकता है। परात्परपुरुष ही निगूढात्मा है, अतएव आत्मदृष्ट्या इसे **'निगूढात्मविद्या'** कहा जा सकता है। इस प्रकार सर्वाव्ययात्मिका यह प्रथमा विद्या अपेक्षा भेद से अनेक नामों से व्यवहृत की जा सकती है। जो नाम आत्मविद्या (सिद्धविद्या) के हैं–वे ही नाम बुद्धिविद्या (वैराग्यबुद्धिविद्या) नामक साध्यविद्या के हैं। एवमेव आत्मविद्यानुगत सिद्धयोगों के नामों का भी उसी अनुपात से समन्वय करना चाहिए। आचार्यापेक्षया–**'भगवद्योग'**, गुणापेक्षया **'तृप्तियोग-पूर्णयोग'**, फलापेक्षया **'वैराग्ययोग, अनासक्तियोग'**, शिष्यपरम्परापेक्षया **'राजर्षियोग'**, युगापेक्षया **'देवयुगयोग, सत्ययुगयोग'**, कालापेक्षया **सनातनयोग**, आत्मापेक्षया **'निगूढात्मयोग'** नामों से इस सिद्ध-साथ ही साध्ययोगों को व्यवहृत किया जाएगा।

भगवद्‌गीता के आरम्भ के ६ अध्यायों में (१-२-३-४-५-६ में) इस प्रथम विद्या तथा प्रथमयोग का विस्तार से निरूपण हुआ है। योगानुगता इस राजर्षिविद्या के कार्य्यकारणरहस्यज्ञान के विश्लेषण के लिए ८ (आठ) उपनिषदों[1] के द्वारा आठ प्रकरण विभक्त हुए हैं। इन आठ उपनिषदों के तात्त्विकस्वरूपविश्लेषण के लिए प्रासङ्गिक ५० तात्त्विक उपदेश हुए हैं। इस प्रकार ५० उपदेशों से युक्त, आठ उपनिषदों से संयुक्त इस षडध्यायात्मिका राजर्षिविद्या में सर्वाव्ययात्मविद्या एवं सर्वाव्ययात्मयोग का ही उपबृंहण हुआ है। यद्यपि आरम्भ के ६ अध्यायों में ही वैज्ञानिकविषयविभाग के अनुरोध से यह प्रथमा विद्या प्रधानरूप से उपवर्णित हुई है, तथापि अथ से इतिपर्य्यन्त इसी योगानुगता विद्या की प्रतिध्वनि सूचित हुई है, अतएव सम्पूर्ण गीताशास्त्र ही 'भगवद्‌गीतोपनिषत्' नाम से प्रसिद्ध हो गया है। इस प्रथमा विद्या के द्वारा आर्षमानव को आर्ष श्रीकृष्ण की ओर से जो आदेश मिला है-वह निम्नलिखित गीतावचनों से प्रतिध्वनित है, जिनका तात्त्विक विश्लेषण गीताभूमिका बुद्धियोगपरीक्षा पूर्वखण्ड में द्रष्टव्य है—

भगवद्विद्यानिष्कर्षः-

१-"ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥[2]

२-अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ॥[3]

३-न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बद्ध्यते ॥[4]

४-योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥[5]

५-इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥[6]

६-ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः" ॥[7]

१-उपनिषदों तथा उपदेशों की तालिका भूमिका प्रथमखण्ड में उद्धृत हो चुकी है।

२ गीता ५।१०। ३ गीता ६।१। ४ गीता ४।१४। ५ गीता ५।७। ६ गीता ५।१९।
७ गीता ३।३१।

७–"ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम् ।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः" ।।[१]

उक्त प्रथमा विद्या के अपेक्षा भेद भिन्न जो नाम पूर्व में उद्धृत हुए हैं, निम्नलिखित गीतावचन उनके मूल माने जा सकते हैं—

(१)–प्रथमप्रवर्त्तकाचार्य्यापेक्षया–'भगवद्योगानुगता, भगवद्विद्या, भगवन्मतम्'

तन्मूलम्—"ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः ।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः" ।।[२]

(२)–गुणापेक्षया–'तृप्तियोग–पूर्णयोगानुगता तृप्तिविद्या, पूर्णविद्या'

तन्मूलम्—"ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा' कूटस्थो विजितेन्द्रियः ।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः" ।।[३]

(३)–फलापेक्षया–'वैराग्य-अनासक्तियोगानुगता, वैराग्यविद्या, अनासक्तिविद्या'

तन्मूलम्—"सर्वकर्माणि मनसा 'संन्यस्यास्ते' सुखं वशी ।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन् ।।[४]
कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि" ।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति 'संगं' त्यक्त्वात्मशुद्धये" ।।[५]

(४)–शिष्यपरम्परापेक्षया-'राजर्षियोगानुगता, राजर्षिविद्या'

तन्मूलम्—"एवं परम्पराप्राप्तमिमं 'राजर्षयो' विदुः ।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप" ।।[६]

(५)–युगापेक्षया--'देवयुगयोग, सत्ययुगयोगानुगता, देवयुगविद्या, सत्ययुगविद्या'

तन्मूलम्—"इमं 'विवस्वते' योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्" ।।[७]

---

१ गीता ३।३२। २ गीता ३।३१। ३ गीता ६।८। ४ गीता ५।१३। ५ गीता ५।११।
६ गीता ४।२। ७ गीता ४।१।

(६)–कालापेक्षया--'सनातनयोगानुगता--सनातनविद्या'

तन्मूलम्—"अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च ।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं 'सनातनः'' ।।[1]

(७)–आत्मापेक्षया--'निगूढात्मयोगानुगता--निगूढात्मविद्या'

तन्मूलम्—"योऽन्तः सुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः' ।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति" ।। [2]

१–प्रवर्त्तकापेक्षया ——→भगवद्योगः, भगवद्विद्या ।

२–गुणापेक्षया————→तृप्तियोगः-पूर्णयोगः, तृप्तिविद्या-पूर्णविद्या ।

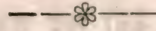
३–फलापेक्षया————→वैराग्ययोगः-अनासक्तियोगः, वैराग्यविद्या-अनासक्तिविद्या ।

४–शिष्यपरम्परापेक्षया——→राजर्षियोगः, राजर्षिविद्या ।

५–युगापेक्षया————→देवयुगयोगः, सत्ययुगयोगः, देवयुगविद्या सत्ययुगविद्या ।

६–कालापेक्षया————→सनातनयोगः, सनातनविद्या ।

७–आत्मापेक्षया————→निगूढात्मयोगः, निगूढात्मविद्या ।



सैषा–परात्पराव्ययलक्षणा सर्वाव्ययात्मिका योगानुगता प्रथमाविद्या ।।१।।

थ–पराव्ययात्मिका विद्या और योग (२)–

अब क्रमप्राप्त योगानुगत द्वितीय विवर्त्त की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है । प्रथमविवर्त्तारम्भ में यह बतलाया गया है कि पराव्ययात्मा अव्यय-प्रधान है । **बिभर्त्त्यव्यय ईश्वरः**–के अनुसार अव्यय ही अपने विभूतिलक्षण ऐश्वर्य्य के सम्बन्ध से ईश्वर कहलाया है, अतएव इस द्वितीय योग एवं द्वितीय विद्या का मुख्य लक्ष्य सर्वधर्म्मोपपन्न सगुणेश्वर अव्ययात्मा ही माना गया है । परात्पर-अक्षर-आत्मक्षरगर्भिता अव्ययप्रधाना यही विद्या ईश्वराव्ययात्मविद्या कहलाई है एवं तदनुगत योग ईश्वराव्ययात्मयोग कहलाया है । अविकासलक्षणा अस्मिता नामक पाशबन्धन से सर्वथा विमुक्त, विना किसी पाशबन्धन के (अन्तर्य्यामलक्षण चितिबन्धनात्मक ग्रन्थिबन्धन के) केवल विभूतिसम्बन्ध से (बहिर्य्यामलक्षण योगबन्धनात्मक संशरबन्धन से) यच्चयावत् आध्यात्मिक खण्डात्मविवर्त्तों में समरूप से

१ गीता २।२४। २ गीता ५।२४।

प्रतिष्ठित, योगसम्बन्ध के प्रभाव से ही स्वऐश्वर्य्य से पूर्णविकसित पूर्णविकासानुगत, पूर्णतालक्षण पुष्टिगुण से सर्वात्मना परिप्लुत, परात्पर-अक्षर-आत्मक्षरगर्भित, आत्मक्षरानुगत सर्वबलविशिष्ट अव्ययानुगत सर्वरसमूर्ति (रसेश्वर) पराव्ययपुरुष नामक असर्वाव्ययात्मा का सहजसिद्ध स्वाभाविक पुष्ट ज्ञान ही पराव्ययात्मिका आत्मविद्या का सिद्धावस्थापन्न स्वरूपलक्षण है।

पाठकों ने देखा होगा कि, परात्पराव्ययविद्या नामक प्रथम विद्या का जो स्वरूप लक्षण है वही स्वरूपलक्षण इस पराव्ययात्मविद्या नामक द्वितीय विद्या का है। प्रश्न होता है कि ऐसी स्थिति में उसे सर्व कहना एवं इसे असर्व मानना कैसे सङ्गत माना गया? यद्यपि यह द्वितीयात्मविद्या ज्ञान-कर्म्म-समत्त्वलक्षणा सर्वता की अपेक्षा से प्रथमा विद्या से समतुलित है, अतएव इसे भी सर्व कहा जा सकता है। तथापि ज्ञान-कर्म्म के क्षेत्रभेद से पूर्णा-सर्वा भी यह द्वितीया विद्या असर्वा मान ली जाती है। परात्परलक्षण अव्यय का ज्ञान भी आनन्द-विज्ञान-मनोघनत्वेन अव्ययात्मक है एवं कर्म्म भी मनः-प्राण-वाग्घनत्वेन अव्ययात्मक ही है। अव्ययात्मक ही ज्ञान, अव्ययात्मक ही कर्म्म, इस अभिन्नक्षेत्रानुगत (अव्ययक्षेत्रानुगत) ज्ञान-कर्म्म के समसमन्वय से प्रथम संस्था सर्वभावापन्ना मानी गई है। इधर परा-व्ययलक्षणा इस द्वितीया संस्था में आनन्द-विज्ञान-मनोमय अव्ययात्मा का ज्ञान है एवं वाक्-आपः-अग्नि-मय आत्मक्षरात्मा का कर्म्म है। ज्ञान अन्यक्षेत्र का है, कर्म्म अन्य क्षेत्र का है। निरपेक्ष ज्ञान-कर्म्म दृष्टि से जहाँ यह संस्था सर्वभावापन्ना है, वहाँ विभिन्न क्षेत्रानुगता विषमता की दृष्टि से यह संस्था असर्वा है। इसी दृष्टि से इस सर्वा भी संस्था को असर्वा मान लिया गया है। हाँ, तीनों (२-३-४) संस्थाओं में से यदि प्रथमा संस्था के अनुरूप किसी संस्था को स्थान दिया जाएगा तो वह यह द्वितीय संस्था ही होगी। यही कारण है कि हमने गीता विषयक्रम की उपेक्षा कर उसे दूसरा स्थान दिया है। गीता विषयक्रमानु-सार इस विद्या का तीसरा स्थान है-विषयविभाग प्रसङ्ग का भी यह समन्वय कर लेना चाहिए। वैरा-ग्यबुद्धियोगानुगता राजर्षिविद्या परात्परानुगता है। ऐश्वर्य्यबुद्धियोगानुगता राजविद्या अव्ययानुगता है। ज्ञानबुद्धियोगानुगता सिद्धविद्या अक्षरानुगता है।

धर्म्मबुद्धियोगानुगता आर्षविद्या आत्मक्षरानुगता है। सर्वोपरि परात्पर है, अनन्तर अव्यय का, तदनन्तर अक्षर का एवं तदनन्तर आत्मक्षर का स्थान है और यही प्रकृतिसिद्ध आत्मपर्वक्रमसिद्ध-विषय-विभाग है। प्रकृत में हमने इस आत्मपर्वक्रमानुगत प्राकृतिक क्रम के अनुसार ही चारों विद्याओं का समन्वय किया है। यह क्रम गीताक्रम से समतुलित नहीं है। क्योंकि गीता में १ अध्याय से आरम्भ कर १८वें अध्यायपर्य्यन्त '६-२-४-६' इस क्रम से राजर्षिविद्या-सिद्धविद्या-राजविद्या-आर्षविद्या इन-चार विद्याओं का विश्लेषण हुआ है। आत्मपर्वदृष्ट्या यह गीतानुगत क्रम परात्पर-अक्षर-अव्यय-आत्मक्षर इस रूप से विभक्त है। इन दोनों क्रमों के अतिरिक्त एक तीसरा श्रेणि विभागानुगत क्रम और बन जाता है। इन चारों विद्याओं में कौन विद्या किस श्रेणि (स्थान-प्रतिष्ठा) की अधिकारिणी है? इस प्रश्न की मीमांसा के आधार पर राजर्षिविद्या-राजविद्या-आर्षविद्या-सिद्धविद्या-यह क्रमविभाग बनता है एवं इस क्रमविभाग के अनुसार आत्मपर्वों का-परात्पर-अव्यय-आत्मक्षर-अक्षर-यह क्रमविभाग मानना पड़ता है। इस प्रकार प्राकृतिकदृष्टि गीतादृष्टि, एवं स्थानमहात्म्यदृष्टिभेद से विद्याचतुष्टयी का तीन विभिन्न

दृष्टिकोणों से वर्गीकरण किया जा सकता है। स्वयं मूलभाष्य में प्रचलित लोकदृष्टि के अनुरोध से गीतादृष्टि के अनुसार ही चारों विद्याओं का स्वरूप विश्लेषण हुआ है एवं भाष्यभूमिका-खण्डों में यथावसरप्राप्त तीनों दृष्टियों का अनुगमन हुआ है—

१–प्राकृतिक दृष्टि–

आत्मानः	योगाः	विद्याः	गीताध्यायाः
१–परात्परः	वैराग्यबुद्धियोगः	राजर्षिविद्या	१, २, ३, ४, ५, ६,
२–अव्ययः	ऐश्वर्य्यबुद्धियोगः	राजविद्या	९, १०, ११, १२,
३–अक्षरः	ज्ञानबुद्धियोगः	सिद्धविद्या	७, ८,
४–आत्मक्षरः	धर्म्मबुद्धियोगः	आर्षविद्या	१३, १४, १५, १६, १७, १८,

(२) गीतादृष्टि—

आत्मानः	योगाः	विद्याः	गीताध्यायाः
१–परात्परः	वैराग्यबुद्धियोगः	राजर्षिविद्या	१,२,३,४,५,६
२–अक्षरः	ज्ञानबुद्धियोगः	सिद्धविद्या	७,८
३–अव्ययः	ऐश्वर्य्यबुद्धियोगः	राजविद्या	९,१०,११,१२
४–आत्मक्षरः	धर्म्मबुद्धियोगः	आर्षविद्या	१३,१४,१५,१६,१७,१८

(३) स्थानदृष्टि—

आत्मानः	योगाः	विद्याः	गीताध्यायाः
१–परात्परः	वैराग्यबुद्धियोगः	राजर्षिविद्या	१,२,३,४,५,६
२–अव्यय	ऐश्वर्य्यबुद्धियोगः	राजविद्या	९,१०,११,१२
३–आत्मक्षरः	धर्म्मबुद्धियोगः	आर्षविद्या	१३,१४,१५,१६,१७,१८
४–अक्षरः	ज्ञानबुद्धियोगः	सिद्धविद्या	७,८

प्रकृतमनुसरामः। बतलाया गया है कि पराव्ययात्मविद्या ही सिद्धा आत्मविद्या है, जिसका स्वरूपलक्षण तथाकथित है। सर्वाव्ययात्मा का सिद्ध आत्मयोग जहाँ अव्ययात्मक था, वहाँ इस पराव्ययात्मक असर्वाव्ययात्मा का सिद्ध आत्मयोग आत्मक्षरात्मक है। इसी विषमता विभिन्नक्षेत्रता के कारण ही तो इस आत्मसंस्था को प्रथमात्मसंस्था से सर्वात्मना समतुलित रहते हुए भी असर्व मान लिया गया है। ज्ञानात्मक (विद्यात्मक) असर्वाव्ययात्मा से परिगृहीत वागापोऽग्निरूप आत्मक्षरात्मक सहजसिद्ध अर्पणात्मक कर्म्म ही असर्वाव्ययात्मक आत्मयोग का सिद्धावस्थापन्न स्वरूपलक्षण है। पराव्ययानुगता सिद्धा आत्मविद्या एवं सिद्ध आत्मयोग उभयसमष्टिलक्षण विद्या-योगात्मक नित्यसिद्ध पराव्ययात्मलक्षण **असर्वाव्ययात्मा** ही द्वितीय आत्मसोपान है। **विज्ञानात्मा** नाम से प्रसिद्ध बुद्धितत्त्व के चार विद्या विवर्त्तों में से जिस विद्याविवर्त्त से उक्त आत्मविद्या का विकास सुरक्षित रहता है, वह बुद्धिविद्या किंवा विद्या-बुद्धि ही सिद्धविद्योदय का हेतु बनती हुई साध्यविद्या है, जिसे-ऐश्वर्य्यविद्या (ऐश्वर्य्यविद्योदयहेतुभूताविद्या) कहा जा सकता है। इसी विद्याबुद्धि के साध्यविद्याभाग से सञ्चालित ईश्वरार्पणलक्षण वह कर्म्म जो सिद्ध आत्मयोग को सुरक्षित रखता है-साध्ययोग है-जिसे-**'ऐश्वर्य्यबुद्धियोग'**-(ऐश्वर्य्य-योगोदयहेतुभूतबुद्धियोग) कहा जा सकता है। तात्पर्य्य कहने का यही है कि बुद्धचनुगता साध्या विद्या से युक्त बुद्धचनुगत साध्य ऐश्वर्य्ययोग से आत्मानुगत सिद्धविद्यायुक्त सिद्धयोग 'पुष्टि' गुण से अनुगृहीत हो जाता है। भक्तभाषा में यही भगवदनुग्रह कहलाया है, जैसा कि पुष्टिमार्गीय **भगवदनुग्रहः पोषः**–वचन से प्रतिध्वनित है। इस पोषण से पराव्ययलक्षण असर्वाव्ययात्मा प्रसादावस्था को प्राप्त हो जाता है।

पुष्टिगुणान्विता पराव्ययात्मलक्षणा असर्वाव्ययात्मिका सिद्धा आत्मविद्या (किंवा आत्मा का विद्याभाग) चूंकि अव्ययात्मानुगत है, अतएव इसे-**आनन्द-विज्ञान-मनोमय**–माना जाएगा। पराव्यय सगुण-ब्रह्म है। गुणभाव–**विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान्**–के अनुसार क्षरगर्भित अक्षर (अपराप्रकृतिगर्भित पराप्रकृति) से सम्बद्ध हैं। पुरुष जहाँ आनन्द-विज्ञान-मनोघन है, अतएव परात्परलक्षण सर्वाव्यय का विद्याभाग जहाँ आनन्द-विज्ञान-मनोघन बतलाया गया है, वहाँ गुणात्मिका प्रकृति आनन्द-विज्ञान-मनोमयी है, अतएव इस गुणभाव सम्बन्ध से इस सगुण पराव्ययविद्या को आनन्द-विज्ञान-मनोघन न कहकर आनन्द-विज्ञान-मनोमय ही माना जाएगा। जिस प्रकार अव्ययविद्या और क्षरकर्म्म से सम्बन्ध रखने वाली ज्ञान-कर्म्म की विषमता इस पराव्ययात्मिका द्वितीयात्मसंस्था की असर्वता का कारण बतलाया गया है, एवमेव यह आनन्दादिमयत्व भी इस असर्वता का समर्थक बन रहा है। घनपूर्णता लक्षण है, कोश ब्रह्म है। **मय** अपूर्वतालक्षण है। कोशब्रह्म के आधार पर पुष्पित-पल्लवित है।

पुष्टिगुणान्वित पराव्ययात्मलक्षण असर्वाव्ययात्मक सिद्ध आत्मयोग (किंवा आत्मा का योग कर्म्मभाग) वागापोऽग्निघन नामक शुक्रत्रयीरूप है। आत्मक्षर के तीन धातु क्रमशः वाक्-आपः-अग्नि नाम से प्रसिद्ध हैं। इन तीनों आत्मक्षर धातुओं की समष्टि ही भौतिक कर्म्मात्मक विश्व है। यही उस आनन्द-विज्ञान-मनोमय पराव्यय का ऐश्वर्य्य है। इसी विश्वात्मक किंवा विश्वकर्म्मात्मक ऐश्वर्य्य से युक्त रहता हुआ पराव्यय **ईश्वर** कहलाया है। वाक्पर्व संयती त्रैलोक्यात्मक स्वर्लोक है, आपःपर्व क्रन्दसी त्रैलोक्यात्मक भुवःपर्व है एवं अग्निः पर्व रोदसी त्रैलोक्यात्मक भूःपर्व है। लोकत्रयात्मक इस-

त्रैलोक्यत्रिलोकीलक्षण महाविश्व में समाविष्ट रहने से ही पराव्यय **ईश्वर** कहलाया है, जैसा कि–**यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः**–वचन से प्रमाणित है । वाग्रूप संयती त्रैलोक्य के अतिष्ठावा देवता ब्रह्मा हैं, प्रतिष्ठा (स्थिति) इसका कर्म्म है । आपोरूप क्रन्दसी त्रैलोक्य के अतिष्ठावा देवता विष्णु हैं केन्द्रानुगता गति (आगति) इनका कर्म्म है, जो कर्म्म आगत्यनुगत आहरण-आदान द्वारा पालनकर्म्म कहलाया है । अग्निरूप रोदसीत्रैलोक्य के अतिष्ठावा देवता रुद्र हैं, प्रध्यनुगता गति (गति) इनका कर्म्म है, जो कर्म्म गत्यनुगत अपहरण-विसर्जन द्वारा संहारकर्म्म कहलाया है । इन तीनों कर्म्मों की समष्टि ही विश्वकर्म्म है, यही वागापोऽग्निरूप आत्मक्षरकर्म्म है, जो पराव्यय में समर्पित रहता हुआ **अर्पणकर्म्म** कहलाया है । यही ऐश्वर्य्यविद्यानुगत सिद्ध आत्मयोग का संक्षिप्त स्वरूपविश्लेषण है ।

पुष्टिगुणप्रवर्त्तिका ऐश्वर्य्यभावात्मिका साध्या बुद्धिविद्या (किंवा बुद्धि का विद्याभाग) परब्रह्मानन्यता (सगुणब्रह्मानन्यता) लक्षणा, अस्मिताविवर्जिता, नास्तिकता वियुक्ता अपूर्णतारहिता आत्मप्रतिपत्ति है एवं पुष्टिगुणप्रवर्त्तक ऐश्वर्य्यभावात्मक साध्य बुद्धियोग (किंवा बुद्धि का योग कर्म्मभाग) परब्रह्मानन्यतानुगत अस्मिताविवर्जित, नास्तिकतावियुक्त आत्मसमर्पण कर्म्म है । आत्मप्रतिपत्तिलक्षणा साध्या बुद्धिविद्या से पराव्ययसंस्था की अव्ययानुगता आनन्द-विज्ञान-मनोमयी आत्मविद्या का सम्बन्ध है एवं आत्मसमर्पणकर्म्मलक्षण साध्यबुद्धियोग से पराव्ययसंस्था में भुक्त आत्मक्षरात्मक वागापोऽग्निरूप आत्मयोग का सम्बन्ध है । इसी आधार पर पराव्ययलक्षण असर्वाव्ययात्म नाम की द्वितीय संस्था से सम्बन्ध रखने वाली सिद्ध-साध्य विद्याओं के एवं सिद्ध साध्य योगों के निम्नलिखित लक्षण किए जा सकते हैं—

१–
- १–पुष्टिगुणान्वितत्वे सति–आनन्द-विज्ञान-मनोमयत्वम्-पराव्ययात्मानुगतसिद्धविद्यात्वम् ।
- २–पुष्टिगुणान्वितत्वे सति–वाक्-आपः-अग्निरापत्वम्-पराव्ययात्मानुगतसिद्धयोगत्वम् ।

२–
- १–पुष्टिगुणप्रवर्त्तकत्वे सति–पराव्ययानन्यतालक्षणास्मिताविवर्जितनास्तिकावियुक्तापूर्णतारहितात्मप्रतिपत्तित्वम्–ऐश्वर्य्यबुद्धचनुगतसाध्यविद्यात्वम् ।
- २–पुष्टिगुणप्रवर्त्तकत्वे सति–पराव्ययानन्यतानुगतास्मिताविवर्जितनास्तिकतावियुक्तापूर्णतारहितात्मसमर्पककर्म्मत्वम्–ऐश्वर्य्यबुद्धचनुगतसाध्ययोगत्वम् ।

बतलाया गया है कि पराव्ययलक्षणा असर्वाव्ययात्मानुगताविद्या ऐश्वर्य्यविद्या है एवं तदनुगत योग ऐश्वर्य्ययोग है । इन दोनों सिद्ध-विद्यायोगों के स्वरूपसंरक्षक बुद्धचनुगत साध्य-विद्यायोग भी इन्हीं नामों से व्यवहृत हुए हैं । ऐश्वर्य्यबुद्धिविद्या से ऐश्वर्य्यात्मविद्या का विकास होता है एवं ऐश्वर्य्यबुद्धियोग से ऐश्वर्य्यात्मयोग का विकास होता है । आत्मा एवं बुद्धि भेद से सिद्ध, साध्य दो भागों में विभक्त–यही विद्या असर्वाव्ययात्मविद्या है, जिसे हम पर अव्यय की अपेक्षा से परात्मविद्या भी कह सकते हैं । इस

विद्या के प्रथम आविष्कारक महर्षि शाण्डिल्य थे, अतएव इसे प्रवर्त्तकापेक्षया **शाण्डिल्यविद्या** कहा जा सकता है। इस विद्या के साध्यपर्व (ऐश्वर्य्यबुद्धि) से सिद्धपर्व में सहजसिद्ध पूर्णतालक्षण पुष्टिगुण का विकास होता है, अतएव गुणापेक्षया इसे **पुष्टिविद्या** कहा जा सकता है। इस विद्या का फल है आस्मितानिवृत्तिलक्षण ईश्वरार्पणकर्म्मों के द्वारा प्राप्त होने वाला ऐश्वर्य्य, अतएव फलापेक्षया इसे **ऐश्वर्य्यविद्या** कहा जा सकता है। इस विद्या का पारम्परिक प्रवाह अम्बरीषादि भक्त राजाओं से ही सम्बन्ध रखता आ रहा है, अतएव शिष्यपरम्परापेक्षया इसे **राजविद्या** कहा जा सकता है। कलियुग-कालीन शाण्डिल्य के द्वारा यह विद्या भक्तियोगरूप से प्रकट हुई है, अतएव युगापेक्षया इसे **कलिविद्या** कहा जा सकता है। अव्यय ही ईश्वर है, अतएव आत्मदृष्टया इसे **ईश्वरात्मविद्या** कहा जा सकता है। इस प्रकार पराव्ययलक्षणा असर्वाव्ययात्मिका यह द्वितीया विद्या अपेक्षा भेद से अनेक नामों से व्यवहृत की जा सकती है। जो विभिन्न नाम इस आत्मविद्या (सिद्धविद्या) के हैं, वे ही नाम बुद्धिविद्या (ऐश्वर्य्यबुद्धिविद्या नामक साध्यविद्या) के हैं। एवमेव आत्मविद्यानुगत सिद्धयोगों के नामों का भी उसी अनुपात से समन्वय होता है। आचार्य्यापेक्षया **शाण्डिल्ययोग**, गुणापेक्षया **पुष्टियोग**, फलापेक्षया **ऐश्वर्य्ययोग**, शिष्यपरम्परापेक्षया **राजयोग**, युगापेक्षया **कलियुगयोग** एवं आत्मापेक्षया **ईश्वरात्मयोग**—इन नामों से इस सिद्ध, साथ ही साध्ययोग को व्यवहृत किया जाएगा। भगवद्गीता के ९–१०–११–१२ इन चार अध्यायों में इस ऐश्वर्य्ययोगानुगता ऐश्वर्य्यविद्या नाम की द्वितीय विद्या का विश्लेषण हुआ है। इस योगात्मिका विद्या के द्वारा भक्त मानव को भगवान् श्रीकृष्ण की ओर से जो आदेश मिला है—वह निम्नलिखित गीतावचनों से प्रतिध्वनित है, जिन वचनों का तात्त्विकविश्लेषण गीताभूमिका बुद्धियोगपरीक्षा पूर्वखण्ड में द्रष्टव्य है—

२–शाण्डिल्यविद्यानिष्कर्षः—

१–"मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः॥[1]

२–मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः॥[2]

३–यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान् यः स मे प्रियः॥[3]

४–संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥[4]

---

१ गीता ९।३४। २ गीता १२।२।
३ गीता १२।१७। ४ गीता १२।१४।

५–अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः ।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ।।[1]

६–मत्कर्म्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः ।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ।।[2]

७–ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते ।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः" ।।[3]



उक्त द्वितीया विद्या के आपेक्षाभेदभिन्न जो विभिन्न नाम पूर्व में उद्धृत हुए हैं, निम्नलिखित गीतावचन उनके मूल माने जा सकते हैं—

(१) प्रथमप्रवर्त्तकापेक्षया–'शाण्डिल्ययोगानुगता-शाण्डिल्यविद्या' ।

तन्मूलम्–"महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः ।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्" ।।[4]

(२) गुणापेक्षया–'पुष्टियोगानुगता-पुष्टिविद्या' ।

तन्मूलम्–"अमी हि त्वां सुरसंघा विशन्ति,
केचिद्भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति ।
'स्वस्ती' त्युक्त्वा महर्षिसिद्धसंघाः,
स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः 'पुष्कलाभिः" ।।[5]

(३) फलापेक्षया–'ऐश्वर्य्ययोगानुता-ऐश्वर्य्यविद्या' ।

तन्मूलम्–"एवमुक्त्वा ततो राजन् ! 'महायोगेश्वरो' हरिः ।
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम्" ।।[6]

---

१ गीता १२।१६ ।
२ गीता ११।५५ ।
३ गीता १२।२० ।
४ गीता ९।१३ ।
५ गीता ११।२१ ।
६ गीता ११।९ ।
❀ स्वस्ति-पुष्टिगुणः ।
❀ पुष्कलाभिः-पुष्टिगुणयुक्ताभिः ।

(४) शिष्यपरम्परापेक्षया–'राजयोगानुगता-राजविद्या' ।

तन्मूलम्–"'राजविद्या' राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम् ।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम्" ॥[1]

(५) युगापेक्षया–'कलियुगयोगानुगता-कलियुगविद्या' ।

तन्मूलम्–"येऽप्यन्यदेवता भक्ता' यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्" ॥[2]

(६) आत्मापेक्षया–'ईश्वरात्मयोगानुगता-ईश्वरात्मविद्या' ।

तन्मूलम्–"एवमेतद्यथात्थ त्वमात्मानं 'परमेश्वर' ।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम" ॥[3]

१–प्रवर्त्तकापेक्षया———→शाण्डिल्ययोगः, शाण्डिल्यविद्या ।

२–गुणापेक्षया ———→पुष्टियोगः, पुष्टिविद्या ।

३–फलापेक्षया———→ऐश्वर्य्ययोगः, ऐश्वर्य्यविद्या ।

४–शिष्यपरम्परापेक्षया–→राजयोगः, राजविद्या ।

५–युगापेक्षया———→कलियुगयोगः, कलियुगविद्या ।

६–आत्मापेक्षया———→ईश्वरात्मयोगः, ईश्वरात्मविद्या ।



सैषा–पराव्ययलक्षणा-असर्वाव्ययात्मिका-योगानुगता द्वितीयाविद्या ।

॥ २ ॥

१ गीता ९।२ । २ गीता ९।२३ ।
३ गीता ११।३ ।

द–परमाव्ययात्मिकाविद्या और योग (३) —

अब क्रमप्राप्त योगानुगत तृतीय विवर्त्त की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है। इस विवर्त्त का मूलाधार है–'परमाव्यय', जिसका अर्थ निकलता है–'अक्षरात्मक अव्यय'। यह कहा जा चुका है कि 'पर' शब्द जैसे 'अव्यय' का वाचक है, तथैव 'परम' शब्द अक्षर का संग्राहक है। ऐसे इस अक्षरात्मक अव्ययात्मा से सम्बन्ध रखने वाला योग एवं तदनुगता विद्या कई कारणों से असर्व मानी गई है। अक्षरात्मक अव्यय को हम अक्षर सम्बन्ध से 'परमाव्यय' कहेंगे। चूंकि परमाव्यय असर्वभावापन्न है, अतएव इस परमाव्ययसंस्था को भी हम असर्वाव्ययात्मिकासंस्था ही मानेंगे। इस संस्था की असर्वता का पहला कारण है इसका ज्ञानैकप्राधान्य। जैसा कि, अनुपद में ही बतलाया जाने वाला है–अक्षरात्मा का ज्ञान कर्म्मप्रतिच्छाया से न विशुद्ध ज्ञान ही है, न विशुद्ध कर्म्म ही है। ज्ञान-कर्म्म का मूलाधिष्ठाता 'पराव्ययात्मा' माना गया है। आनन्द-विज्ञान-मनोघन वही अव्ययात्मा अर्द्धभाग से विशुद्ध ज्ञानात्मा है एवं मनःप्राणवाग्घन वही अव्ययात्मा अपने अर्द्धभाग से विशुद्ध कर्म्मात्मा है। उभयसमष्टि ही विशुद्ध ज्ञान-कर्म्मघन पराव्ययात्मा है। परात्परलक्षणा सर्वाव्यय नाम की प्रथमा संस्था में अव्यय का ही ज्ञान है, अव्यय का ही कर्म्म है। इसी समत्व के कारण वह संस्था सर्वाव्ययात्मसंस्था कहलाई है। पराव्ययलक्षणा असर्वाव्यय नाम की पूर्वनिर्दिष्टा द्वितीया संस्था में यद्यपि अव्यय का कर्म्म नहीं है, तथापि वहाँ अव्यय का ज्ञान अंशरूप से (आनन्द-विज्ञान-मनोमयरूप से) प्रतिष्ठित है। इस अव्ययज्ञान की दृष्टि से उसे विशुद्ध ज्ञानात्मिका कहा जा सकता है। साथ ही उसमें आत्मक्षरात्मक वागापोऽग्निरूप कर्म्म समाविष्ट है, जो कर्म्म अव्यय के मनः-प्राण-वाग्घन विशुद्धकर्म्म की ही वैकारिक अवस्था है।

इस प्रकार अव्यय के ही आनन्द-विज्ञान-मनोमय विशुद्ध अंशज्ञान एवं अव्यय के ही आत्मक्षरभुक्त वागापोऽग्निरूप वैकारिक कर्म के समावेश से पराव्ययात्मसंस्था समत्व से युक्त है। विषमता केवल यही है कि ज्ञान-कर्म्म के क्षेत्र विभिन्न हैं। परन्तु प्रकृत परमाव्ययसंस्था में न अव्यय का विशुद्ध ज्ञान है, न अव्यय का कर्म्म है। है तो केवल अव्यय के विशुद्ध कर्म्मरूप की वैकारिक अवस्था। मनः-प्राण-वाग्घन अव्यय ही अंशरूप से इस परमाव्यय की मूलप्रतिष्ठा बनता है, अतएव अक्षर को मनः-प्राण-वाङ्मय' कहा जाता है। मनः-प्राण-वाक् का सन्निवेश यहाँ ज्ञान-कर्म, उभयरूप से हुआ है, अतएव न यहाँ ज्ञान ही व्यक्त है, न कर्म्म ही व्यक्त है। अपि तु, अक्षरात्मा का ज्ञान भी अव्यक्त है, कर्म्म भी अव्यक्त है, अतएव इसे अव्यक्तात्मा मान लिया जाता है, जैसा कि–**'अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तः'**–से स्पष्ट है। अव्ययात्मा का केवल कर्म्मभाग यहाँ अंशतः ज्ञान बन रहा है। अव्ययदृष्टया यह ज्ञान जहाँ कर्म्म है, वहाँ अक्षरव्यापार का सञ्चालन चूंकि इसी से होता है, अतएव अक्षरदृष्टया यही कर्म्म-ज्ञान है, अतएव न इसे विशुद्धज्ञान ही कहा जा सकता, ना ही इसे विशुद्ध कर्म्म ही माना जा सकता। यही मनः-प्राण-वाङ्मय अक्षरात्मा की अव्यक्तता है, अतएव च–यह सर्वथा समभाव से बहिष्कृत है, अतएव च–यह असर्वभावापन्न है। इसलिए स्थानदृष्टया इसे चतुर्थस्थान दिया गया है। अक्षरात्मलक्षण परमाव्यय की इसी असर्वता को लक्ष्य बनाकर तदनुगता योगात्मिका विद्या का हमें समन्वय करना है। अपने अव्यक्त-

भाव के कारण ही यह परमाव्ययात्मा निर्गुणभावापन्न बन रहा है। यही अक्षरज्ञान, किंवा निर्गुणाक्षर जीवात्मा की मूलप्रतिष्ठा बनता है, अतएव इसी दृष्टि से हम इसे 'जीवाव्यय' कह सकते हैं। कारण स्पष्ट है। अक्षर ही गीताशास्त्र में 'पराप्रकृति' कहलाया है एवं–**'जीवभूतां महाबाहो ! ययेदं धार्य्यते जगत्'**–के अनुसार इसी को जीवस्वरूपसमर्पक माना गया है। इसी आधार पर योगानुगता यह तृतीया विद्या निर्गुणात्मविद्या, जीवात्मविद्या, आदि नामों से भी व्यवहृत की जा सकती है। अव्यक्तभावानुगता विषमता पहली असर्वता, केवल ज्ञानप्राधान्यानुगता विषमता दूसरी असर्वता। इसलिए यह तृतीयात्म-संस्था सर्वात्मना असर्वाव्ययात्मसंस्था बन रही है।

परात्पर-अव्यय-आत्मक्षरगर्भिता, अक्षरप्रधाना यह विद्या 'जीवाव्ययात्मविद्या' कहलाई है एवं तदनुगत योग–'जीवाव्ययात्मयोग' कहलाया है। इस आत्मस्वरूप के स्वाभाविक विकास को–अन्तर्ज्योति-र्लक्षण ज्ञानप्रकाश को आवृत करने वाला आवरण ही 'मोह' कहलाया है। तमोगुणप्रधान, आवरणलक्षण, मोहात्मक अविद्याभाग के पाशबन्धन से सर्वथा विमुक्त, अतएव अपने अन्तर्ज्योतिर्भाग (ज्ञानभाग) से पूर्ण विकसित, विना किसी पाशबन्धन के (अन्तर्य्यामलक्षण चितिबन्धनात्मक ग्रन्थिबन्धन के) केवल विभूतिसम्बन्ध से (बहिर्य्यामलक्षणयोगबन्धनात्मक संशरबन्धन से) आध्यात्म के खण्डात्म प्रपञ्चों में सामान्यरूप से–किन्तु वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञ नामक जीवात्मपर्वों में विशेषरूप से (केवल ज्ञानरूपेण) अवस्थित, स्वज्ञानभाग से विकसित, किन्तु कर्म्मभाग से अविकसित, अतएव अर्द्धतृप्तिलक्षण तुष्टिगुण से युक्त, परात्पर-अव्यय-आत्मक्षरगर्भित, अक्षरानुगत अव्यक्तबलविशिष्ट अव्ययानुगत अव्यक्तरसलक्षण परमाव्ययपुरुष (अक्षरपुरुष) नामक असर्वाव्ययात्मा का सहजसिद्ध तुष्ट-अन्तर्ज्योतिःस्वरूप अन्तर्ज्ञान ही परमाव्ययात्मिका आत्मविद्या का सिद्धावस्थापन्न स्वरूपलक्षण है। जिस लक्षण का 'मनः-प्राण-वाङ्मयत्व' पर पर्य्यवसान माना गया है। यहाँ अन्य कर्म्म का अभाव है। मनः-प्राण-वाङ्मय विद्याभाग ही यहाँ अपने अव्यक्तरूप से कर्म्म बना हुआ है, जैसा कि पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है, अतएव ज्ञानात्मक (विद्यात्मक-मनःप्राणवाङ्मय) परमाव्ययलक्षण असर्वाव्ययात्मा से परिगृहीत मनःप्राण-वाङ्मय अक्षरात्मक सहजसिद्ध निवृत्तिलक्षण कर्म्म ही असर्वाव्ययात्मक इस आत्मयोग का स्वरूपलक्षण है। तात्पर्य्य जो लक्षण इसकी आत्मविद्या का है, वही लक्षण इसके आत्मयोग का है। परमाव्ययानुगता सिद्धा आत्मविद्या एवं सिद्धयोग उभयसमष्टिलक्षण विद्या-योगात्मक नित्यसिद्ध परमाव्ययलक्षण असर्वाव्ययात्मा ही तृतीय आत्मसोपान है।

'विज्ञानात्मा' नाम से प्रसिद्ध बुद्धितत्त्व के चार विद्या-विवर्तों में से जिस विद्या-विवर्त्त से उक्त आत्मविद्या का स्वरूप सुरक्षित रहता है, वह बुद्धिविद्या किंवा विद्याबुद्धि ही सिद्ध-विद्योदय का हेतु बनती हुई साध्य-विद्या कहलाई है, जिसे–'ज्ञानविद्या' (ज्ञानविद्योदयहेतुभूताविद्या) कहा जा सकता है। इसी विद्या-बुद्धि के साध्यविद्याभाग से सञ्चालित निवृत्तकर्म्मलक्षण वह कर्म्म–जो सिद्ध आत्मयोग को सुरक्षित रखता है साध्ययोग है, जिसे 'ज्ञानबुद्धियोग' (ज्ञानयोगोदयहेतुभूतबुद्धियोग) कहा जा सकता है। निष्कर्ष यही है कि बुद्ध्यनुगता साध्या विद्या से युक्त बुद्ध्यनुगत साध्य ज्ञानयोग से आत्मानुगत सिद्धविद्यायुक्त सिद्धयोग 'तुष्टि' गुण से अनुगृहीत हो जाता है। सांख्यभाषा में यही आत्मानुग्रह कहलाया

है, जो ज्ञानवादियों के द्वारा पदे-पदे व्यवहृत 'सन्तोषः' शब्द से प्रतिध्वनित है। इस तुष्टिलक्षण संतोष से परमाव्ययलक्षण असर्वाव्ययात्मा सन्तुष्ट होकर अपने आपको कृतकृत्य मान लेता है।

तुष्टिगुणान्विता परमाव्ययलक्षणा असर्वाव्ययात्मिका सिद्धा आत्मविद्या (किंवा आत्मा का विद्याभाग) चूंकि अक्षरात्मानुगत है, अक्षरात्मा चूंकि अव्ययात्मा के मनः-प्राण-वाग्भाग से युक्त है, अतएव इस आत्मविद्या को भी मनः-प्राण-वाङ्मय ही माना जाएगा। परमाव्यय अपने स्वाभाविक अव्यक्तभाव के कारण द्वन्द्वातीत (ज्ञानकर्म्मातीत, केवल ज्ञानमय) बनता हुआ निर्गुण ब्रह्म है। कैसा आश्चर्य्य है कि जो अक्षर (प्रकृति) गुणात्मक है, वही यहाँ निर्गुण बन रहा है। द्वितीय संस्था का समन्वय करते हुए बतलाया गया है कि-**'विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान्'**-के अनुसार प्रकृति गुणात्मिका है। इसी प्रकृति को स्वगर्भ में रखने वाला पराव्यय जहाँ सगुणब्रह्म बन रहा है, वहाँ निर्गुण अव्ययब्रह्म को स्वगर्भ में रखने वाली वही प्रकृति (अक्षर) यहाँ निर्गुण बन गई है। **'गुणानां च परार्थत्वात्'**-न्याय से स्वगुण सदा परक्षेत्रानुगामी ही रहते हैं। प्रकृति के गुणों से पुरुष जहाँ सगुण है, वहाँ स्वयं प्रकृति अपने गुणों से निर्गुणा है। पुरुष जहाँ स्वतः निर्गुण है, वहाँ प्रकृति गुणसमन्वय से वह सगुण बना हुआ है। तुष्टिगुणान्वित परमाव्ययलक्षण असर्वाव्ययात्मक सिद्ध आत्मयोग (किंवा आत्मा का योग-कर्म्मभाग) भी पूर्वकथनानुसार मनःप्राणवाङ्मय ही है और यही इस तृतीयात्मविद्यासंस्था के सिद्ध-विद्यायोगविवर्तों का संक्षिप्त स्वरूप परिचय है।

तुष्टिगुणप्रवर्त्तिका, ज्ञानभावात्मिका साध्याबुद्धिविद्या (किंवा बुद्धि का विद्याभाग) परमब्रह्मानन्यता (निर्गुणब्रह्मानन्यता) लक्षणा, अविद्याविवर्जिता, अन्यमनस्कतावियुक्ता, जड़तारहिता 'निवृत्ति' है एवं तुष्टिगुणप्रवर्त्तक-ज्ञानभावात्मक-साध्यबुद्धियोग (किंवा बुद्धि का योग-कर्म्मभाग) परमब्रह्मानन्यतानुगत-अविद्याविवर्जित-अन्यमनस्कतावियुक्त-निवृत्तकर्म्म है। निवृत्तिलक्षणा साध्या बुद्धिविद्या से परमाव्ययसंस्था की मनःप्राणवाङ्मयी आत्मविद्या का सम्बन्ध है एवं निवृत्तकर्म्मलक्षण साध्यबुद्धियोग से परमाव्ययसंस्था के मनःप्राणवाङ्मय आत्मयोग का सम्बन्ध है। इसी आधार पर परमाव्ययलक्षण असर्वाव्ययात्म-नाम की इस तृतीयसंस्था से सम्बन्ध रखने वाली सिद्ध-साध्यविद्याओं के एवं सिद्ध-साध्ययोगों के निम्नलिखितलक्षण किए जा सकते हैं—

१-

१-तुष्टिगुणान्वितत्वे सति—मनःप्राणवाङ्मयत्वम्-परमाव्ययानुगतसिद्धविद्यात्वम्।

२-तुष्टिगुणान्वितत्वे सति—मनःप्राणवाङ्मयत्वम्-परमाव्ययानुगतसिद्धयोगत्वम्।

२-

१-तुष्टिगुणप्रवर्त्तकत्वे सति—परमाव्ययानन्यतालक्षण-अविद्याविवर्जित-अन्यमनस्कतावियुक्त-जडतारहित-निवृत्तित्वम्-ज्ञानबुद्धयनुगतसाध्यविद्यात्वम्।

२-तुष्टिगुणप्रवर्त्तकत्वे सति—परमाव्ययानन्यतानुगत-अविद्याविवर्जित-अन्यमनस्कतावियुक्त-जडतारहित-निवृत्तकर्म्मत्वम्-ज्ञानबुद्धयनुगतसाध्ययोगत्वम्।

परमाव्ययलक्षणा असर्वाव्ययात्मानुगता विद्या 'ज्ञानविद्या' है एवं तदनुगतयोग 'ज्ञानयोग' है । इन दोनों सिद्धावस्थापन्न विद्या-योगों के स्वरूपसंरक्षक बुद्धचनुगत साध्यावस्थापन्न विद्या-योग भी इन्हीं नामों से व्यवहृत हुए हैं । ज्ञानबुद्धिविद्या से ज्ञानात्मविद्या का विकास होता है एवं ज्ञानबुद्धियोग से ज्ञानात्मयोग का विकास होता है । आत्मा एवं बुद्धिभेद से सिद्ध-साध्य, दो भागों में विभक्त यही आत्मविद्या 'असर्वाव्ययात्मविद्या' है, जिसे हम 'परम' अक्षर की अपेक्षा से 'परमात्मविद्या' भी कह सकते हैं । इस विद्या के प्रथम आविष्कर्त्ता तिर्य्यक्-जातियों में 'सिद्ध' नाम से प्रसिद्ध जातिविशेष में उत्पन्न 'कपिल' नामक सिद्धपुरुष (सिद्धजाति के पुरुष) थे, अतएव यह विद्या **'कपिलविद्या'** नाम से व्यवहृत की जा सकती है । इस विद्या के साध्यपर्व (ज्ञानबुद्धि) से सिद्धपर्व में सहजसिद्ध तुष्टिगुण का विकास होता है, अतएव गुणापेक्षया इसे **'तुष्टिविद्या'** कहा जा सकता है । इस विद्या का फल है-अविद्यानिवृत्तिलक्षण निवृत्तकर्म्मों से प्राप्त होने वाला ज्ञानविकास, अतएव फलापेक्षया इसे **'ज्ञानविद्या'** कहा जा सकता है । इस विद्या का परम्परया ज्ञानसिद्ध महात्माओं में ही विशेषरूप से प्रचार-प्रसार रहा है, अतएव शिष्यपरम्परापेयक्षा इसे **'सिद्धविद्या'** कहा जा सकता है । इस विद्या का अपने ज्ञाननिष्ठ शिष्यों के प्रति द्वापरयुग में सर्वप्रथम उपदेश हुआ था, अतएव युगापेक्षया इसे **'द्वापरविद्या'** कहा जा सकता है । अक्षर ही जीवस्वरूपसमर्पक है । यह विद्या परमाक्षरप्रधाना है, अतएव आत्मदृष्टया इसे-**'जीवात्मविद्या'**-कहा जा सकता है । इस प्रकार परमाव्ययलक्षणा असर्वाव्ययात्मिका यह तृतीया विद्या अपेक्षाभेद से विभिन्न नामों से व्यवहृत की जा सकती है । जो विभिन्न नाम इस आत्मविद्या (सिद्धविद्या) के हैं, वे ही नाम बुद्धिविद्या (ज्ञानबुद्धि नामक साध्यविद्या) के हैं । एवमेव आत्मविद्यानुगत सिद्धयोगों के नामों का भी उसी अनुपात से समन्वय किया जा सकता है । प्रवर्त्तकापेक्षया-**कपिलयोग**, गुणापेक्षया **तुष्टियोग,** फलापेक्षया **ज्ञानयोग**, शिष्यपरम्परापेक्षया सिद्धयोग, युगापेक्षया **द्वापरयुगयोग** एवं आत्मापेक्षया **'जीवात्मयोग'**-इन नामों से इस सिद्ध तथा साध्ययोग को व्यवहृत किया जा सकता है । भगवद्गीता के ७-८-इन दो अध्यायों में इस ज्ञानयोगानुगता ज्ञानविद्या नाम की तृतीय विद्या का विश्लेषण हुआ है । इस योगात्मिका विद्या के द्वारा ज्ञानी मानव को ज्ञानवान् श्रीकृष्ण की ओर से जो आदेश मिला है, वह निम्नलिखित गीतावचनों से प्रतिध्वनित है, जिन वचनों का तात्त्विक विश्लेषण गीताभूमिका बुद्धियोगपरीक्षा पूर्वखण्ड में द्रष्टव्य है—

३-कपिलविद्यानिष्कर्षः—

१-"मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः ।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु ।।[1]

२-तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ।।[2]

---

१ गीता ७।१ । २ गीता ७।१७ ।

३–बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ।।[1]

४–मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् ।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ।।[2]

५–अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना ।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन् ।।[3]

६–वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव,
दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम् ।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा,
योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम् ।।[4]

७–मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये ।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः" ।।[5]



उक्त तृतीया विद्या के अपेक्षाभेदभिन्न जो विभिन्न नाम पूर्व में उद्धृत हुए हैं, निम्नलिखित गीतावचन उन नामों के मूल माने जा सकते हैं—

(१) प्रवर्त्तकापेक्षया–'कपिलयोगानुगता-कपिलविद्या' ।

तन्मूलम्–"मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये ।
यततामपि 'सिद्धानां' कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः" ।।[6]

(२) गुणापेक्षया–'तुष्टियोगानुगता-तुष्टिविद्या' ।

तन्मूलम्–"यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति ।
'तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्" ।।[7]

१ गीता ७।१९ । २ गीता ८।१५ । ३ गीता ८।८ ।
४ गीता ८।२८ । ५ गीता ७।३ । ६ गीता ७।३ ।
७ गीता ७।२१ ।

(३) फलापेक्षया–'ज्ञानयोगानुगता-ज्ञानविद्या' ।

तन्मूलम्–"उदाराः सर्व एवैते 'ज्ञानी' त्वात्मैव मे मतम् ।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्" ।।[1]

(४) शिष्यपरम्परापेक्षया–'सिद्धयोगानुगता-सिद्धविद्या' ।

तन्मूलम्–"मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् ।
नाप्नुवन्ति महात्मानः 'संसिद्धिं' परमां गताः" ।।[2]

(५) युगापेक्षया–'द्वापरयुगयोगानुगता-द्वापरयुगविद्या' ।

तन्मूलम्–"त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत् ।
'मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम्" ।।[3]

(६) आत्मापेक्षया–'जीवात्मयोगानुगता-जीवात्मविद्या' ।

तन्मूलम्–"अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ।
'जीवभूतां' महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्" ।।[4]

१–प्रवर्त्तकापेक्षया———→कपिलयोगः, कपिलविद्या ।

२–गुणापेक्षया————→तुष्टियोगः, तुष्टिविद्या ।

३–फलापेक्षया————→ज्ञानयोगः, ज्ञानविद्या ।

४–शिष्यपरम्परापेक्षया—→सिद्धयोगः, सिद्धविद्या ।

५–युगापेक्षया————→द्वापरयुगयोगः, द्वापरयुगविद्या ।

६–आत्मापेक्षया———→जीवात्मयोगः, जीवात्मविद्या ।

सैषा–परमाव्ययलक्षणा-असर्वाव्ययात्मिका-योगानुगता तृतीया विद्या ।

।। ३ ।।

१ गीता ७।१८ । २ गीता ८।१५ ।
३ गीता ७।१३ । ४ गीता ७।५ ।

ध–अवराव्ययात्मिका विद्या और योग (४)—

अब क्रमप्राप्त योगानुगत चतुर्थ विवर्त्त को लक्ष्य बनाइए। इस अन्तिम विवर्त्त की मूलप्रतिष्ठा अवराव्यय माना जाएगा। **अवर** शब्द आत्मक्षर का ग्राहक है, अव्ययशब्द पराव्यय का सूचक है। फलतः **अवराव्यय** का अर्थ निकलता है–**आत्मक्षरात्मक अव्यय**। एवंविध (अक्षरात्मक) इस अव्ययात्मा से सम्बन्ध रखने वाला आत्मयोग एवं तदभिन्ना आत्मविद्या द्वितीय-तृतीय विवर्त्तों की भाँति **असर्व** ही मानी गई है। जिस प्रकार पूर्वप्रतिपादिता तृतीयसंस्था में अव्यक्तात्मक मनः-प्राण-वाङ्मय अक्षरज्ञान की प्रधानता रहती है, अतएव कर्म्मगौणता से जैसे वह संस्था असर्व कहलाई है, एवमेव इस चतुर्थ संस्था में व्यक्तात्मक वाक्-आपः-अग्निमय क्षरकर्म्म की ही प्रधानता है, अतएव ज्ञानगौणता से यह संस्था असर्व बन रही है। बात समझने की है। ज्ञान सुसूक्ष्म होने से 'अव्यक्त' माना गया है एवं कर्म्म स्थूल होने से व्यक्त माना गया है। इसी आधार पर यह परिभाषा बन गई है कि अव्यक्तशब्द ज्ञान का वाचक है, व्यक्त शब्द कर्म्म का सूचक है। तृतीय संस्था का मूलप्रतिष्ठारूप पराव्यय अव्यक्ताक्षर प्रधान है, अतएव उस संस्था का कर्म्म भी अव्यक्त धर्म्मत्वेन ज्ञानात्मक ही बन रहा है, अतएव च–वहाँ की विद्या भी ज्ञानात्मिका है एवं कर्म्म भी ज्ञानात्मक ही है। इस चतुर्थ संस्था का मूलप्रतिष्ठारूप अवराव्यय व्यक्त आत्मक्षर है, अतएव इस संस्था का ज्ञान भी व्यक्तधर्म्मत्वेन कर्म्मात्मक ही बन रहा है, अतएव च–यहाँ की विद्या भी कर्म्मात्मिका ही है एवं कर्म्म भी कर्म्मात्मक ही है। ज्ञान-कर्म्म के समसमन्वय से समता का उदय होता है, समता से पूर्णतालक्षणा सर्वता का उद्गम होता है। तृतीय संस्था में ज्ञान-कर्म्म समसमन्वय का अभाव था, वहाँ केवल अव्यक्त ज्ञान का ही प्राधान्य था, अतएव उसे असर्व माना गया। एवमेव इस चतुर्थ संस्था में भी ज्ञान-कर्म्म समन्वय का अभाव है। यहाँ केवल व्यक्त कर्म्म का ही प्राधान्य है, अतएव इसे भी असर्व ही माना जाएगा।

वाक्-आपः-अग्नि, इन तीन शुक्रों की समष्टि ही 'आत्मक्षरात्मा' है। इन तीनों शुक्रों के अमृत-मर्त्य भेद से दो-दो विवर्त्त हो जाते हैं। इन ६ अमृत-मर्त्यशुक्रों का प्राकृतिक भौतिक विश्व में–वाक्-आपः-अग्निः, अग्निः-आपः-वाक्–इस क्रम से सन्निवेश हो रहा है। आरम्भ की शुक्रत्रयी अमृता है, इससे अमृत-विश्व का स्वरूपनिर्म्माण हुआ है। अन्त की शुक्रत्रयी मर्त्या है, इससे मर्त्य विश्व का स्वरूप निर्म्माण हुआ है। अमृता वाक् प्राणमय स्वयम्भू की जननी है, अमृता आपः आपोमय परमेष्ठी की जननी है, अमृत अग्नि, मर्त्य अग्नि–दोनों मध्यस्थ अमृत-मर्त्यात्मक सूर्य्य के जनक हैं, मर्त्या आपः अन्नमय चन्द्रमा की जननी है एवं अन्त की मर्त्यावाक् अन्नादमयी पृथिवी की जननी है। इस प्रकार अमृत-मर्त्यभावापन्न शुक्रषट्क से भौतिक विश्व का स्वरूप सम्पन्न हो रहा है। **क्षरः सर्वाणि भूतानि**–के अनुसार आत्मक्षरात्मक शुक्रषट्क भूतात्मक है। इस भूतात्मक शुक्रषट्क से ही चूंकि इस पञ्चावयव विश्व का स्वरूपनिर्म्माण हुआ है, अतएव इसे–**'भौतिक भूत से उत्पन्न विश्व'**–कहा जाता है।

उक्त पाञ्चभौतिक शुक्रमय विश्व के मर्त्यवाङ्मय पृथिवी पर्व में अग्नि का प्राधान्य है। यही अग्नितत्त्व विश्वकर्म्मात्मक विश्वयज्ञ के 'होता' बनते है। मर्त्य आपोमय चन्द्रमा में अन्नात्मक सोम का

प्राधान्य है। यही विश्व यज्ञ के 'ब्रह्मा' बनते हैं। अमृत-मर्त्याग्नि सूर्य्य उद्गाता बनते हैं। सन्निगत वायु अध्वर्यु बनते हैं। पारमेष्ठ्य सोम आहुति द्रव्य बनता है। स्वायम्भुव परमाकाश धरातल महावेदि बनता है। इन सब साधन-सामग्रियों से विश्वकर्म्मात्मक वह विश्वयज्ञ सञ्चालित है, जिसे 'सर्वहुत यज्ञ' कहा जाता है। यही सर्वहुतयज्ञ प्राकृतिक कर्म्म है। इसी प्राकृतिक कर्म्म से विश्व स्व-स्वरूप से प्रतिष्ठित है। यही यज्ञकर्म्म ईश्वरीय प्रवृत्तकर्म्म कहलाया है। यज्ञकर्म्माधिष्ठाता व्यक्त आत्मक्षर भूतात्मक है, अतएव चतुर्थसंस्था के आधारभूत इस अवराव्ययात्मा को हम 'भूतात्मा' कह सकते हैं। इसी आधार पर इस चतुर्थी योगानुगता विद्या को यज्ञात्मविद्या, भूतात्मविद्या आदि नामों से व्यवहृत किया सकता है। इसी विश्लेषण को लक्ष्य बनाकर इस संस्था के सिद्ध-साध्य विवर्त्तों का समन्वय अपेक्षित है।

परात्पर-अव्यय-अक्षर-गर्भिता, आत्मक्षरप्रधाना यह विद्या क्षरात्मक भूतधर्म्म की अपेक्षा से 'भूतात्मविद्या' कहलाई है एवं तदनुगतयोग 'भूतात्मयोग' माना गया है। इस विद्यायोगात्मक भूतात्मा के स्वाभाविक विकास को–कर्म्मसमृद्धिलक्षणा पूर्णता को–आवृत करने वाला आवरण ही 'शून्यता' नाम से व्यवहृत हुआ है। विशुद्ध तमोगुणात्मक, आवरणलक्षण, शून्यतात्मक अविद्याभाग के पाशबन्धन से एकान्ततः विमुक्त, अतएव अपने कर्म्मसमृद्धिलक्षणपूर्णताभाग (विद्याभाग) से सर्वात्मना समृद्ध, विना किसी पाशबन्धन के (अन्तर्य्यामलक्षण चितिबन्धनात्मक ग्रन्थिबन्धन के) केवल विभूतिसम्बन्ध से (बहिर्य्यामलक्षण योगबन्धनात्मक संशरबन्धन से) आध्यात्मिक खण्डात्मप्रपञ्चों में सामान्यरूप से अवस्थित, किन्तु पाञ्चभौतिक शरीरयुक्त पार्थिव वैश्वानरात्मा में विशेषरूप से अपने कर्म्मभाग से अवस्थित, स्वकर्म्मभाग से सुसमृद्ध, किन्तु ज्ञानभाग से असमृद्ध, अतएव कर्म्मानुगत केवल भुक्तिगुण से युक्त, परात्पर-अव्यय-अक्षर-गर्भित, आत्मक्षरानुगत व्यक्तबलविशिष्ट-अव्ययानुगत उन्मुग्धरसलक्षण अवराव्ययपुरुष (आत्मक्षरपुरुष) नामक असर्वाव्ययात्मा का सहजसिद्ध-भुक्तिगुणान्वित कर्म्मात्मक-कर्म्म-समृद्धिलक्षण पूर्णभाव ही इस अवराव्ययात्मिका आत्मविद्या का सिद्धावस्थापन्न स्वरूपलक्षण है। जिस लक्षण का 'वागापोऽग्निमयत्व' पर पर्य्यवसान माना गया है। तृतीय संस्थावत् यहाँ अन्य ज्ञान का अभाव है। वागापोऽग्निमय कर्म्म ही यहाँ अपने उक्थरूप से अव्यक्तावस्था में रहता हुआ ज्ञान बन रहा है, जैसा कि आरम्भ में ही स्पष्ट किया जा चुका है, अतएव कर्म्मात्मक (योगात्मक-वागापोऽग्निमय) अवराव्ययलक्षण असर्वाव्ययात्मा से परिगृहीत वागापोऽग्निमय आत्मक्षरात्मक सहजसिद्ध प्रवृत्तिलक्षण-कर्म्म ही इस आत्मयोग का सिद्धावस्थापन्नस्वरूपलक्षण है। निष्कर्षतः तृतीय विद्या में ज्ञानप्रधान-मनःप्राणवाङ्मयत्व ही जैसे वहाँ की विद्या एवं वहाँ के योग का–दोनों का स्वरूपलक्षण था, एवमेव इस चतुर्थसंस्था में कर्म्मप्रधान वागापोऽग्निमयत्व ही विद्या का लक्षण है एवं यही योग का लक्षण है। तृतीयसंस्था के विद्या-योग, दोनों विवर्त्त जहाँ ज्ञानप्रधान थे, वहाँ इस चतुर्थसंस्था के विद्या-योग, दोनों विवर्त्त कर्म्मप्रधान हैं, यही वक्तव्य है। अवराव्ययात्मानुगता सिद्धा आत्मविद्या एवं सिद्ध आत्मयोग, उभयसमष्टिलक्षण-विद्या-योगात्मक-नित्यसिद्ध अवराव्ययलक्षण यह असर्वाव्ययात्मा ही चतुर्थ किंवा अन्तिम आत्मसोपान है।

'विज्ञानात्मा' नामक बुद्धितत्त्व के चार विद्या-विवर्त्तों में से जिस विद्या-विवर्त्त से उक्त आत्म-विद्या का स्वरूप सुसमृद्ध बना रहता है, वह बुद्धिविद्या-किंवा विद्याबुद्धि ही सिद्धविद्योदय का हेतु बनती

हुई साध्यविद्या कहलाई है, जिसे 'धर्म्मविद्या' (धर्म्मविद्योदयहेतुभूताविद्या) कहा जाएगा। इसी विद्याबुद्धि के साध्यविद्याभाग से सञ्चालित प्रवृत्तलक्षण वह कर्म्म जो सिद्ध आत्मयोग को सुसमृद्ध बनाए रहता है–साध्ययोग है, जिसे 'धर्म्मबुद्धियोग' (धर्म्मयोगोदयहेतुभूतबुद्धियोग) कहा जाएगा। तात्पर्य्य कहने का यही है कि बुद्ध्यनुगता साध्या धर्म्मविद्या से युक्त बुद्ध्यनुगत साध्य धर्म्मयोग से भूतात्मानुगत सिद्धविद्यायुक्त सिद्धयोग भुक्तिगुण से अनुगृहीत हो जाता है। योगभाषा में यही भूतानुग्रह कहलाया है, जो कर्म्मवादियों के द्वारा पदे-पदे–**'सैषा-भुक्तिः-सैषा समृद्धिः'**–आदि शब्दों से प्रतिध्वनित है। इस भुक्तिलक्षणा समृद्धि से अवराव्ययलक्षण असर्वाव्ययात्मा समृद्ध बनकर अपने आपको अभ्युदय की पराकाष्ठा पर पहुँचा हुआ मान लेता है।

भुक्तिगुणान्विता-अवराव्ययलक्षणा-असर्वाव्ययात्मिका-सिद्धा आत्मविद्या (किंवा आत्मा का विद्या-ज्ञानभाग) चूंकि आत्मक्षरानुगत है, आत्मक्षरात्मा चूंकि व्यक्तक्षरात्मा के (अपने आपके) वाक्-आपः-अग्निभागों से युक्त है, अतएव इस आत्मविद्या को भी वागापोऽग्निमय ही माना जाएगा। यह अवराव्यय अपने स्वाभाविक व्यक्तभाव के कारण द्वन्द्वात्मक विश्व का मूल बनता हुआ विकारब्रह्म है, अतएव तद्रूप भूतात्मा को भी 'विकारब्रह्म' ही कहा जाएगा। अञ्जनभाव का भी इसी विकारभाव में अन्तर्भाव माना गया है। अञ्जन-परिग्रह से ही चूंकि 'आत्मा-प्राण-पशु' लक्षणा प्रजापतिसंस्था का विकास होता है, अतएव इस सविकार-साञ्जन-अवराव्ययात्मक यज्ञकर्म्माधिष्ठाता भूतात्मा को 'प्रजापति' नाम से भी व्यवहृत किया जा सकता है। **'सह यज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवा प्रजापतिः'**–इस गीता वचन में उद्धृत यज्ञ एवं यज्ञानुगता प्रजा का आविर्भावक प्रजापति यही भूतात्मा नामक विकारब्रह्म है, जिसके पञ्चावयव-प्रजोत्पादक-'विश्वदानि' यज्ञापरपर्य्यायक सर्वहुतयज्ञ का आत्मा में ही दिग्दर्शन कराया जा चुका है। भुक्तिगुणान्वित-अवराव्ययलक्षण-असर्वाव्ययात्मक-सिद्ध आत्मयोग (किंवा आत्मा का योग-कर्म्मभाग) भी पूर्वकथनानुसार वागापोऽग्निमय ही है। और यही इस तृतीयात्मविद्यासंस्था के सिद्ध-विद्या, योगविवर्त्तों का संक्षिप्तस्वरूप-विश्लेषण है।

अब दो शब्दों में साध्य-विद्या योगविवर्त्तों का भी स्वरूप-परिचय प्राप्त कर लीजिए। भुक्ति-गुणप्रवर्त्तिका-धर्म्मभावात्मिका-साध्या बुद्धिविद्या (किंवा बुद्धि का विद्या-ज्ञानभाग), अवरब्रह्मानन्यता (प्राजापत्यनन्यता) लक्षणा, अभिनिवेशविवर्जिता, दुराग्रहवियुक्ता, उच्छृङ्खलता-रहिता-'प्रवृत्ति' है एवं भुक्तिगुणप्रवर्त्तक-धर्म्मभावात्मक-साध्यबुद्धियोग (किंवा बुद्धि का योग-कर्म्मभाग) अवरब्रह्मानन्यतानुगत अभिनिवेशवर्जित-दुराग्रहवियुक्त-उच्छृङ्खलता-रहित-'प्रवृत्तकर्म्म' है। प्रवृत्तिलक्षण साध्याबुद्धिविद्या से अवराव्ययसंस्था की वागापोऽग्निमयी आत्मविद्या का सम्बन्ध है एवं प्रवृत्तकर्म्मलक्षण साध्यबुद्धियोग से अवराव्ययसंस्था के वागापोऽग्निमय आत्मयोग का सम्बन्ध है। इस प्रकार साध्यविद्या सिद्धविद्या से एवं साध्ययोग सिद्धयोग से समतुलित हो रहा है। यही समतुलन वह तत्त्व है, जिसके यथानुरूप समन्वय के विना योगानुगता विद्याचतुष्टयी का मर्म्म तिरोहित बना रह जाता है। साम्प्रदायिक व्याख्याओं के लिए चूंकि यह वैज्ञानिक-समन्वय असंस्पृष्ट रहा है। यही कारण है कि गीता की यह योगात्मिका विद्याचतुष्टयी मानवसमाज के लिए एक असमावेया प्रश्नावली बन रही है। आस्तां तावत्-

उक्त समन्वय के आधार पर ही अवराव्ययलक्षण-असर्वाव्ययात्मनाम की इस चतुर्थसंस्था से सम्बन्ध रखने वाले सिद्ध-साध्यविद्या के तथा सिद्धयोग के निम्नलिखित लक्षण किए जा सकते हैं—

१–
१–मुक्तिगुणान्वितत्वे सति–वाक्-आपः-अग्निमयत्वम्-अवराव्ययानुगतसिद्धविद्यात्वम् ।
२–मुक्तिगुणान्वितत्वे सति–वाक्-आपः-अग्निमयत्वम्-अवराव्ययानुगतसिद्धयोगत्वम् ।

२–
१–मुक्तिगुणप्रवर्त्तकत्वे सति–अवरब्रह्मानन्यतालक्षण-अभिनिवेशविवर्जित-दुराग्रहवियुक्त-उच्छृङ्खलता-रहितप्रवृत्तित्वम्-धर्म्मबुद्धयनुगतसाध्यविद्यात्वम् ।
२–मुक्तिगुणप्रवर्त्तकत्वे सति–अवरब्रह्मानन्यतालक्षण-अभिनिवेशविवर्जित-दुराग्रहवियुक्त-उच्छृङ्खलता-रहितप्रवृत्तकर्म्मत्वम्-धर्म्मबुद्धयनुगतसाध्ययोगत्वम् ।

अवराव्ययलक्षणा–असर्वाव्ययात्मानुगता-विद्या 'धर्म्मविद्या' है एवं तदनुगत योग 'धर्म्मयोग' (कर्म्मयोग) है । इन दोनों सिद्धावस्थापन्न विद्या-योगों के स्वरूप-संरक्षक बुद्धयनुगत-साध्यावस्थापन्न विद्या और योग भी इन्हीं सिद्ध नामों से व्यवहृत हुए हैं । धर्म्मबुद्धि-विद्या से धर्म्मात्मविद्या का विकास होता है एवं धर्म्मबुद्धियोग से धर्म्मात्मियोग विकसित होता है । आत्मा एवं बुद्धि के भेद से सिद्ध एवं साध्य–इन दो भागों में विभक्त यही आत्मविद्या 'असर्वाव्ययात्मविद्या' है, जिसे 'अवर' आत्मक्षर की अपेक्षा से 'अवरात्मविद्या' भी कहा जा सकता है । इस चतुर्थी विद्या के प्रथम आविष्कर्त्ता ब्रह्मर्षिकुल में उत्पन्न भगवान् हिरण्यगर्भ महर्षि थे, अतएव प्रवर्त्तकाचार्य्यापेक्षा से इसे–**'हिरण्यगर्भविद्या'**–कहा जा सकता है । इस विद्या के साध्यपर्व (धर्म्मबुद्धि) से सिद्धपर्व में सहजसिद्ध समृद्धिलक्षण मुक्तिगुण का विकास होता है, अतएव गुणापेक्षया इसे–**'मुक्तिविद्या'**–कहा जा सकता है । इस विद्यानुगति का फल है–अभिनिवेशनिवृत्तिलक्षण प्रवृत्तकर्म्मों (यज्ञकर्म्मों) से प्राप्त होने वाला प्राकृतिक धारणात्मक धर्म्म विकास, अतएव फलापेक्षया इसे **'धर्म्मविद्या'** कहा जा सकता है । इस विद्या का परम्परया ऋषिवंश-परम्परा में ही विशेषरूप से प्रचार-प्रसार रहा है, अतएव शिष्यपरम्परापेक्षया इसे–**'आर्षविद्या'**–कहा जा सकता है । इस विद्या का अपने कर्म्मनिष्ठशिष्यों (ब्राह्मणों) के प्रति त्रेतायुग में सर्वप्रथम उपदेश हुआ था, अतएव युगापेक्षया इसे **'त्रेतायुगविद्या'** कहा जा सकता है । आत्मक्षर ही अपने स्वाभाविक परमाणु-बहुत्व की अपेक्षा से 'भूतात्मक' है । चूँकि यह विद्या भूतलक्षण-क्षरप्रधाना है, अतएव आत्मापेक्षया इसे **'भूतात्मविद्या'** कहा जा सकता है । इस प्रकार अवराव्ययलक्षणा असर्वाव्ययात्मिका यह चतुर्थी विद्या अपेक्षाभेद से विभिन्न नामों से व्यवहृत की जा सकती है ।

जो विभिन्न नाम इस आत्मविद्या (सिद्धविद्या) के हैं, वे ही नाम बुद्धिविद्या (धर्म्मबुद्धिनामक साध्य-विद्या) के हैं। एवमेव आत्मविद्यानुगत सिद्धयोगों के नामों का भी विद्यानामानुपात से ही समन्वय कर लेना चाहिए। प्रवर्त्तकापेक्षया हिरण्यगर्भयोग, गुणापेक्षया भुक्तियोग, फलापेक्षया धर्म्मयोग, शिष्य-परम्परापेक्षया आर्षयोग, युगापेक्षया त्रेतायुगयोग एवं आत्मापेक्षया, भूतात्मयोग–इन नामों से इस सिद्ध तथा साध्ययोग को व्यवहृत किया जा सकता है। भगवद्गीता के १३–१४–१५–१६–१७–१८–इन ६ अध्यायों में धर्म्मयोगानुगता इस धर्म्मविद्या नाम की चतुर्थ विद्या का विस्तार से उपबृंहण हुआ है। इस योगात्मिका विद्या के धर्म्मिष्ठ-कर्म्मठ मानव को धर्म्म-कर्म्मरक्षक श्रीकृष्ण की ओर से जो तत्त्वोपदेश हुआ है, वह निम्नलिखित गीतावचनों से अनुमेय है, जिन वचनों का तात्त्विक उपबृंहण गीताभूमिका बुद्धियोगपरीक्षा पूर्वखण्ड में द्रष्टव्य है।

४–हिरण्यगर्भविद्यानिष्कर्षः—

१–"यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम्।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः ॥[1]

२–एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम् ॥[2]

३–तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ॥[3]

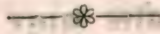
४–यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते ॥[4]

५–एतान्यपि तु कर्म्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ॥[5]

६–ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप।
कर्म्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥[6]

१ गीता १५।११। २ गीता १६।२२।
३ गीता १७।२४। ४ गीता १७।२७।
५ गीता १८।६। ६ गीता १८।४१।

७–तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म्म कर्तुमिहार्हसि" ॥[1]



उक्त चतुर्थ–विद्या के अपेक्षाभेदभिन्न जो विभिन्न नाम पूर्व में उद्धृत हुए हैं, निम्नलिखित गीतावचन उन नामों के मूलसूत्र माने जा सकते हैं—

(१) प्रवर्त्तकापेक्षया–'हिरण्यगर्भयोगानुगता-हिरण्यगर्भविद्या' ।

तन्मूलम्–"ऋषिभि'र्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक् ।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः" ॥[2]

(२) गुणापेक्षया–'भुक्तियोगानुगता-भुक्तिविद्या' ।

तन्मूलम्–"पुरुषः प्रकृतिस्थो हि 'भुङ्क्ते' प्रकृतिजान् गुणान् ।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु" ॥[3]

(३) फलापेक्षया–'धर्म्मयोगानुगता-धर्म्मविद्या' ।

तन्मूलम्–"अध्येष्यते च य इमं 'धर्म्यं' संवादमावयोः ।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः" ॥[4]

(४) शिष्यपरम्परापेक्षया–'आर्षयोगानुगता-आर्षविद्या' ।



तन्मूलम्–"ऋषिभि'र्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक् ।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ॥[5]

(५) युगापेक्षया–'त्रेतायुगयोगानुगता-त्रेतायुगविद्या' ।

❀

तन्मूलम्–"यज्ञ'दानतपः कर्म्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् ।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्" ॥[6]

---

१ गीता १६।२४ । २ गीता १३।४ । ३ गीता १३।२१ ।
४ गीता १८।७० । ५ गीता १३।४ । ६ गीता १८।५ ।

❀ 'यदार्षेयं'–तमृषिमुपधावेत्–छान्दोग्योप० १।३।६ ।

❀ 'तानि त्रेतायां बहुधा सन्ततानि'–मुण्डकोप० १।२।१ ।

(६) आत्मापेक्षया–'भूतात्मयोगानुगता-भूतात्मविद्या'।

तन्मूलम्–"द्वौ 'भूतसर्गौ' लोकेऽस्मिन् दैव आसुर एव च।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ 'मे' शृणु" ॥[1]



१–प्रवर्त्तकापेक्षया——→हिरण्यगर्भयोगः, हिरण्यगर्भविद्या।

२–गुणापेक्षया——→भुक्तियोगः, भुक्तिविद्या।

३–फलापेक्षया——→धर्म्मयोगः, धर्म्मविद्या।

४–शिष्यपरम्परापेक्षा——→आर्षयोगः, आर्षविद्या।

५–युगापेक्षया——→त्रेतायुगयोगः, त्रेतायुगविद्या।

६–आत्मापेक्षया——→भूतात्मयोगः, भूतात्मविद्या।

सैषा–अक्षराव्ययलक्षणा-असर्वाव्ययात्मिका-योगानुगता चतुर्थी विद्या

॥ ४ ॥

न–योगचतुष्टयानुगत-चातुर्विद्योपसंहारः—

प्राचीनाभिमता योगत्रयी का क्या स्वरूप है ? गीताशास्त्र ने प्रचलित योगत्रयी में क्या संशोधन किया ? गीताशास्त्रप्रतिपादिता योगानुगता एक ही आत्मविद्या के चार विवर्त्त किस आधार पर हो गए ? आध्यात्मिक चार आत्मविवर्त्तों का क्या स्वरूप है ? चार आत्मपर्वों के साथ बुद्धि के चार पर्व कैसे समन्वित हैं ? आत्मानुगता विद्या और योग का तथा बुद्ध्यनुगता विद्या और योग का क्या स्वरूप है, योगचतुष्टयानुगता विद्याचतुष्टयी का क्या स्वरूप है ? प्रकरणारम्भ से अब तक इन प्रश्नों के समाधान की चेष्टा हुई है। यही गीताशास्त्र की पञ्चम-शिक्षा है, जिसे हम मुख्य-प्रतिपाद्य विषय होने से 'मुख्यशिक्षा' कह सकते हैं। योगानुगता इन चार विद्याओं में से प्रथमा विद्या गीता की अपनी मुख्य-शिक्षा है एवं आगे की विद्यात्रयी गीता की गौण-शिक्षा है। लोकप्रचलित जिन तीन ज्ञान-कर्म्म-भक्ति-निष्ठाओं का संशोधनपूर्वक गीताशास्त्र में समावेश हुआ है, वह निष्ठात्रयी परमतापेक्षया गौण ही कही जाएगी। यह सब कुछ होने पर भी गौणशिक्षात्रयी का संशोधन चूंकि मुख्यशिक्षानुगता योगानुगता

---

१ गीता १६।६।

विद्या है, तीनों को भगवान् ने परात्परविद्यानुगता बुद्धियोगसम्पत् प्रदान की है, अतएव परमतलक्षणा भी गौणशिक्षात्रयी गीता का ही प्रतिपाद्यविषय मान लिया गया है। यही कारण है कि गौणशिक्षात्रयी के अन्य प्रवर्त्तकों के द्वारा आविर्भूत होने पर भी भगवान् के बुद्धियोग से आक्रान्त रहने कारण इसे गीता का ही प्रतिपाद्य-विषय मान लिया गया है। और यों योगचतुष्टयानुगता विद्याचतुष्टयी के प्रतिपादक सम्पूर्ण गीताशास्त्र का श्रेय भगवान् को ही प्राप्त हो गया है, अतएव च–इसे अन्य किसी प्रवर्त्तक के नाम से व्यवहृत न कर केवल 'भगवद्गीतोपनिषत्' नाम से ही व्यवहृत किया गया है। यही आर्षगीताशास्त्र का आर्षप्रजानुगत मुख्य-आर्षप्रतिपाद्य विषय है, जो केवल भारतीय-वर्णाश्रमानुगत वर्णप्रजा के लिए ही सुरक्षित है। इस योगानुगता विद्याचतुष्टयी के सम्बन्ध से गीताशास्त्र केवल आर्षप्रजा की ही प्रातिस्विक सम्पत्ति है। अनार्षप्रजा इस चतुष्टयी से कोई लाभ नहीं उठा सकती, क्योंकि वह वर्णाश्रम धर्म्म से सर्वथा असंस्पृष्ट है।

विद्या-चतुष्टयी के सम्बन्ध में अब कोई विशेष-वक्तव्य शेष नहीं रह जाता। आर्षप्रजा के बोध-सौकर्य्य की दृष्टि से पूर्वप्रतिपादित योगों एवं तदनुगत विद्याओं से सम्बन्ध रखने वाले गुण-धर्म्मादि का सर्वसंग्रहरूप से संकलन कर दिया जाता है। विषयप्रतिपादन गतार्थ है। यहाँ केवल कुछ एक तालिकाएँ उद्धृत कर दी जाती हैं, जिनके आलोडन-विलोडन-मात्र से योगानुगता विद्याओं का भलीभांति स्पष्टीकरण सम्भव है। इन तालिकाओं के अतिरिक्त विद्याप्रेमी पाठकों से हम यह भी अनुग्रह करेंगे कि आर्षगीता की इस विद्यात्मिका मुख्यशिक्षा के समन्वय के लिए उन्हें गीताभूमिका प्रथमखण्ड को अवश्य लक्ष्य बना लेना चाहिए। कारण वहाँ आर्षगीता के वैज्ञानिक विषयविभाग के साथ-साथ योग एवं विद्याओं का भी स्वरूप उपवर्णित हुआ है। योगानुगता विद्याओं के सम्बन्ध में कुछ एक वैसे आवश्यक विषयों का प्रथमखण्ड में विश्लेषण हुआ है, जिनका समावेश यहाँ नहीं किया गया है। किन्तु जो विषय-समन्वय की दृष्टि से आवश्यकरूप से अनुगमनीय हैं।

१.	**गुणचतुष्टयी** ←	→ **दोषचतुष्टयी**	२.	**धर्म्मचतुष्टयी** ←	→ **अधर्म्मचतुष्टयी**
१.	तृप्तिः	क्षोभः	१.	वैराग्यम्	राग-द्वेषौ
२.	पुष्टिः	अपूर्णता	२.	ऐश्वर्य्यम्	अस्मिता
३.	तुष्टिः	मोहः	३.	ज्ञानम्	अविद्या
४.	मुक्तिः	शून्यता	४.	धर्म्मः	अभिनिवेशः
३.	**सुफलचतुष्टयी** ←	→ **दुष्फलचतुष्टयी**	४.	**श्रेयोऽनन्यताचतुष्टयी** ←	→ **प्रेयोऽनन्यताचतुष्टयी**
१.	शान्तिः	अशान्तिः	१.	समब्रह्मानन्यता	विषयानन्यता
२.	समृद्धिः	दरिद्रता	२.	सगुणब्रह्मानन्यता	कामनानन्यता
३.	प्रसादः	विमूढता	३.	निर्गुणब्रह्मानन्यता	अन्यमनस्कतानन्यता
४.	ऋद्धिः	असफलता	४.	प्रजापतिब्रह्मानन्यता	दुराग्रहानन्यता
५.	**विद्याचतुष्टयी** ←	→ **अविद्याचतुष्टयी**	६.	**योगचतुष्टयी** ←	→ **अयोगचतुष्टयी**
१.	अनासक्तिः	आसक्तिः	१.	अनासक्तकर्म्म	आसक्तकर्म्म
२.	आत्मप्रपत्तिः	कामना	२.	आत्मसमर्पणकर्म्म	विकर्म्म
३.	निवृत्तिः	जड़ता	३.	निवृत्तकर्म्म	अकर्म्म
४.	प्रवृत्तिः	उच्छृङ्खलता	४.	प्रवृत्तकर्म्म	विकर्म्म
७.	**सुकृतचतुष्टयी** ←	→ **दुष्कृतचतुष्टयी**	८.	**पात्रचतुष्टयी** ←	→ **अपात्रचतुष्टयी**
१.	सर्वकर्म्माणि	शास्त्रविरुद्धसर्वकर्म्माणि	१.	राजर्षयः (क्षत्रियाः)	विषयपरायणाः
२.	सत्कर्म्माणि	अशास्त्रीयविविधकर्म्माणि	२.	राजानः (क्षत्रियाः)	नास्तिकाः
३.	कर्म्माणि	निरर्थककर्म्माणि	३.	सिद्धाः (ब्राह्मणाः)	मूढाः
४.	सुकर्म्माणि	प्रकृतिविरुद्धकर्म्माणि	४.	कर्म्मठाः (ब्राह्मणाः)	अकर्म्मण्याः
९.	**आत्मविद्याचतुष्टयी** ←	→ **आत्माविद्याचतुष्टयी**	१०	**आत्मयोगचतुष्टयी** ←	→ **आत्मायोगचतुष्टयी**
१.	वैराग्यविद्या	राग-द्वेषविद्या	१.	वैराग्यबुद्धियोगः	राग-द्वेषयोगः
२.	ऐश्वर्य्यविद्या	अनैश्वर्य्यविद्या	२.	ऐश्वर्य्यबुद्धियोगः	अनैश्वर्य्ययोगः
३.	ज्ञानविद्या	अज्ञानविद्या	३.	ज्ञानबुद्धियोगः	अज्ञानयोगः
४.	धर्म्मविद्या	अधर्म्मविद्या	४.	धर्म्मबुद्धियोगः	अधर्म्मयोगः
११	**आत्मचतुष्टयी** ←	→ **अनात्मचतुष्टयी**	१२	**पात्रविद्याचतुष्टयी** ←	→ **अपात्रविद्याचतुष्टयी**
१.	परात्परात्मा (परात्परः)	बुद्धियुक्तः-भूतात्मा	१.	राजर्षिविद्या	बुद्धियुक्ता-दुष्टमानवविद्या
२.	परात्मा (अव्ययः)	मनोयुक्तः-भूतात्मा	२.	राजविद्या	मनोयुक्ता-कामीमानवविद्या
३.	परमात्मा (अक्षरः)	इन्द्रिययुक्तः-भूतात्मा	३.	सिद्धविद्या	इन्द्रिययुक्ता-मूर्खमानवविद्या
४.	अवरात्मा (आत्मक्षरः)	शरीरयुक्तः-भूतात्मा	४.	आर्षविद्या	शरीरयुक्ताअलसमानवविद्या
१३	**पात्रयोगचतुष्टयी** ←	→ **अपात्रयोगचतुष्टयी**	१४	**पात्रसंस्थाचतुष्टयी** ←	→ **अपात्रसंस्थाचतुष्टयी**
१.	बुद्धियोगः	बुद्धियुक्तः-बुद्धियोगः	१.	राजर्षिसंस्था प्रथमा	दुष्टमानवसंस्था प्रथमा
२.	भक्तियोगः	मनोयुक्तः-कामयोगः	२.	राजसंस्था द्वितीया	कामीमानवसंस्था द्वितीया
३.	ज्ञानयोगः	इन्द्रियुक्तः-मूढयोगः	३.	सिद्धसंस्था तृतीया	मूर्खमानवसंस्था तृतीया
४.	कर्म्मयोगः	शरीरयुक्तः-अयोगः	४.	आर्षसंस्था चतुर्थी	अलसमानवसंस्था चतुर्थी

योगचतुष्टयानुगत-विद्याचतुष्टयस्वरूपपरिचायकाः-चतुर्दशद्वन्द्वभावपरिलेखाः-व्यष्टयात्मकाः

बुद्धयष्टकानुगत–विद्याष्टकाधारेण–मानवविभागाष्टकप्रदर्शनपरिलेखः—

आर्ष–मानवाधिकारिणः १	१–नित्यतृप्ताः–शान्ताः–लोकसंग्रहबुद्धया सर्वकर्म्मरताः–बुद्धियोगिनः→सर्वोत्तमाधिकारिणः	
	२–नित्यपुष्टाः–समृद्धाः–ईश्वरार्पणकर्म्मरताः	–भक्तियोगिनः→उत्तमाधिकारिणः
	३–नित्यतुष्टाः–प्रसन्नाः–निवृत्तकर्म्मरताः	–ज्ञानयोगिनः→प्रथमाधिकारिणः
	४–नित्यभुक्ताः–ऋद्धाः –प्रवृत्तकर्म्मरताः	–कर्म्मयोगिनः→मध्यमाधिकारिणः
अनार्ष-मानवाधिकारिणः २	१–नित्यक्षुब्धाः–अशान्ताः–स्वार्थसंग्रहबुद्धया सर्वकामरताः–बुद्धिमन्तः→लोकदृष्टया–सफलाधिकारिणः	
	२–नित्यापूर्णाः–दरिद्राः –कामभावरताः	–भावुकाः →लोकदृष्टया–असफलाधिकारिणः
	३–नित्यमुग्धाः–विमूढाः –अकर्म्मरताः	–मूर्खाः →लोकदृष्टया–असफलाधिकारिणः
	४–नित्यशून्याः–असफलाः–विरुद्धकर्म्मरताः	–अलसाः →लोकदृष्टया–असफलाधिकारिणः

अथ

त्रिवीर्य्यंशिक्षा-षष्ठी

६

[illegible]

[illegible]

[illegible]

६–त्रिवीर्य्यशिक्षा-षष्ठी

'आर्षप्रजानुगता-गीतासार-परीक्षा' नामक प्रथम प्रकरण के 'आर्षगीता की सारात्मिका १० शिक्षाएँ' नामक (घ) परिच्छेद से सम्बन्ध रखने वाली आरम्भ की ५ शिक्षाओं का स्वरूप क्रमशः बतलाया जा चुका है। अब क्रमप्राप्त इसी शिक्षा-परिच्छेद से सम्बद्ध 'त्रिवीर्य्यशिक्षा' नाम की छठी शिक्षा की ओर विज्ञपाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है। आर्षशास्त्र (वेदशास्त्र) से सम्बद्ध तत्त्वज्ञान की गहनता के कारण 'आर्षगीतासार-परीक्षा' प्रकरण विस्तृत होता जा रहा है। प्रक्रान्त दिग्दर्शन-मर्य्यादा से भी शेष विषयों के द्वारा महाविस्तार की आशङ्का निश्चित है, अतएव अब शेष विषयों के दिग्दर्शन का भी दिग्दर्शन ही सामयिक प्रतीत हो रहा है। हमें विश्वास है कि बुद्धियोगी निष्ठावान् पाठक इसी के आधार पर तथ्य पर भलीभाँति पहुँच जायेंगे।

गीताशास्त्र का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है–'बुद्धियोग' एवं तदनुगता 'बुद्धिविद्या'। बुद्धिविद्यात्मक-बुद्धियोग के द्वारा लक्ष्य बन रहा है–आत्मविद्यात्मक-आत्मयोग। सिद्धभावापन्न आत्मविद्यात्मक आत्मयोग का स्वाभाविक विकास साध्यभावापन्न बुद्धिविद्यात्मक बुद्धियोग से ही सुरक्षित रहता है। सिद्धभावापन्न आत्मा से प्रधानतया वह अव्ययात्मा ही अपेक्षित है–जिसके उपाधिभेद से समभावात्मक परात्पर, सगुणभावात्मक पर, निर्गुणभावात्मक परम एवं विकारभावात्मक अवर–ये चार विवर्त हो जाते हैं। रसाधारेण अवस्थित बलों की चिति के तारतम्य से सर्वबलविशिष्टरसैकघन समभावात्मक मायी परात्पराव्यय ही उक्त चार विवर्तभावों में परिणत हो जाता है। इस प्रकार अव्ययात्मा के सोपाधिक चार रूप हो जाते हैं। ये ही चारों रूप क्रमशः परात्पर, पर, परम, अवर नामों से व्यवहृत हुए हैं–जिनका विशद निरूपण पूर्व परिच्छेद से गतार्थ है। प्रस्तुत परिच्छेद में चतुर्द्धा विभक्त इसी बुद्धियोगेश्वर-अव्ययात्मा की 'वीर्य्यत्रयी' का हमें दिग्दर्शन कराना है।

तृतीया आत्मधातुशिक्षा में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि अव्ययात्मा ब्रह्म-कर्म्म है। ज्ञानात्मक धातु ब्रह्मधातु है, क्रियात्मक धातु कर्म्मधातु है। ब्रह्मधातु अव्ययात्मा का विद्याभाग कहलाया है एवं कर्म्मधातु अव्ययात्मा का 'वीर्य्य' भाग कहलाया है। ब्रह्म और विद्या दोनों अभिन्नार्थक हैं एवं कर्म्म और वीर्य्य दोनों अभिन्नार्थक हैं। विद्याभाग 'अमृत' है, वीर्य्यभाग 'मृत्यु' है। **'कर्म्मणा विन्दते वीर्य्यं, विद्यया विन्दतेऽमृतम्'** वाक्य कर्म्म और वीर्य्य का तथा विद्या और अमृत का पार्थक्य बतला रहा है। फलतः–'कर्म्म से वीर्य्य प्राप्त होता है और विद्या से अमृतप्राप्ति होती है'–इस वाक्य से कर्म्म और वीर्य्य की, विद्या और अमृत की विभिन्नता की आशंका की जा सकती है। परन्तु सिद्ध-साध्य भेद से इस आशंका का निराकरण कर लेना चाहिए। सिद्ध आत्मा का कर्म्मभाग 'वीर्य्य' कहलाया है, साध्य बुद्धियोग का कर्म्मभाग 'कर्म्म' कहलाया है। इस साध्ययोगात्मक 'वीर्य्य' (कर्म्म) से सिद्धयोगात्मक 'कर्म्म' (वीर्य्य) की प्राप्ति हुआ करती है। एवमेव सिद्ध आत्मा का विद्याभाग 'अमृत' कहलाया एवं साध्य बुद्धियोग का विद्याभाग 'विद्या' कहलाया है। इस साध्ययोगात्मक अमृत (विद्या) से सिद्धयोगात्मिका

विद्या (अमृत) की प्राप्ति हुआ करती है। इस सिद्ध-साध्य स्थिति की विभिन्नता व्यक्त करने के अभिप्राय से ही **'कर्म्मणा विन्दते वीर्य्यम्'**–इत्यादि व्यवहृत हुआ है। इस प्रकार अव्ययात्मा के ब्रह्म-विद्या एवं कर्म्म-वीर्य्य–दोनों द्वन्द्वों की अभिन्नता सुरक्षित रह जाती है।

अव्ययात्मा का कर्म्मरूप वीर्य्यभाग तीन भागों में विभक्त माना गया है, अतएव इस वीर्य्य को 'त्रिवीर्य्य' किंवा 'वीर्य्यत्रयी' कहा जाता है। आर्षप्रजा (द्विजातिप्रजा) का समस्त कर्म्मकलाप इसी वीर्य्यत्रयी के आधार पर प्रतिष्ठित है, अतएव आर्षप्रजा के कर्म्मसमन्वय की दृष्टि से त्रिवीर्य्यस्वरूप का दिग्दर्शन आवश्यक बन जाता है। कर्म्मात्मक वीर्य्य की प्रतिष्ठा अव्ययात्मा का विद्यात्मक (ज्ञानात्मक) ब्रह्मधातु है, अतः वीर्य्यस्वरूपपरिज्ञान ब्रह्मस्वरूपपरिज्ञानसापेक्ष बन रहा है, अतएव वीर्य्यस्वरूप-दिग्दर्शन से पहले ब्रह्मस्वरूप का दिग्दर्शन भी आवश्यक बन जाता है। फलतः प्रथम उसी ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है।

जिस गुप्त कोशशक्ति से पाञ्चभौतिक विश्व का सञ्चालन होता है, वह शक्ति ही अपने स्वाभाविक वीरण भाव से[1] वीर्य्य कहलाई है। वही शक्ति 'कर्म्म' है। कोशात्मक आत्मकर्म्म के वीरण (गमन) से ही विश्व सञ्चालित है। वीर्य्यलक्षणा (कर्म्मलक्षणा) इस कोशशक्ति के द्वारा सम्पूर्ण विश्व को स्वोपरिधारण करने वाला शक्तिमान् तत्त्व ही धारणभाव से **(बिभर्ति सर्वं तद्)** 'ब्रह्म'[2] कहलाया है। तात्पर्य्य प्रतिष्ठातत्त्व का नाम ब्रह्म है, यह स्थितिमत् है। प्रतिष्ठाब्रह्म में प्रतिष्ठित गतिमान् तत्त्व वीरण द्वारा वीर्य्य है। ब्रह्म शक्तिमान् है, अविचाली है। वीर्य्य शक्ति है, विचाली है। शक्तिमान् ब्रह्म पुरुष है, शक्तिघन वीर्य्य प्रकृति है। अपने ही अर्द्ध-ज्ञानभाग से आधार बनता हुआ वह पुरुष है, नर है; अपने ही अर्द्ध-कर्म्मभाग से आधेय बनता हुआ वह प्रकृति है नारी है। इसी दाम्पत्य से इस विराट्-विश्व का प्रादुर्भाव हुआ है–जिसका **'अर्द्धेन पुरुषोऽभवत्, अर्द्धेन नारी, तस्यां स विराजमसृजत् प्रभुः'** इन शब्दों में अभिनय हुआ है।

वीर्य्याधारभूत ज्ञानलक्षण ब्रह्म भी कर्म्मलक्षण वीर्य्यवत् त्रिपर्वा ही है। यों कहना चाहिए कि ब्रह्म की त्रिपर्वता ही वीर्य्य की त्रिपर्वता का कारण है। 'पर्व' की अपेक्षा 'अवस्था' शब्द अधिक समीचीन होगा। रसलक्षण (अमृतलक्षण) ब्रह्म के पर्व तीन नहीं हैं, अपि तु, अवस्था तीन हैं। रसलक्षण, अतएव नित्य एकावस्थापन्न ब्रह्म की तीन अवस्था कैसे हो गई? प्रश्न का उत्तर है–रसाभिन्न वह बलतत्त्व जो सदा अव्यक्त-व्यक्त-अव्यक्तभेद से अवस्थत्रयाक्रान्त बना रहता है। बलावस्था के तारतम्य से ही तो एकावस्थापन्न रसब्रह्म भी विभिन्न अवस्थाओं में परिणत होता हुआ प्रतीत होता है। तत्त्वदृष्ट्या अवस्थाभेद किंवा अवस्थापरिवर्तन है बल का ही धर्म्म, परन्तु रस इससे अविनाभूत है। साथ ही रस का बल के साथ बलावस्थाभेद (बलचितितारतम्य) से प्रधान-अप्रधान सम्बन्ध रहता है। उसी अनुपात से बलावस्थाकृतभेद रसप्राधान्यदशा में रस के अवस्थाभेद मान लिए जाते हैं एवं बलप्राधान्यदशा में वे

१ 'त्रेधा सहस्रं वितदैरयेथाम्'–वीरणम्
२ 'ब्रह्म वै सर्वस्य प्रतिष्ठा'

अवस्थाभेद बल के ही माने जाते हैं। दृष्टिकोण को लक्ष्य में रखते हुए रसावस्थाभेद का समन्वय अपेक्षित है।

कल्पना कीजिए, रस आज अपनी स्वाभाविक शान्त-स्थिर अवस्था में है–जो अवस्था सदा बनी रहती है। इस समय भी बल रस के साथ अवश्य है। परन्तु वह बल अव्यक्तावस्था में आता हुआ रस-गर्भ में प्रसुप्त है, अतएव कहा जा सकता है कि इस समय विशुद्ध रस का ही साम्राज्य है। रस की यही स्वाभाविक शान्त-स्थिर-निष्क्रिय अवस्था विज्ञान भाषा में–'आनन्द' कहलाई है–जिसका **'रसो वै सः'** । **'रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति'**–इन शब्दों में अभिनय हुआ है। अव्यक्तावस्थापन्न-बलगर्भित अव्यक्तावस्थापन्न शुद्ध रस ही 'आनन्द' है और यही रसब्रह्म की प्रथमावस्था किंवा प्रथम-पर्व है। बलात्मक कर्म्म व्यक्तदशा में आकर रस को सृष्टिमर्य्यादा से युक्त बनाया करता है। चूंकि यह बल यहाँ अव्यक्तदशापन्न है, अतएव तद्रूप रस को इस कर्म्मासंस्पृष्टशुद्धरस ही कहेंगे। आगे चलिए। मान लीजिए–आनन्दगर्भित अव्यक्तावस्थापन्न बल यत्किञ्चिद् भाव से व्यक्तावस्था में आया। बल के व्यक्तावस्था में आते ही आनन्द रस भी अपनी शान्तावस्था से यत्किञ्चिद् भाव से व्यक्तावस्था में आ गया। व्यक्तावस्थापन्नबल का सहयोगी बना हुआ, अतएव व्यवहार में व्यक्तावस्थापन्न ही माना जाने वाला वही आनन्द 'विज्ञान' नाम से प्रसिद्ध हो गया। द्रव्य से सुप्तविद्युत् संघर्ष से जैसे ज्योतिर्भाव में प्रस्फुटित हो जाती है, ठीक वही दशा इस 'विज्ञाना'वस्था की है। आनन्द एक प्रकार की सुप्त विद्युत् है, तो विज्ञान बलसंघर्ष द्वारा आविर्भूत प्रस्फुटित विद्युत् है। इसी आधार पर वैज्ञानिकों ने इस द्वितीयावस्था (विज्ञान) को 'ज्योति' नाम से व्यवहृत कर दिया है। आनन्दब्रह्म की उत्तरावस्था 'विज्ञान' न मानकर 'ज्योति' ही माननी चाहिए। ज्योति ही आगे जाकर दो अवस्थाओं में विभक्त होती है। इस ज्योतिर्ब्रह्म की पूर्वावस्था का नाम है विज्ञान एवं उत्तरावस्था का नाम है–'मन'–इस प्रकार व्यक्तबलात्मक प्रस्फुट रसात्मक ज्योतिर्ब्रह्म ही अवस्थाभेद से विज्ञान, मनोभावों में परिणत हो जाता है। व्यक्त बल को कर्म्म कहा गया है। यह व्यक्तकर्म्म ज्योतिर्ब्रह्म के गर्भ में भुक्त रहे अथवा तो ज्योतिर्ब्रह्म बल के गर्भ में भुक्त रहे–ये दो ही स्थिति हैं।

तात्पर्य्य यह है कि बल ने अपनी व्यक्तावस्था में आकर तदवच्छिन्न (व्यक्तबलावच्छिन्न) आनन्द रस को प्रस्फुटित कर उसे 'ज्योतिर्भाव' (व्यक्तभाव) में परिणत कर दिया। व्यक्तभाव में परिणत कर व्यक्तबल (कर्म्म) ज्योतिर्गर्भ में ही विलीन हो गया। अर्थात् ज्योति ने बल पर ही अपना प्रभाव स्थापित कर लिया। फलस्वरूप बल का बलत्व अभिभूत हो गया एवं ज्योति का रसत्व सुरक्षित रह गया। इसी कर्म्मगर्भित ज्योति का नाम किंवा अभिभूत व्यक्तबलावच्छिन्न ज्योति का नाम 'विज्ञान' हुआ। विज्ञान में कर्म्म का आभासमात्र है, प्रभुता विकासलक्षण रस ही की है। आगे जाकर सृष्ट्युन्मुख बना हुआ व्यक्तबल अंशतः चितिसम्बन्ध से बलशाली बना। बलावस्था से सबल बनते ही इसी बलशाली बल ने उस ज्योतिलक्षण विज्ञान को किंवा विज्ञानलक्षण ज्योति को अपने गर्भ में ले लिया। विज्ञानज्योति व्यक्तबल (कर्म्म) से सर्वथा अभिभूत तो नहीं हुई, किन्तु व्यक्तबल के स्वाभाविक जीवन को वह मूच्छित करने में असमर्थ बन गया। फलस्वरूप कर्म्म-गर्भित ज्योति और कर्म्म दोनों

सुरक्षित रह गए। रस-बल की इसी साम्यावस्था का नाम किंवा ज्योतिर्गर्भित व्यक्तबल (कर्म्म) का नाम हुआ 'मन'। बल जीवित अवश्य रह गया, परन्तु रससाम्य से समत्वलक्षणा उस स्वाभाविक शान्ति का साम्राज्य अक्षुण्ण बना रह गया, जो शान्ति रस-धर्म माना गया है, अतएव मन के उभया-त्मक रहने पर भी इसे समत्वलक्षणा शान्ति के कारण माना गया, रस की अवस्था ही। निष्कर्ष यही निकला कि अव्यक्त बलगर्भित रस, व्यक्तबलगर्भितरस, व्यक्तबलसहावस्थापन्न रस भेद से बल द्वारा सम्पन्न तीन अवस्थाभेदों के कारण ज्ञान-घन एक ही रसब्रह्म की 'आनन्द-विज्ञान-मन' भेद से तीन अवस्था हो गई–जिन तीनों अवस्थाओं के निम्नलिखित लक्षण किए जा सकते हैं—

१–अव्यक्तबलगर्भितः—कर्म्मासंस्पृष्टः—विशुद्धः——'रसः' (आनन्दः)

२–व्यक्तबलगर्भितः——कर्म्मानुषक्तः——कर्म्ममयः—'रसः' (विज्ञानम्)

३–व्यक्तबलयुक्तः–––कर्म्मसहचारी– कर्म्मानुगतः–'रसः' (मनः)

——–—❀

१–कर्म्मासंस्पृष्टः→रसः––→आनन्दः (बलाभिभवकर्त्ता-रसः) सुप्तबलगर्भितो रसः।

२–कर्म्मगर्भितं ज्योतिः——→विज्ञानम् (बलाधिष्ठाता-रसः) प्रबुद्धबलगर्भितो रसः।

३–ज्योतिर्गर्भितं-कर्म्म - →मनः (रसबलयोःसाम्यावस्था) सृष्टघुन्मुखबल-सहचारी रसः।

——❀——

आरम्भ में किसी काल्पनिक अवस्थाविशेष में बल सर्वथा अव्यक्तावस्थापन्न था। उसकी अव्यक्त-व्यक्तावस्था के तारतम्य से शान्त रस ब्रह्म की तथाकथित तीन अवस्थाएँ हो गई। सर्वं सुस्थम्। परन्तु प्रश्न तो यह है कि वह अव्यक्तबल सहसा व्यक्त कैसे बन गया ? एवं उस व्यक्तबल की चिति किसने कर डाली ? इन अचिन्त्य भी प्रश्नों के समाधान की चेष्टा हुई है, उन विद्योपासक (शक्त्यु-पासक) महर्षियों के द्वारा जो अहर्निश **'विद्यासि सा भगवती परमा हि देवी'** का मनन किया करते हैं। अव्यक्तावस्था जैसे बल का स्वभाव है तथैव व्यक्तावस्था भी तो इसका स्वाभाविक ही धर्म्म है। चक्र-वत् चंक्रमणशील बल कभी अव्यक्तावस्था में तो कभी व्यक्तावस्था में तो अन्त में पुनः अव्यक्तदशा में स्वभावतः परिणत होता रहता है। इस स्वाभाविक-अवस्था-परिवर्तन के सम्बन्ध में ''अव्यक्तबल सहसा कैसे व्यक्त बन गया ? प्रश्न ही अनति प्रश्न (अमर्य्यादित प्रश्न) है। दूसरा प्रश्न रहा चितिसम्बन्ध में, इसका उत्तर भी स्वयं बल जातियाँ ही हैं। सीमाप्रवर्त्तक 'माया' नामक विशेषबल से असीम रस सीमित बना। सीमोदय से दूसरे हृदयबल का आविर्भाव (व्यक्तीभाव) हुआ। यही हृदयबल अक्षर-बल कहलाया है। इसी को 'त्र्यक्षरबल' कहते हैं। विज्ञानभाषा में यही 'गति' बल है, जिसके विरुद्धा-नेकगति, केन्द्रानुगतगति परिध्यनुगत गतिभेद से तीन विवर्त हो जाते हैं। गति के ये ही तीनों विवर्त क्रमशः स्थिति-आगति-गति नामों से व्यवहृत हुए हैं। सर्वतो दिग्गतिलक्षणा स्थिति ब्रह्माक्षर है–यही

ब्रह्मविद्या है। केन्द्रगतिलक्षणा आगति विष्ण्वक्षर है–यही 'विष्णुविद्या' है एवं परिधिगतिलक्षणा गति इन्द्राक्षर है–यही 'इन्द्रविद्या' है। विद्यात्रयी की समष्टिरूप अक्षरविद्या किंवा विद्यात्मक त्र्यक्षर लक्षण अक्षर ही 'चेतना' है। इसी के आदान-विसर्ग-संयमरूप चिति-व्यापार से रसब्रह्म पर बल की चितियाँ होती हैं। इसी चिति से वह रसब्रह्म बल-चित बनकर 'चिदात्मा' कहलाया है।

'गति' बल का व्यक्त धर्म्म है, स्थिति बल का अव्यक्त धर्म्म है। गतिसमुच्चय से गति स्थिति रूप में परिणत हो जाती है। फलतः व्यक्तधर्म्म (गतिधर्म्म) अव्यक्तावस्था में परिणत हो जाता है। स्थितिलक्षणा ब्रह्मविद्या इसी आधार पर 'अव्यक्तविद्या' मान ली जाती है, अतएव पुराणों में 'ब्रह्मा' अव्यक्त-स्वयम्भू नाम से प्रसिद्ध हुए हैं। अव्यक्त धर्म्मावच्छिन्न-गतिसमुच्चयात्मकस्थितिभावापन्न-ब्रह्माक्षरलक्षणा ब्रह्मविद्या से (ब्रह्मात्मक अव्यक्तबलचिति से) रस की 'आनन्द संस्था' का विकास हुआ है। इसी अव्ययानन्द पर्व से आनन्दमय बनते हुए ब्रह्मा आनन्दमयी रति के द्वारा विश्वोत्पादन में समर्थ होते हैं।

केन्द्रानुगता गति आगति है, अतएव वह व्यक्तधर्म्मावच्छिन्ना है। व्यक्तधर्म्मावच्छिन्न-आगति-भावापन्न-विष्ण्वक्षरलक्षणा-विष्णुविद्या (विष्ण्वात्मक व्यक्तबलचिति) से रस की 'मनः संस्था' का विकास हुआ है। इसी अव्ययमनःपर्व से मनोमय बनते हुए विष्णु आदानमयी सोमाहुति के द्वारा विश्वपालन में समर्थ हुए हैं। परिध्यनुगता गति 'गति' है, अतएव यह भी व्यक्तधर्म्मावच्छिन्ना ही है। व्यक्तधर्म्मावच्छिन्ना-गतिभावापन्ना-इन्द्राक्षरलक्षणा-इन्द्रविद्या (इन्द्रात्मक व्यक्तबलचिति) से रस की विज्ञानसंस्था का विकास हुआ है। इसी अव्ययविज्ञानपर्व से विज्ञानमय बनते हुए इन्द्र (शिव) विसर्गानुगत अग्नि-नेत्र से ग्रन्थविमोक द्वारा मुक्तिकर्म्म में सफल बने हैं। इस प्रकार स्थिति लक्षण ब्रह्मा, आगतिलक्षण विष्णु, गतिलक्षण इन्द्र–ये तीनों हृद्यबलात्मक हृ-द-य स्वरूप अक्षर अव्यय सहचारी बनते हुए अपने चितिधर्म्म से उस एक ही रसात्मक अव्यय को आनन्द-विज्ञान-मनोऽवस्थाओं में भी परिणत कर देते हैं। साथ ही में ये तीनों अक्षर अपने व्यापार से ही आविर्भूत आनन्दादि धर्म्मों से धर्मिष्ठ बनते हुए विश्वप्रपञ्च के सर्वेसर्वा बन रहे हैं। स्पष्ट है कि स्वयं बलविशेष ही (हृदयबल ही) चिति-व्यापार का प्रवर्त्तक बन रहा है। जैसा कि परिलेखों से स्पष्ट है—

(१) सर्वतोदिग्गतिलक्षणा—गतिः (स्थितिः) नियमयति–इति-यम्——इत्येकाक्षरम्–(१)

(२) केन्द्रानुगता————गतिः (आगतिः) आहरति—इति-'हृ'——इत्येकाक्षरम्–(२)

(३) परिध्यनुगता————गतिः (गतिः) द्यति———'इति' 'द'—इत्येकाक्षरम्–(३)

} त्र्यक्षरमूर्तिः-हृदयबलम्, अक्षरात्मा-चेतना

————

(१) स्थितिर्ब्रह्माक्षरः- -अव्यक्तः—अव्यक्तचितेरधिष्ठाता—स्थितिमूला-ब्रह्मविद्या
(२) गतिरिन्द्राक्षरः —व्यक्तः——व्यक्तचितेरधिष्ठाता——गतिमूला-इन्द्रविद्या
(३) आगतिर्विष्णवक्षरः—व्यक्तः——व्यक्तचितेरधिष्ठाता——आगतिमूला-विष्णुविद्या
} सैषा त्रयीविद्या (प्रकृतिविद्या)

——————❀

(१) ब्रह्मविद्यात्मिका——अव्यक्तविद्या, तद्युक्तः–रसः (आनन्दः)–आनन्दविद्या—ब्राह्मी
(२) इन्द्रविद्यात्मिका——व्यक्तविद्या, तद्युक्तः–रसः (विज्ञानम्) –विज्ञानविद्या—ऐन्द्री
(३) विष्णुविद्यात्मिका——व्यक्तविद्या, तद्युक्तः–रसः (मनः)——मनोविद्या —वैष्णवी
} सैषा त्रयीविद्या (पुरुषविद्या)

——————❀

१–ब्रह्मविद्यात्मिका—→आनन्दविद्या–रसघना
२–इन्द्रविद्यात्मिका—→विज्ञानविद्या–रसात्मिका
३–विष्णुविद्यात्मिका→मनोविद्या——रसमयी
} →रसब्रह्म, सा विद्या, सैषा विद्यात्रयी ब्रह्मत्रयी

——❀——

बतलाया गया है कि ब्रह्मत्रयी ही वीर्य्यत्रयी की अधिष्ठात्री है। वीर्य्यत्रयीलक्षण कर्म्माव्यय से अनुगृहीत बुद्धियोग के अनुगमन से अभ्यासपरम्परा द्वारा जिस क्षण अध्यात्मसंस्था का यह 'त्रयं ब्रह्म' (आनन्द-विज्ञान-मन) स्वस्वरूप से व्यक्त हो जाता है, उसी क्षण त्रिविध ताप उपशान्त हो जाते हैं। भूतात्मा नामक जीवात्मा व्यक्त विद्यात्मा (अव्ययात्मा) से अनुगृहीत बनकर क्षुधा-पिपासा-जरा आदि दुःखार्णवों का सन्तरण कर लेता है। उस बुद्धियोगी का संकल्प अव्ययेश्वरवत् सत्य बन जाता है। इसकी बाह्यवृत्तियाँ निवातस्थ-दीपवत् सर्वथा सुस्थिर-शान्त-सुव्यवस्थित बन जाती हैं। यही इस ब्रह्मत्रयीप्रसाद का महाफल है, यही इस मानव के जीवन की कृतकृत्यता है–जिसकी इतिकर्त्तव्यता का शिक्षण मानव समाज को एकमात्र गीताशास्त्र से ही प्राप्त हुआ है।

वीर्य्यत्रयी की आधारभूता ब्रह्मत्रयी का प्रासङ्गिक दिग्दर्शन कराना पड़ा। अब प्रक्रान्त वीर्य्यत्रयी के दिग्दर्शन की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है। जिस प्रकार अव्ययात्मा का ब्रह्मधातु रसप्रधान होने से 'ज्ञानात्मा' कहलाया है, एवमेव इसका वीर्य्यधातु बलप्रधान होने से 'कर्म्मात्मा' नाम से प्रसिद्ध हुआ है। एवमेव जिस प्रकार बलानुगता रसचिति (तत्त्वतः बलचिति ही) के

तारतम्य से जैसे ज्ञानात्मा अवस्थाभेद से आनन्द-विज्ञान-मनोरूप में परिणत हो रहा है तथैव रसानुगता बलचिति के तारतम्य से कर्म्मात्मा के भी तीन अवस्थाभेद हो जाते हैं। इस अवस्थात्रयी का मूलाधार बनता है–ब्रह्मत्रयी का अन्तिम 'मनः पर्व'। मनः पर्व का विश्लेषण करते हुए यह बतलाया गया है कि यहाँ रस-बल समरूपेण अवस्थित हैं एवं इस समत्व से ही बल के व्यक्त रहते हुए भी इस मनः पर्व को 'रस-ब्रह्म' स्वरूप में ही अन्तर्भूत मान लिया जाता है। जिस प्रकार आनन्द की अव्यक्तावस्था आनन्द प्रस्फुटितावस्था ज्योति है एवं ज्योति की कर्म्मगर्भितावस्था विज्ञान, कर्म्माश्रितावस्था मन है। एवमेव उभयात्मक रसब्रह्मस्थानीय इस मन की भी आनन्द-ज्योतिर्वत् दो अवस्थाएँ हो जाती हैं। रस-बल, अभी दोनों समभावापन्न हैं। समत्व ही समीकरण है। समीकरण ही शान्ति है। शान्ति ही स्थिरता है। स्थिरता ही पूर्णता है। पूर्णता ही कामना की विश्रामभूमि है, अतएव इस समत्वदशा में यह मन सर्वथा निष्काम है। यद्यपि बल सम्बन्ध से यहाँ भी कामना अवश्य है। परन्तु यहाँ का यह बल चूँकि समत्व प्रभाव से रसात्मक बना हुआ है, अतएव यह बल कामना (जिसे हम रसकामना भी कह सकेंगे) सृष्टि-कामना से सर्वथा असंस्पृष्ट रहती हुई आत्मकामना, अतएव अकामलक्षणा कामना ही बन रही है, अतएव रसानुगत यह मनः कामना विज्ञानभाषा में 'मुमुक्षा' नाम से व्यवहृत हुई है। मुमुक्षा भी है कामना ही, परन्तु यह कामना बलग्रन्थियों का उत्तरोत्तर विमोक करती हुई कामना की अवसानभूमि ही रहती है, अतएव ऐसी कामना को अकामना ही माना जाएगा। यह अकामात्मिका कामना मन को अन्तर्मुख-आत्ममुख-रसमुख-रसानुगत बनाए रहती है, अतएव रस-बलसाम्यलक्षण यह मन विज्ञान-भाषा में 'अन्तर्मन' कहलाया है।

आगे चलिए। क्षणमात्र भी शान्त न रहने वाला मनःस्थ व्यक्तबल अथवा बलचिति-व्यापार (अक्षर द्वारा) आरम्भ रखता है। जिसका तात्पर्य्य यही है कि जैसे मनःस्थ रसानुगता कामना रसचिति की अधिष्ठात्री बनी रहती है, एवमेव मनःस्थ बलानुगता कामना बलचिति की अधिष्ठात्री बनी रहती है। यह बलचितिकामना उत्तरोत्तर बलग्रन्थियों का सर्जन करती हुई सृष्ट्युन्मुख बनी रहती है, अतएव बलानुगता यह मनःकामना विज्ञानभाषा में 'सिसृक्षा' कहलाई है। यही कामना वास्तविक कामना है। इस कामना से मनःस्थ बलभाग प्रवृद्ध हो जाता है। इस बलवृद्धि से मनःस्थ व्यक्तबल मनःस्थ रसभाग के विकास को आवृत कर देता है। बलवृद्धि से समत्व पलायित हो जाता है। फलतः रसब्रह्मात्मक वही अन्तर्मन बलवीर्य्यात्मक बहिर्मनोभाव (सृष्ट्यनुगत मनोभाव) रूप में परिणत हो जाता है। इस प्रकार निष्कामभावात्मिका मुमुक्षाभावापन्ना रसचिति सकामभावात्मिका सिसृक्षाभावापन्ना बलचिति–इन दो चितियों के भेद से रसब्रह्मात्मक एक ही मन की अन्तर्मन (रसबलसाम्यावस्थापन्न निष्काम मन) एवं बहिर्मन (बलानुगत-असमभावापन्न सकाम मन) भेद से दो अवस्था हो जाती हैं। इन दोनों में सकाम-भावापन्न बहिर्म्मन ही वीर्य्यत्रयी का प्रथम पर्व माना गया है। काममय मन का प्रथम रेत (वीर्य्य) यह कामना ही बनती है। यही कामरेत अन्तर्म्मन को बहिर्म्मनः स्वरूप में परिणत करता है। अमृत-सत्-लक्षण रस का मर्त्य असत्‌लक्षण बल के साथ समन्वय करता हुआ, दूसरे शब्दों में सत्-रसब्रह्म का असत्-बलवीर्य्य में समावेश कर सृष्टिस्वरूप संघटन करने वाला यही कामभाव है, अतएव इस काम

को विश्व का रेत (उपादान) मान लिया जाता है। वीर्य्यत्रयी के सर्वप्रथम काममय मन नामक इसी पर्व का विश्लेषण करते हुए श्रुति ने कहा है—

"कामस्तदग्रे समवर्त्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत् ।
सतो बन्धुमसति निरविन्दन्हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा" ।।[1]

काममय बहिर्म्मन में व्यक्तबल की प्रधानता उसी अनुपात से मानी जाएगी, जिस अनुपात से रसब्रह्म के 'आनन्द' नामक प्रथम पर्व में बल की अप्रधानता मानी गई है। अथवा तो दूसरी दृष्टि से विषय का समन्वय कीजिए। कहा गया है कि अन्तर्म्मन रस-बल की साम्यावस्था है। यही स्थिति बहिर्म्मन की समझिए। व्यक्तबल की प्रधानता बतलाते हुए कहा गया है कि बहिर्म्मन में व्यक्तबल प्रवृद्ध है। इस बलवृद्धि से ही बहिर्म्मन समत्व से वञ्चित है। यह स्पष्टीकरण केवल बलदृष्टि से सम्बन्ध रखता है। रसचितिवत् बलचिति भी स्वव्यापार में स्वतन्त्र बनी रहती है। एतावता ही इस बल को प्रवृद्ध मान लिया जाता है। वस्तुतः मनःक्षेत्र में रस-बल, सदा साम्यावस्था में ही परिणत रहते हैं। इसीलिए तो अव्ययेश्वर सब कुछ निर्म्माण करता हुआ भी अकर्त्ता मान लिया जाता है। यदि उभयथा समत्व है तो अन्तर्म्मन-बहिर्म्मन के स्वरूपों में क्या भेद रहा ? प्रश्न का निराकरण दृष्टि-भेद पर अवलम्बित है। उभयात्मक मन से सम्बन्ध रखने वाली रसदृष्टि यह सिद्ध कर रही है कि उभयात्मक मन रसानुगामी बनता हुआ मुमुक्षु है। इस दृष्टिकोण से इसी मन को अन्तर्मुख मान लिया जाएगा एवं रसानुगतिसम्बन्ध से इसे रसब्रह्मपर्व मान लिया जाएगा। इसी उभयात्मक मन से सम्बन्ध रखने वाली बलदृष्टि यह सिद्ध कर रही है कि उभयात्मक मन बलानुगामी बनता हुआ सिसृक्षु है। इस दृष्टिकोण से इसी मन को बहिर्मुख मान लिया जाएगा एवं बलानुगति सम्बन्ध से इसे वीर्य्यपर्व मान लिया जाएगा। एक ही मन है–वही रसदृष्टचा आत्मविद्या है, बलदृष्टचा आत्मकर्म्म है। रसदृष्टचा वही मोक्षाधिष्ठाता है, बलदृष्टचा वही सृष्टिबन्धनप्रवर्त्तक है–**'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः'**–प्रसिद्ध ही है। मन एक है, इसीलिए तो ज्ञानकर्म्मघन अव्ययात्मा पञ्चकोशात्मक ही माना गया है। दृष्टिकोण भेद से केवल लक्षणों में भेद है। अन्तर्म्मन का लक्षण जहाँ–**'सृष्ट्युन्मुखबलसहचारी रसो मनः'**–है, वहाँ बहिर्म्मन का लक्षण–**'मुक्त्युन्मुखरससहचारि बलं मनः'**–यह है। प्रथम लक्षण में बल का रस के साथ साम्य-साहचर्य्य है। द्वितीय लक्षण में रस का बल के साथ साम्य-साहचर्य्य है। प्रथम दृष्टि के साम्यभाव में समत्व रहते भी रसप्रधान बन रहा है। द्वितीय दृष्टि में साम्यभाव रहते भी बल प्रधान बन रहा है। एतावता ही रसप्रधान वही मन अन्तर्म्मन बनता हुआ ब्रह्मपर्व है, बलप्रधान वही मन बहिर्म्मन बनता हुआ वीर्य्यपर्व है। अन्तर्म्मन रसप्राधान्य से मुक्तिकाममय बनता हुआ अकाम है, तो बहिर्म्मन बलप्राधान्य से सृष्टिकाममय बनता हुआ सकाम है। काममय सृष्टिसाक्षी रसबलात्मक यही बहिर्म्मन सृष्टि का प्रथम 'वीर्य्य' है, जिसे समत्वभावसम्बन्ध से हम ज्ञानात्मक वीर्य्य (ज्ञानात्मक कर्म्म) ही कहेंगे।

---

१ ऋग्वेद मं० १०।१२९।४।

काममय बहिर्म्मनलक्षण प्रथम वीर्य्यं को लक्ष्य बनाकर आगे चलिए। कामना के प्रभाव से बलचिति का आरम्भ हुआ। काममय मन पर कामना से बलचिति का स्तर आरूढ हुआ। इस प्रथम बलचिति से मन का स्वाभाविक रसानुगत साम्य अभिभूत हो गया। जो रस मन में सहचारी था, वही बलचिति के द्वारा प्रवृद्ध बने हुए व्यक्तबल से अंशतः अभिभूत हो गया और काममय मन की यह प्रवृद्धबलावस्था ही 'प्राण' कहलाई। ब्रह्मसंस्था में जो स्थिति विज्ञान की थी, वही स्थिति इस वीर्य्य संस्था में प्राण की समझिए। विज्ञानपर्व में व्यक्तबल रस के गर्भ में था, इस प्राणपर्व में रस व्यक्तबल के गर्भ में है। व्यक्तबल प्रबल बन गया, इसलिए तो रसात्मक ज्ञान पूर्णरूप से प्रस्फुटित नहीं रहा, साथ ही रस गर्भ में है, इसलिए बलानुगता जड़ता का पूर्ण आधिपत्य न हुआ। चेतन-जड़ दोनों की मध्यावस्था से युक्त प्रवृद्धबलात्मक-रसगर्भित वही बहिर्म्मन 'प्राण' कहलाया। यही प्राणव्यापार काममय बहिर्म्मन का अन्तर्व्यापार कहलाया है। यही अन्तर्व्यापार विज्ञानभाषा में 'तप' कहलाया है। मन जहाँ काममय है, वहाँ यह प्राण 'तपोमय' है। कामगर्भित इस तप से (संकल्पात्मक मन से युक्त तपोयुक्त प्राण से) व्यक्तबल अधिकबलशाली बन जाता है। बलवत्तर बना हुआ बल चितिव्यापार आरम्भ करता है। इस व्यापार से चिति का घनस्तर प्राण को सर्वात्मना वेष्टित कर लेता है। गर्भीभूत रस सर्वात्मना अभिभूत हो जाता है, केवल बलचिति का ही प्राधान्य शेष रह जाता है। प्राण की इसी अवस्था को 'वाक्' कहा जाता है। इस तृतीयावस्था के गर्भ में प्राणात्मक तप किंवा तपोलक्षण प्राण एवं मनोमय काम किंवा काममय मन दोनों गर्भीभूत रहते हैं। मनः प्राण को गर्भ में रखकर ही इस तृतीयावस्था का आविर्भाव होता है, अतएव इसे 'वाक्' कहना अन्वर्थ बनता है। अकार मन का, उकार प्राण का वाचक है। स्व-स्वरूप विकास के लिए जो अवस्था 'अ' और 'उ' की (मन और प्राण की) याच्ञा करती है, वही अवस्था 'अ-उ' को लेकर 'वाक्' रूप में परिणत होती है। अ–उ (मन-प्राण) इन दोनों की याच्ञा में 'उ' (प्राण) की याच्ञा प्रथम है, अ (मन) की याच्ञा प्राण द्वारा सफल बनने से द्वितीया है। तृतीय चिति में प्राणव्यापार ही प्रधान आलम्बन (तृतीय चिति का) रहता है, अतएव 'अ-उ-अच्'–यह स्थिति न रहकर 'उ-अ-अच्' यह स्थिति सम्पन्न होती है। उकार को यणादेश (वकार) हो जाता है, 'व-अ-अच्'–यह स्थिति हो जाती है। व्-अ-अच् से व-अच्, दीर्घद्वारा 'वाच्' एवं कुत्व द्वारा 'वाक्' स्वरूप सम्पन्न हो जाता है। मनः-प्राण-गर्भिता यही तृतीयावस्था 'वाक्' है जो वीर्य्यसंस्था का अन्तिम पर्व माना गया है। ब्रह्मसंस्था में जो स्थान 'आनन्द' का था, इस वीर्य्यसंस्था में वही स्थान इस 'वाक्' का है। बलाभिभवकर्त्ता विशुद्धरस आनन्द था एवं रसाभिभवकर्त्ता विशुद्धबल 'वाक्' है। इसी दृष्टि से दोनों समतुलित हैं। बहिर्म्मन बलदृष्टया वीर्य्यघन था, कर्म्मघन था। कर्म्मघन इस एक ही बलवीर्य्य की चितितारतम्य से यों–'मनः-प्राणः-वाक्'–ये तीन अवस्थाएँ हो जाती हैं, जो क्रमशः कामः-तपः-श्रमलक्षणा मानी गई हैं। इन तीनों के लक्षणों का निम्नलिखितरूप से समन्वय किया जा सकता है—

१–रसब्रह्मयुक्तं——रससहचारि—रसानुगतं—'बलम्' (मनः)।

२–रसब्रह्मगर्भितं—रसानुषक्तम्—रसमयं——'बलम्' (प्राणः)।

३–रसब्रह्मगर्भितं—रसासंस्पृष्टम्–विशुद्धं——'बलम्' (वाक्)।

——————

१–मुक्त्युन्मुखरससहचारि—बलम्—(बलरसयोः साम्यावस्था)→मनः ।

२–प्रबुद्धरसगर्भितम्———बलम्—(रसाधिष्ठाता)————→प्राणः ।

३–प्रसुप्तरसगर्भितम्———बलम्—(रसाभिभवकर्त्ता)———→वाक् ।



१–	१–रसचितिः———→अभिभूतबलगर्भितः————→रसः	(अमृतम्-ज्ञानम्-विद्या)	ब्रह्म ३
	२–बलगर्भिता रसचितिः→प्रबुद्धबलगर्भितः———→रसः	(अमृतम्-ज्ञानम्-विद्या)	
	३–बलानुगता रसचितिः-→मुक्त्युन्मुखबलसहचारी→रसः	(अमृतम्-ज्ञान-अविद्या)	
२–	४–रसानुगता बलचितिः-→मुक्त्युन्मुखरससहचारि→बलम्	(मृत्युः-कर्म्म-अविद्या)	वीर्य्यम् ३
	५–रसगर्भिता बलचितिः→प्रबुद्धबलगर्भितम्———→बलम्	(मृत्युः-कर्म्म-अविद्या)	
	६–बलचितिः———→अभिभूतरसगर्भितम्———→	(मृत्युः-कर्म्म-अविद्या)	

१–रसः–आनन्दः—शान्तिः	→विद्यात्रयी-ज्ञानात्माव्ययः-सल्लक्षणः	→सदसल्लक्षणः अव्ययात्मा[1]
२–रसः–विज्ञानम्—ज्योतिः		
३–रसः–अन्तर्म्मनः–संकल्पः		
४–बलम्–बहिर्म्मनः–कामः	→वीर्य्यत्रयी-कर्म्मात्माव्ययः-असल्लक्षणः	
५–बलम्–प्राणः——तपः		
६–बलम्–वाक्——श्रमः		

१ अमृतं चैव मृत्युश्च-सदसच्चाहमर्जुन ! (गीता ९।१९) ।

१– अभिभूतबलगर्भितो–रसः (विशुद्धो रसः)→आनन्दः (१)
अभिभूतरसगर्भितं–बलम् (विशुद्धं बलम्)→वाक् (६)
→द्वे रूपे समतुलिते ।

२– प्रबुद्धबलगर्भितो–रसः (बलगर्भितो रसः)→विज्ञानम् (२)
प्रबुद्धरसगर्भितं—बलम् (रसगर्भितं बलम्)→प्राणः (५)
→द्वे रूपे समतुलिते ।

सृष्ट्युन्मुखबलसहचारी–रसः (रसबलयोः साम्यावस्था)→अन्तर्म्मनः (३)
मुक्त्युन्मुखरससहचारि–बलम् (बलरसयोः साम्यावस्था)→बहिर्म्मनः (४)
→द्वे रूपे समतुलिते ।

प्रकृतमनुसरामः । आनन्द-विज्ञानगर्भित, रसबलसाम्यावस्थालक्षण-ज्ञानघन-ज्ञानात्मा (ब्रह्मात्मा) के आधार पर बलचिति के तारतम्य से क्रमशः काममय मन (बहिर्म्मन), तपोमय प्राण एवं श्रमलक्षणा वाक्–इन तीन वीर्य्यों का विकास हुआ । एतत्त्रितयसमष्टिलक्षण वीर्य्यात्मा ही मनः-प्राण-वाङ्मय सृष्टिसाक्षी आत्मा कहलाया, जो–'**स वा एष आत्मा वाङ्मयः-प्राणमयो-मनोमयः**'–इत्यादि श्रुति द्वारा उपवर्णित है । यह सृष्टिसाक्षी आत्मा अपने मनोवीर्य्य से ज्ञानवान् बना हुआ है, प्राणवीर्य्य से क्रिया-शील बन रहा है एवं वाग्वीर्य्य से भोक्ता बन रहा है । सृष्टिमर्य्यादा से आक्रान्त प्रत्येक आत्मा के ये ही तीन धर्म्म हमें प्रत्यक्ष में उपलब्ध हो रहे है । प्रत्येक आत्मा कुछ न कुछ जानता है, जानता रहता है, जानने का प्रयास करता रहता है । एवमेव यह कुछ करता रहता है, करते रहने का प्रयास करता रहता है । इस जानने और करने से आत्मा किसी भोग्य अन्न को लक्ष्य बनाए रहता है । इसका ज्ञानसहकृत कर्म्म किसी न किसी अर्थ को ही लक्ष्य बनाए रहता है, फिर वह लक्ष्य भातिसिद्ध हो, अथवा तो सत्तासिद्ध । इस प्रकार प्रत्येक आत्मा जानना-करना-लक्ष्य–इन तीन भावों से आक्रान्त ही उपलब्ध होता है । इसी प्रत्यक्षदृष्टि के आधार पर अनुमान करना पड़ता है कि आत्मा अवश्य ही ज्ञानमय-क्रियामय-अर्थमय है । अवश्य ही आत्मा के ये तीनों धर्म्म उसके काममय मन, तपोमय प्राण एवं श्रममयी वाक् से ही प्रादुर्भूत हैं । इन तीनों धर्म्मों में लक्षीभूत अन्न धामच्छद (स्थानावरोधी) है, शेष दोनों (ज्ञान-क्रिया) अधामच्छद हैं । लक्षीभूत अन्न (अर्थ) का वाग्वीर्य्य से, क्रिया का प्राणवीर्य्य से एवं ज्ञान का मनोवीर्य्य से सञ्चालन होता है । किंवा मनोवीर्य्य ज्ञानमय है, प्राणवीर्य्य क्रियामय है एवं अर्थवीर्य्य वाङ्मय है । वाग्वीर्य्य द्वारा संगृहीत अर्थ से आत्मा जीवित रहता है, प्राणवीर्य्य द्वारा संगृहीतकर्म्म से आत्मा कर्म्म करता रहता है एवं मनोवीर्य्य द्वारा संगृहीत ज्ञान से जानता रहता है । इन तीनों में जीवनमर्य्यादा-पेक्षया अन्न ही प्रधान इसलिए है कि अन्नादान से ही कर्म्म का सञ्चार होता है एवं अन्नादान से ही ज्ञानमयमन स्वस्थ रहता है । '**बुभुक्षितं न प्रतिभाति किञ्चित्**'–प्रसिद्ध है । सृष्टिसाक्षी अव्ययात्मा का (जिसे बलसम्बन्ध से हम कर्म्मात्मा कहेंगे) यही संक्षिप्तस्वरूप निदर्शन है और यही कर्म्माव्ययात्मा के तीन वीर्य्यों की शिक्षा का मौलिक विश्लेषण है, जिसका हमें द्विजातिप्रजा (आर्षमानवप्रजा) के साथ समन्वय करना है ।

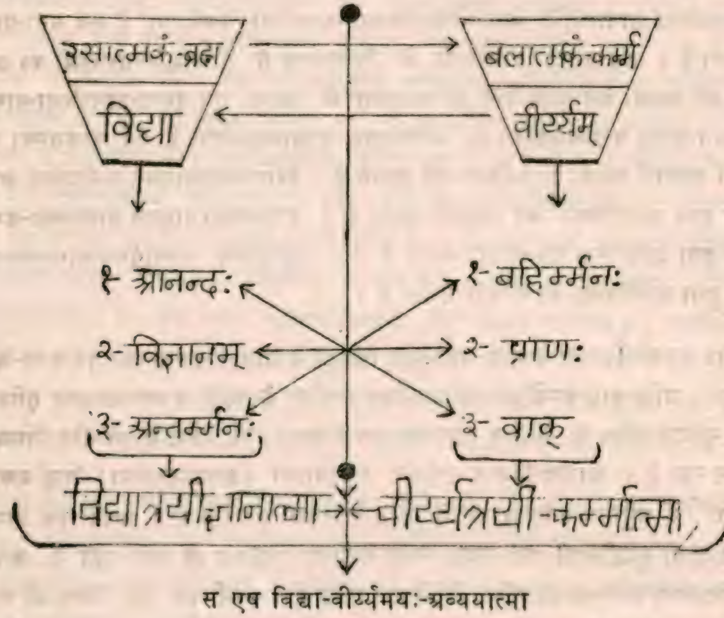
वर्णाश्रमाचारपरायणा आर्षमानवप्रजा का 'द्विज' भाव सुप्रसिद्ध है, जिसके ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य–ये तीन विभाग माने गए हैं । ज्ञानोपासक ब्राह्मण, क्रियोपासक क्षत्रिय, अर्थोपासक वैश्य–इन तीनों वर्णों में प्रत्येक में यद्यपि वही मनः-प्राण-वाङ्मय कर्म्मात्मा प्रतिष्ठित है । तथापि वीर्य्यत्रयी की प्रधानता-अप्रधानता से तीनों पर्व क्रमशः तीनों वर्णों में प्रधान बन जाते हैं । ज्ञानमय मनोवीर्य्य 'ब्रह्म-वीर्य्य' कहलाया है, क्रियामय प्राणवीर्य्य **क्षत्रवीर्य्य** माना गया है एवं अर्थमय वाग्वीर्य्य 'विड्वीर्य्य' माना गया है । ये तीनों आत्मवीर्य्य ज्ञानात्मानुगत त्र्यक्षरब्रह्म से अनुगृहीत रहते हैं । स्मरण कीजिए, उन हृद्याक्षरों का जिनका आरम्भ में दिग्दर्शन कराया गया है । आनन्दानुगत ब्रह्माक्षर ज्ञानमय ब्रह्मवीर्य्य का, विज्ञानानुगत इन्द्राक्षर क्रियामय क्षत्रवीर्य्य का एवं अन्तर्म्मनोऽनुगत विष्णवक्षर, अर्थमय विड्वीर्य्य का अनुग्राहक बन जाता है । इस प्रकार ब्रह्मात्मसंस्था में जैसे त्र्यक्षर सर्वेसर्वा बने रहते हैं, एवमेव इस वीर्य्यात्मसंस्था में भी उसी त्र्यक्षरमूर्ति अक्षर ब्रह्म का साम्राज्य स्थापित हो रहा है । कम्र्मात्माव्ययेश्वर इसी त्र्यक्षर द्वारा वीर्य्यात्मिका वर्ण सृष्टि के प्रवर्त्तक बनते हैं, जिस वर्ण सृष्टि का विशद वैज्ञानिक विवेचन गीताविज्ञानभाष्यभूमिका द्वितीय खण्ड के 'ख' विभाग में किया जा चुका है ।

प्रकृत में इस वर्ण चर्चा से यही वक्तव्य है कि अव्ययात्मा के कर्म्मात्मक त्रिवीर्य्यों से ही आर्ष-प्रजा का स्वरूप निष्पन्न हुआ है । ब्राह्मणप्रजा का कर्म्मात्मा (वीर्य्यात्मा) ब्रह्माक्षरानुगत-ब्रह्मवीर्य्य-प्रधान है । क्षत्रियप्रजा का कर्म्मात्मा इन्द्राक्षरानुगत क्षत्रवीर्य्य प्रधान है एवं वैश्यप्रजा का कर्म्मात्मा विष्णवक्षरानुगत विड्वीर्य्य प्रधान है । चौथा वर्ण (सच्छूद्र) इसी त्रिवर्ग का अनुगामी है । जन्मतः वीर्य्यशालिनी त्रिधा विभक्त इस आर्ष भारतीय मानवप्रजा के लिए उपदिष्ट वीर्य्यत्रयी-शिक्षा इसे–'**स्वे स्वे कर्म्मण्यभिरतः**' की ही अनुगामिनी बनाती है । वीर्य्यशिक्षा के द्वारा ही द्विजाति-प्रजा स्व-स्व वीर्य्यस्वरूप समझती हुई स्व-स्व कर्म्म पर आरूढ रह सकती है । गीताशास्त्र ने इसी उद्देश्य से ब्रह्मत्रयी-युक्ता इस वीर्य्यत्रयी का संकेतरूप से विश्लेषण किया है, जो आर्षमानवप्रजा के कर्त्तव्य-कर्म्म कौशल की दृष्टि से अपना एक विशेष महत्त्व रखता है । इसी महत्त्व-प्राकट्य के लिए हमने स्वतन्त्र शिक्षा रूप से इसे 'आर्षगीतासारपरीक्षा' प्रकरण में समाविष्ट कर दिया है । जिस शिक्षात्मक आत्म-वीर्य्य विश्लेषण के द्वारा परोक्षरूप से गीता के मूलभूत लक्ष्य बुद्धियोग का भी समर्थन हो रहा है । कैसे ?

श्रूयताम् ! पूर्वपरिच्छेद में यह बतलाया गया है कि एक ही अव्ययात्मा के विभिन्न चार विवर्तों के आधार पर आत्मकल्याण के चार मार्ग विभक्त हो जाते हैं । वे चारों आत्मविवर्त क्रमशः परात्पर-पर-परम-अवर नामक अव्ययात्मा हैं एवं इन चारों से सम्बद्ध कल्याणपथ क्रमशः बुद्धि-भक्ति-ज्ञान-कर्म्मयोग हैं । प्रकृत वीर्य्यशिक्षात्रयी से इस गतविषय का भलीभाँति समन्वय हो जाता है । आनन्द-विज्ञान-मनोघन विद्याव्यय मुख्य आत्मा है एवं मनः-प्राण-वाङ्मय कर्म्माव्यय इस मुख्य आत्माधारेण प्रतिष्ठित रहने वाला विश्वानुगत आत्मा है । कर्म्मात्मा के मनः-प्राण-वाक् पर्वों के (वीर्य्य-त्रयी के) त्रिवृत्करण से इसके तीन विभिन्न आत्मविवर्त बन जाते हैं । प्राण-वाग् गर्भित मनःप्रधान विवर्त एक विवर्त है-यही ज्ञानात्मा है । मनोवागर्भित प्राणप्रधान विवर्त्त दूसरा विवर्त्त है-यही कर्म्मा-

त्मा है । मनः-प्राणगर्भित वाक्प्रधान विवर्त्त तीसरा विवर्त्त है-यही अर्थात्मा किंवा भूतात्मा है । प्राण-वाक्-मनोमय कर्म्मात्मा ज्ञानात्मा है, मनः-वाक्-प्राणमय कर्म्मात्मा 'कर्म्मात्मा' है एवं मनः-प्राण-वाङ्मय कर्म्मात्मा अर्थात्मा है । इस प्रकार वीर्य्यत्रयी के त्रिवृत्करण से तीन आत्मसंस्थाओं का प्रादुर्भाव हो जाता है, जिन्हें हम क्रमशः मनः-प्राण-वाक् की प्रधानता से क्रमशः मनःसंस्था-प्राणसंस्था-वाक्संस्था भी कह सकते हैं । मनःसंस्था पराव्ययसंस्था है, प्राणसंस्था परमाव्ययसंस्था है एवं वाक्संस्था अवराव्यय-संस्था है । तीनों संस्थाएँ क्रमशः ज्ञान-क्रिया-अर्थ प्रधान हैं । पराव्ययसंस्थानुगत मनोऽनुगत ज्ञान साम्या-वस्थापन्न बनता हुआ भक्तिनिष्ठा का आधार बनता है । पराव्ययसंस्थानुगत-प्राणानुगत-कर्म्म निवृत्ति भावापन्न बनता हुआ ज्ञाननिष्ठा का आधार बनता है एवं अवराव्यय संस्थानुगत-वागनुगत-कर्म्मप्रवृत्ति भावापन्न बनता हुआ कर्म्मनिष्ठा का आधार बनता है ।

इस प्रकार कर्म्माव्ययात्मा के मनः-प्राण-वाग् विवर्तों के आधार पर क्रमशः पर-परम-अवरात्माओं का एवं तदनुगत भक्ति-ज्ञान-कर्म्मनिष्ठाओं का विकास होता है-यही कर्म्माव्ययात्मा सृष्टिसाक्षी है । अतएव केवल सृष्टिमर्य्यादा से सीमित संसारपरायण विद्वानों की दृष्टि में इन तीन निष्ठाओं का ही अस्तित्व सुरक्षित रहा है । आनन्द-विज्ञान-मनोघन अव्ययात्मा (ज्ञानाव्ययात्मा) **'नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः'** के अनुसार सर्वसाधारण के लिए अप्रत्यक्ष ही रहा है । फलतः इस ज्ञानाव्ययात्मा से सम्बन्ध रखने वाली बुद्धिनिष्ठा भी विद्वत्समाज के लिए अप्रत्यक्ष ही बनी रही है, अतएव गीता-शास्त्र विश्वदृष्टिप्रधान सन्तमत की दृष्टि से केवल भक्ति-ज्ञान-कर्म्म-इन तीन निष्ठाओं का ही प्रति-पादक बनाया गया है एवं आत्मदृष्टिप्रधान आर्षधर्म्म की दृष्टि से सम्बन्ध रखने वाली बुद्धिनिष्ठा इन सन्तों की दृष्टि में सर्वथा परोक्ष ही बनी रह गई है । परन्तु जब हम गीताशास्त्र में प्रतिपादित वीर्य्यत्रयी का स्वरूप अन्वेषण करने चलते हैं, तो उस समय स्वतः मनः-प्राण-वाग्लक्षणा वीर्य्यत्रयी के आनन्द-विज्ञान-मनोघन उस मूलाधार की ओर हमारा ध्यान आकर्षित हो जाता है-जो मूलाधार बुद्धि-निष्ठा का भी आधार बन रहा है । इस प्रकार वीर्य्यत्रयी-शिक्षा के द्वारा प्रत्यक्षरूप से लोकप्रचलिता निष्ठात्रयी का एवं आधारमर्य्यादापेक्षया लोकातीता बुद्धिनिष्ठा का-इन चारों का स्वरूप अवगत हो जाता है । निम्नलिखित तालिकाओं को लक्ष्य बनाइये और तदाधारेण वीर्य्यत्रयी से सम्बद्धा शिक्षा के लक्ष्य का समन्वय कीजिए—



स एष विद्या-वीर्य्यमयः-अव्ययात्मा



१–बहिर्म्मनः—ब्रह्माक्षरानुगतं ब्रह्मवीर्य्यम्—→ब्राह्मणानाम् (ज्ञानबलम्)

२–प्राणः——इन्द्राक्षरानुगतं क्षत्रवीर्य्यम्—→क्षत्रियाणाम् (क्रियाबलम्)

३–वाक्—·—विष्ण्वक्षरानुगतं विड्वीर्य्यम्→वैश्यानाम् (अर्थबलम्)



१–ज्ञानमयं——मनः——काममयम्—त्रिवृद्भावेन—ज्ञानात्मा (परात्मा)

२–क्रियामयः—प्राणः—तपोमयः—त्रिवृद्भावेन—कर्म्मात्मा (परमात्मा)

३-अर्थमयी——वाक्—श्रममयी—त्रिवृद्भावेन— भूतात्मा (अवरात्मा)

} विश्वसाक्षी →कर्म्मात्मा वीर्य्यशाली

१–आनन्दात्मकं—मनः-—→आनन्दः
२–विज्ञानात्मकः-प्राणः→विज्ञानम्
३–मनोघना-——वाक्-—→मनः
→त्रिवृद्भावापन्नं 'मनः'–ज्ञानात्मा (मनः)

१–मनोमयं—मनः—→मनः
२–प्राणमयः—प्राणः→प्राणः
३–वाङ्मयी—वाक्-→वाक्
→त्रिवृद्भावापन्नः प्राणः-कर्म्मात्मा (प्राणः)

१–वाङ्मयं मनः——मनः-—→वाक्
२–आपोमयः प्राणः—प्राणः-—→आपः
३–अग्निमयी वाक् —वाक्-—→अग्निः
→त्रिवृद्भावापन्ना वाक्-भूतात्मा (वाक्)

विद्यात्मा←–[१–आनन्दविज्ञानमनोघनः –आनन्दविज्ञानमनोमयः——→परात्परात्मा (परात्परः)–बुद्धिनिष्ठाधिष्ठाता

वीर्य्यात्मा –
२–प्राणवाग्गर्भितो मनोघनः —आनन्दविज्ञानमनोमयः——→परात्मा (अव्ययः)–भक्ति-निष्ठाधिष्ठाता
३–मनोवाग्गर्भितः प्राणघनः —मनःप्राणवाङ्मयः ——→परमात्मा (अक्षरः) ज्ञान-निष्ठाधिष्ठाता
४–मनःप्राणगर्भितो वाग्घनः —वागापोऽग्निमयः ——→अवरात्मा (आत्मक्षरः)–कर्म्मनिष्ठाधिष्ठाता

समाप्ता चेयं त्रिवीर्य्यशिक्षा–षष्ठी

॥६॥

अथ

शोकस्वरूपप्रदर्शनपूर्विका-शोकनिवृत्त्युपायशिक्षा–सप्तमी

७

১৯৫৫

[illegible]

৩

७–शोकस्वरूपप्रदर्शनपूर्विका–
"शोकनिवृत्त्युपायशिक्षा"–सप्तमी

अब क्रमप्राप्त उस शिक्षा–प्रकरण की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है, जो शिक्षा-प्रकरण आस्तिक आर्षप्रजा का प्रातिस्विक पैतृक दायाद माना गया है । आर्षमानव प्रजा की यह चिरन्तन निष्ठा है कि जीवात्मा उस परमात्मा का ही एकांश है, जो परमात्मा–**'आनन्दमयोऽभ्यासात्'** इस आर्षसिद्धान्त के अनुसार नित्यानन्दविज्ञानमनोघन है । अपने अंशीभूत परमात्मतत्त्व का स्वरूपलक्षण करते हुए आर्षप्रजा ने इस सम्बन्ध में अपना यह सिद्धान्त पदे पदे व्यक्त किया है कि परमात्मा नित्य है, विज्ञानघन है, आनन्दस्वरूप है । **'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'**–**'नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म'**–इत्यादि श्रुतियाँ बतला रही हैं कि विश्वोत्पत्ति-स्थिति-भङ्गकारणभूत ब्रह्म अपने कर्म्मात्मक (वीर्य्यात्मक) मनःप्राणवाग्भाग से सत्तात्मक बनता हुआ सत्य है, अतएव शाश्वत है–नित्य है । **'मनःप्राणवाचां संघातः सत्ता'** लक्षण के अनुसार मनःप्राणवाग्रूप ब्रह्मभाग ही सत्ता है–यही ब्रह्म का प्रथम पर्व है । दूसरा पर्व विज्ञान है, तीसरा पर्व आनन्द है । आनन्दपर्व आनन्द है, विज्ञानपर्व 'चित्' है, मनःप्राण-वाग्सत्तापर्व सत् है । तीनों पर्वों की समष्टि 'सच्चिदानन्द' है । विश्वदृष्टि से प्रथम पर्व सत् है, क्योंकि मनःप्राणवाङ्मय सत्ताब्रह्म ही वीर्य्यात्मक सृष्टिसाक्षी ब्रह्म है–तदन्तर्गर्भित विज्ञानलक्षण चित् है–सर्वान्तिरतम आनन्द है । आनन्द-विज्ञान-मनःपर्वत्रयी विद्याब्रह्म है, मनःप्राण-वाक्पर्वत्रयी वीर्य्यब्रह्म है । विद्या-वीर्य्यसमष्टि ही ज्ञानकर्म्मोभयलक्षण सच्चिदानन्द ब्रह्म है । इस प्रकार त्रिवीर्य्य-शिक्षात्मक पूर्वपरिच्छेद में विद्या-वीर्य्यात्मक जिस आत्मतत्त्व का विश्लेषण कराया गया है–वह आत्मदेवता नित्यानन्द-नित्यविज्ञान-नित्यसत्तास्वरूप सिद्ध हो जाता है–जैसा कि परिलेख से स्पष्ट है—

विद्यात्मा-ज्ञानात्मा
- १–आनन्दः (विद्या)]→(१)–आनन्दः—आनन्दमयकोषः]→आनन्दः]→आनन्दः
- २–विज्ञानम् (विद्या)]→(२)–विज्ञानम्–विज्ञानमयकोषः]→विज्ञानम्]→चित्
- ३–अन्तर्म्मनः (विद्या)

वीर्य्यात्मा-कर्म्मात्मा
- ४–बहिर्म्मनः (वीर्य्यम्)
  - (३ और ४) →(३)–मनः–मनोमयकोषः
- ५–प्राणः (वीर्य्यम्)] →(४)–प्राणः-प्राणमयकोषः
- ६–वाक् (वीर्य्यम्)] →(५)–वाक्–अन्नमयकोषः
  - (३, ४, ५) → मनःप्राणवाक्संघातः]→सत्

सत्-चित्-आनन्दः–सच्चिदानन्दः

"ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः"–इस गीतावचनानुसार जीवात्मा 'अस्मच्छब्दवाच्य' उस सच्चिदानन्दघन-विद्या-वीर्य्यलक्षण-ज्ञानकर्म्ममय अव्ययात्मा का ही अंश है। अंशी अव्ययेश्वरकारण-ब्रह्म है, तो अंश जीवाव्यय कार्य्यब्रह्म है। **'कारणगुणाः कार्य्यगुणानारभन्ते'**–प्रसिद्ध है, अतएव सिद्ध है कि जीवात्मा भी अपने कारणभूत अव्ययेश्वर की भाँति सच्चिदानन्दघन बनता हुआ सर्वात्मना पूर्ण है। 'अदः' यदि पूर्ण है तो 'इदम्' की पूर्णता भी अक्षुण्ण है। इस प्रकार अव्ययेश्वरांशभूत जीवात्मा की पूर्णता, शाश्वतता, आनन्दरूपता तत्त्वदृष्ट्या सर्वात्मना प्रमाणित हो रही है। आर्षप्रजा की इसी चिरन्तन मान्यता के सम्बन्ध में अनार्षप्रजा की ओर से और साथ ही भुक्त प्रत्यक्षदृष्टि से भी प्रमाणित सर्वथा विपरीत ही हो रहा है। प्रत्यक्षानुभूति ही तो सिद्धान्तों की कसौटी है। मानव समाज अधिकांश में अनुभव इस सिद्धान्त से ठीक विपरीत कर रहा है, अतएव इस सम्बन्ध में प्रश्न-परम्परा का आविर्भाव स्वाभाविक बन जाता है। मानवीय जीवात्माओं का कारणभूत अन्तरात्मा (अव्ययात्मा) यदि आनन्द-चित्-सल्लक्षण है, तो यह सार्वजनिक जिज्ञासा स्वाभाविक बन जाती है कि–'मानव समाज दुःखी क्यों? देख रहे हैं और अनुभव कर रहे हैं कि संसार-सागर में अपनी शरीर-नौकाओं के सहारे इतस्ततः विच-रण करने वाला मानव अपने जन्मक्षण से आरम्भ कर मृत्युक्षणपर्य्यन्त रोग-शोक-दरिद्रता-अज्ञान आदि दुःखों से सदा उत्पीड़ित बना रहता है। जिस दुःख की मानव भूलकर भी स्वप्न में भी कल्पना नहीं करता, वह दुःख विना इच्छा के, विना निमन्त्रण के पदे-पदे मानव को क्षुब्ध-अशान्त-उत्पीड़ित करता रहता है।

ठीक इसके विपरीत जिस सुख की मानव सतर्कतापूर्वक सब अवस्थाओं में न केवल कल्पना ही किया करता है, अपि तु, उसे प्राप्त करने के लिए अपनी सम्पूर्ण शक्तियों से प्रयत्नशील बना रहता है, वह सुख-वह शान्ति उस मानव के लिए सदा दुष्प्राप्य सामग्री बनी रहती है। यदि मानव का आध्यात्मिक-स्वरूप आनन्दशिला पर प्रतिष्ठित है, तो ऐसा क्यों होता है? क्यों उसे इच्छा न रखते भी दुःख सतात रहते हैं, एवं क्यों इच्छा रखते भी उसे अभिलषित शान्ति-सुख प्राप्त नहीं होता? जिन सम्राट्-चक्रवर्ती-मण्डलेश्वर-राजा-महाराजाओं के पास लौकिक भोग-सामग्री प्रचुरमात्रा में सञ्चित हैं, देखते हैं, सुनते हैं–वे भी आहें भर रहे हैं। जिन विद्वानों ने यावज्जीवन स्वाध्याय द्वारा ज्ञानार्जन करते करते अपने शरीर सुखा-सुखा डाले हैं, उनकी भोजन चिन्ता ही उन्हें आकुल-व्याकुल बनाए रहती है। जिन बल-शाली मल्लों-वीरों की हुङ्कार से समाज कम्पित होता रहता है, वे भी इतस्ततः अनुधावन करते हुए संत्रस्त ही उपलब्ध हो रहे हैं। जिन व्यवसायिकों ने अपनी व्यवसायबुद्धि द्वारा अतुलवैभव को संग्रहकर अपने आपको महा सम्पत्तिशाली बना लिया है, वे भी आए दिन ज्योतिषियों के सम्मुख अपना दुःखड़ा रोया करते हैं। जिस शूद्रवर्ग के शिल्प-कला-कौशल को देख-सुनकर मानव समाज उनके हाथ चूमा करता है, यह शूद्रवर्ग भी सुखी-शान्त प्रतीत नहीं हो रहा। जब वर्णप्रजा की ही यह दशा है तो अवर्णमानवप्रजा (म्लेच्छ-यवनादि) के सम्बन्ध में कहना-सुनना व्यर्थ है। चेतन मानवप्रजा के अति-रिक्त चेतन पशुप्रजा की भी यही स्थिति है। घास है तो दाना नहीं। दाना-घास है तो पानी नहीं। सब कुछ है तो बोझा ढोहने से विराम नहीं। इस प्रकार विश्वपटल पर अङ्कित बड़े से बड़ी, छोटी से छोटी चेतन-प्रजा अवश्य ही किसी न किसी दुःख-अशान्ति-खेद-क्षोभ से आक्रान्त बन रही है। महामहाप्रयास

करता हुआ भी प्रजावर्ग शोकप्रतीकार में असमर्थ है। कारण विदित होता नहीं, शोक आक्रमण कर बैठता है। कब किस रोग का, कब किस दुर्घटना का, आक्रमण हो जाता है—यह सर्वथा अज्ञात रहता है। आकस्मिक आक्रमण होते ही रहते हैं, और यों प्राणिमात्र दुःखसंविग्नमानस बने ही रहते हैं।

मानते हैं—यत्र-तत्र सुख-शान्ति के भी दर्शन होते रहते हैं। परन्तु, विश्वास कीजिए, दुःख के समतुलन में इन क्वाचित्क सुखाभासों का कोई महत्त्व नहीं है और फिर तत्त्वज्ञों ने तो इस सम्बन्ध में अपना मत यह प्रकट कर डाला है कि जिसे संसारी मानव सुख-शान्ति मान रहा है, वह तो दुःख-अशान्ति का क्षणिक विराममात्र है। एक भारवाही भार से संत्रस्त होकर क्षणमात्र के लिए भार को कहीं रखकर विश्राम करने लगता है। इन विश्रामक्षणों को वह सुख मान सकता है, यदि इसी का नाम सुख है तो। प्रवृद्ध अशान्ति, प्रवृद्ध दुःख जिस क्षण में क्षणमात्र के लिए शान्त हो जाता है, इस क्षणिक विश्राम का ही नाम सुख-शान्ति है। इस क्षणिक सुख-शान्ति के साथ ही इस मानव के सामने भविष्यत् का भार इसे अपनी ओर आकर्षित करता रहता है। इस ओर प्रचुर दुःख, उस ओर महाविभीषिका, मध्य में क्षणमात्र के लिए सुखाभास। क्या ऐसे संदंशपतित, उभयतः दुःखानुविद्ध क्षणिक सुख को 'सुख' नाम से विभूषित करना न्यायसंगत होगा ? नहीं। मानना पड़ेगा कि जिसे संसारी मानव 'सुख' कहता है—वह दुःखानुविद्ध बनता हुआ दुःख की ही एक अवस्थाविशेष है।

तत्त्वदृष्टि को छोडते हुए केवल संसारदृष्टि से ही विचार कीजिए। मान लेते हैं, दुःख के साथ-साथ सुख भी प्रजा का दायाद बना रहता है। इसी आधार पर लोक में यह प्रसिद्ध भी है कि—'सुख-दुःख का जोड़ा है'। इसी लोकानुभव के आधार पर मान लेते हैं कि संसार में यदि दुःख है, तो सुख भी है। ठीक, परन्तु यह तो देख अन्वेषण कर लीजिए कि मायादृष्टि से दुःख का स्थान प्रमुख है अथवा सुख का ? इस अन्वेषण के द्वारा अवश्य ही आपको इसी निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ेगा कि संसार में सुख बहुत स्वल्प है और दुःख बृहत् है। जीवन में दुःखावसर निःसीम हैं, असंख्यात हैं। परन्तु सुखावसर ससीम हैं, परिगणित हैं। और फिर आश्चर्य्य तो यह है कि दुःख विना भी प्रयास के निःसीममात्रा से अतिथि बनता रहता है, उधर सुख जीवनभर प्रयास करते रहने पर भी सुदुर्लभ ही बना रहता है। यदि आर्षमानव के तथाकथित सिद्धान्तानुसार उसकी त्रिवीर्य्यशिक्षा से सम्बद्ध आत्मस्वरूप व्याख्या के अनुसार जीवात्मा नित्यानन्द विज्ञानघन है, तो इस दुःख का प्राधान्य क्यों ? और कैसे हुआ ? सिद्धान्तवादी के सिद्धान्त के अनुसार तो मानव को कभी दुःखी रहना ही नहीं चाहिए। परन्तु प्रत्यक्ष में हम देखते हैं कि मानव दुःखी है, अतएव मान लेना चाहिए कि आत्मा कभी आनन्दमय नहीं है। आर्षप्रजा यदि केवल सिद्धान्त के बल पर यह कहेगा कि—**'पूर्णमदः पूर्णमिदम्'**—तो अनार्ष-लौकायतिक मानव अपनी प्रत्यक्षानुभूति के आधार पर यह कहने का अधिकार रखेगा कि **'शून्यमदः शून्यमिदम्'**। आर्षप्रजा जहाँ अपने सिद्धान्तवाद के व्यामोह में पड़कर पूर्णं पूर्णम्, नित्यं-नित्यं-आनन्दः-आनन्दः—की घोषाणा करती रहेगी, तो वहाँ प्रत्यक्षवादिनी लौकिक प्रजा ठीक उसके विपरीत 'शून्यं-शून्यं, अनित्यं-अनित्यं, दुःखं-दुःखम्'—इस सर्वानुभूति का अनुगमन करती रहेगी। यद्वा-तद्वाऽस्तु। आर्षसिद्धान्तवादी कुछ भी मानते-जानते कहते रहें। प्रत्यक्षानुभव के द्वारा यह अवश्य माना जाना

ग्रौर कहा जा सकता है कि यदि आत्मा आनन्दमय होता तो मानव कभी दुःख न पाता। चूंकि प्रत्यक्ष में हम मानव को अधिकांश में दुःखी-ग्रशान्त-चिन्तित देख-सुन रहे हैं, ग्रतएव कहना पड़ेगा कि 'ग्रात्मा ग्रानन्दमय नहीं है'।

संशय ग्रर्वाचीन नहीं है, ना ही असङ्गत। ग्रानन्दमय आत्मप्रपत्ति के सम्बन्ध में ऐसे संशयों का आविर्भाव-तिरोभाव स्वाभाविक है। क्षणजगत् के उपासक ग्रनार्षमानव की दृष्टि में ऐसे संशय सदा से ही प्रस्फुटित होते आए हैं एवं ग्रक्षण ग्रात्मा के उपासक ग्रार्षमानव की दृष्टि में ऐसे संशय सदा से ही उपेक्षणीय बनते रहे हैं। संशय का जन्मदाता ग्रनार्ष-लौकायतिक भी यह तो ग्रवश्य ही मान रहा है कि 'मानव की सुखेच्छा स्वाभाविक है', प्राकृतिक है, सहजसिद्ध है'। उसकी इस मान्यता को ग्राधार बनाकर ही हमें उसकी दुःखमूला भ्रान्ति का निराकरण करना है। 'इच्छा' शब्द का क्या अर्थ ?–प्रश्न का ग्रनार्षमानव क्या उत्तर देगा ? इस प्रतीक्षा में समय का दुरुपयोग न कर हम ग्रार्षमानव के द्वारा सिद्धान्तित परिभाषा के ग्राधार 'इच्छा' शब्दार्थ के सम्बन्ध में इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि–"किसी भी मूलबिम्ब से निकलने वाली रश्मियों-किरणों का नाम ही 'इच्छा है'"। उदाहरण के लिए सूर्य्यगोलक, चन्द्रगोलक, ग्रन्यान्यग्रह-नक्षत्रगोलक मूलबिम्ब हैं एवं इन मूलबिम्बों से विनिःसृत रश्मियाँ ही रश्मि-गर्भीभूत पदार्थों के सम्बन्ध से 'इच्छा' नाम से व्यवहृत हुई हैं। 'इष्' धातु ग्रन्नभावात्मक है, ग्रतएव विज्ञानभाषा में 'इष्' (इट्) को 'ग्रन्न' कहा गया है। 'इषेत्वोर्जे त्वा'–इत्यादि यजुर्म्मन्त्रश्रुति में 'इषे' का ग्रर्थ है 'ग्रन्नाय' एवं 'ऊर्जे' का अर्थ है 'बलाय'। बुभुक्षित मानव के प्राण, बलमूर्च्छित से रहते हैं, शरीरयष्टि निर्बल-ग्रस्थिर-कम्पित बनी रहती है। जब वह पेट भर भोजन कर लेता है तो इस ग्रन्नादान से उसमें एक प्रकार का दीप्तिबल प्रस्फुटित हो जाता है। सुस्ती हट जाती है, आँखें खुल जाती हैं, स्फूर्त्ति ग्रा जाती है। शरीरयष्टि सुस्थिर बन जाती है। मानना पड़ेगा कि अन्न ग्रवश्य ही बल का जनक है। ग्रन्न से उत्पन्न इसी विशेष बल का नाम है–'ऊर्क्'–जिसका वर्षाऋतु में साक्षात्कार किया जा सकता है। वर्षा से (पानी बरसने से) पहले ग्राप देखेंगे कि वृक्षों के पत्ते मुर्झाए से, दबे से, श्री हीन से, रूक्ष से, निस्तेज से बने रहते हैं। पानी बरसता है। बरसा हुआ पानी पत्ते-पत्ते में समा जाता है। इस ग्रापः-प्रवेश से पत्ता-पत्ता नाच उठता है। मुर्भाव हट जाता है, पत्ते विकसित हो जाते हैं, रूक्षता जाती रहती है। यह स्वाभाविक विकास ही 'ऊर्क्' नामक विशेष बल का साक्षात्-प्रत्यय है। **'यो वृष्टादूर्क्रसो जायते'**–इत्यादि ब्राह्मण श्रुति के द्वारा इसी ऊर्क् रस का अभिनय हुग्रा है। **'पर्ज्जन्यादन्नसंभव'**–इत्यादि गीतासिद्धान्त के ग्रनुसार एवं **ग्रादित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नम्**–इत्यादि मानव सिद्धान्तानुसार वर्षा ही अन्न की जननी है। वर्षा-मुक्त ऊर्क्रस वर्षा के द्वारा ग्रन्न में भी ग्रन्तर्य्याम-सम्बन्ध से प्रविष्ट हो जाता है। इस सोमात्मक अन्न की शारीराग्नि में मानव ग्राहुति देता है। अन्नाहुति को ग्रहण कर शारीराग्नि उस ग्रन्न के ऊर्क् रस को तो शरीर में प्रतिष्ठित कर देता है एवं पार्थिव मलभाग को फेंक देता है। ग्रन्नाहुति-ग्रहण करने वाला बुभुक्षा-सूत्र (ग्रशनाया-सूत्र) ही प्राणशक्ति है। इस प्राणशक्ति से–प्राणपाश से ग्रन्न शारीराग्नि में ग्राहुत हुआ, ग्रन्न ऊर्क्रूप में परिणत हुग्रा, ऊर्क् ने प्राण को बलप्रदान किया, ऊर्क्बल से बलवान् बने हुए प्राण ने इन्द्रियों के द्वारा विविध शारीर कर्म्म किए। इन कर्म्मों में प्राणबल खर्च हो गया। प्राण पुनः निर्बल बन गया। निर्बल प्राण

ने स्वक्षतिपूर्त्ति के लिए पुनः अन्नादान किया। अन्न से पुनः ऊक् बना। इस प्रकार 'अन्न-ऊक्-प्राण' तीनों के इस पारम्परिक चंक्रमण से शरीरयज्ञसंस्था सुरक्षित बनी रहती है। इसी आधार पर वैज्ञानिकों ने इस 'अहरहर्यज्ञः' नामक शारीरयज्ञ का लक्षण किया है–"**अन्नोक्प्राणानामन्योन्यपरिग्रहो यज्ञः**"।

'इष्' किंवा इट् का नाम है–'**अन्न**'–यही पूर्व का निष्कर्ष है। इस इट् (अन्न) के प्रति सुप्त रहने वाली (आत्मसमर्पण करने वाली) विशेषवृत्ति ही '**इट्**'–**अन्नं, तं प्रति शेते** निर्वचनानुसार '**इच्छा**' कहलाई है, जो विशेषवृति 'प्राणवृत्ति' नाम से प्रसिद्ध है। जिसे लोकभाषा में 'इच्छा' कहते हैं, उसका तात्त्विक विश्लेषण है–'अभिलषित भोग्य पदार्थ को स्वगर्भ में प्रतिष्ठित करने वाली प्राणवृत्ति'। 'अमुक मनुष्य वित्त की इच्छा करता है'–इस वाक्य का अर्थ यद्यपि यह नहीं होगा कि उस अमुक को वित्त मिल गया है, तथापि प्रयास द्वारा भविष्य में मिलने वाले वित्त को उसकी प्राणवृत्ति ने अपने गर्भ में संकल्परूप से ले लिया है। प्रत्येक ऐच्छिक विषय इच्छा गर्भ में पहले ही समाविष्ट हो जाता है। दूसरे शब्दों में प्राप्तव्य वस्तु में प्राण आत्मसमर्पण कर देता है, अतएव '**तत्र विषये भोग्ये अन्ने शेते प्राणवृत्तिः**' के आधार पर इसे 'इच्छा' कहना अन्वर्थ बन जाता है। संकल्पित भोग्यविषय को **स्वगर्भ** में रखने वाली इस प्राणवृत्ति का किंवा वृत्त्यात्मक प्राण का जिस हृदयमूल से उत्थान होता है–वह प्राणवृत्तिकेन्द्रकन्दल ही मूलबिम्ब है, जो प्राणोत्थान का आलम्बन बनता हुआ विज्ञानभाषा में '**यत उत्तिष्ठति प्राणः**' निर्बचन से 'उक्थम्' कहलाया है। उक्थ नामक मूलबिम्ब से निकलने वाला गतिधर्म्मा प्राण, किंवा प्राणवृत्ति अपनी स्वाभाविकगति से 'आगति-गति'–इन दो भावों में परिणत होकर ही अग्रेसर बनती है। सूर्य्यरश्मि को ही उदाहरण बनाइए। जहाँ छाया और आतप (धूप) का समतुलन हो, वहाँ दृष्टि डालिए। आतप ज्यों-ज्यों आगे सरकता है, छाया उसी अनुपात से आतप से संलग्न रहती हुई अग्रगामिनी बनती है। छाया-आतप के मध्य में आप रेखा खैंच दीजिए, जो इन दोनों की सीमा निर्धारित कर दे। आप देखेंगे, मध्यस्थ रेखा के उस ओर सीमित आतप (धूप) छाया की ओर आता हुआ ही अग्रगामी बनेगा। कुछ पीछे हटता हुआ ही आगे चलेगा। यह पीछे हटना आगति है, आगे बढना गति है। इन दोनों गतियों की समष्टि से ही आतप, दूसरे शब्दों में–'रश्मिगति का स्वरूप सम्पन्न हुआ है। रश्मिगति ही क्या, गतिमात्र का यही स्वभाव है। प्रत्येक प्राणी की गति में भी आगतिपूर्वक ही गति होती है। एक पैर पीछे हटता है, तब दूसरा पैर आगे बढता है। दौड़ लगाने वाला मल्ल दौड़ से पहले पीछे हटता है, पुनः अग्रगामी बनता है। ऐसा होता इसलिए है कि प्रत्येक गति द्यावापृथिव्य होती है, फिर वह खगोलीय सौर परिवार की गति हो अथवा तो भूगोलीय पार्थिव परिवार की गति हो। द्यु खगति है, यह गति है। पृथिवी भूगति है–यह आगति है। उभयसमष्टि द्यावापृथिव्य गति है। पीछे हटना आगति लक्षणा भूगति है, इसे ही 'अपानगति' कहा जाता है। आगे बढना गति-लक्षणा खगति है, इसे ही 'प्राणगति' कहा जाता है। पार्थिवगति-अपानगति प्रधान बनती हुई भी प्राण-गतिगर्भिता बनती हुई उभयात्मिका है एवं सौरगति-प्राणगति प्रधान बनती हुई भी अपानगतिगर्भिता बनती हुई उभयात्मिका है। प्राणगति 'प्राणत्' है, आपनगति 'अपानत्' है। 'अस्य प्राणदपानती' –इत्यादि मन्त्रवर्णनानुसार प्राणात्मिका प्रत्येक रश्मि प्राणत्-अपानत् रूप से उभयनिष्ठा ही बनी रहती है। इसी उभयव्यापार को विज्ञानभाषा में 'अर्चंश्चरति' निर्वचन से 'अर्क' कहा गया है। प्रजापति ने

प्राणगति को द्यावापृथिव्य (उभयात्मक) क्यों बनाया ? प्रश्न का उत्तर है–'अशिति' (अन्न) उभयतो-वेष्टन से ही गृहीत अन्न सुरक्षित बना रहता है। यदि प्राणगति केवल प्राणत्-धर्म्मिणी ही होती तो अशितिलक्षण गृहीत अन्न पृष्ठभाग के रिक्त रह जाने से कालान्तर में ही बाहर निकल जाता और फलस्वरूप प्राण का अन्नग्रहणश्रम व्यर्थ बन जाता। प्राणत् से जहाँ अन्न का प्राणगर्भ में आगमन होता है, वहाँ अपानत् से आगत अन्न भित्ति-सीमावत् सुरक्षित-संगृहीत बना रहता है। इस प्रकार मूलबिम्बात्मक उक्थ से विनिर्गत रश्मिरूप अर्क स्वप्राणदपानत्-व्यापार से अन्नलक्षण अशिति का परिग्रहण करता हुआ प्रत्येक पदार्थ के भैषज्य-यज्ञ का सञ्चालन करता रहता है, अतएव वैज्ञानिकों ने यज्ञ का यह भी लक्षण किया है–**'उक्थार्काशितीनामन्योऽन्यपरिग्रहो यज्ञः'**।

जैसा-यज्जातीय मूलबिम्ब (उक्थ) होगा, उससे वैसी तज्जातीय ही रश्मियाँ (अर्क) निकलेंगी। यदि मूलबिम्ब कृष्ण होगा तो रश्मियाँ भी काली ही होंगी। बिम्ब की शुक्लता रश्मिशुक्लता का कारण बनेगी। उक्थबिम्ब कारण है तो अर्क रश्मियाँ कार्य्य हैं। कारणधर्म्म ही कार्य्य में अनिवार्य्यरूप से विकसित होते हैं। इस तत्त्वदृष्टि को आधार बनाकर ही सुख-दुःख की मीमांसा मीमांस्य है। यह सार्वजनीन प्रत्यय है कि प्रत्येक मानव की अर्करूपा इच्छा सुखानुगता है–सुखात्मिका है। मानव का उक्थबिम्ब उसका हृदयस्थ वह आत्मबिम्ब है जिससे सुखैषणा का उदय होता है। सिद्ध है कि आत्मा अवश्य ही आनन्दमय है। यदि आत्मबिम्ब आनन्दमय न होता, तो उससे विनिर्गत रश्मिरूपा इच्छा कभी सुखात्मिका न होती। सुखेच्छा भी कृत्रिम नहीं, अपि तु, स्वाभाविक-सहज। यह तभी सम्भव है जबकि इच्छा के मूलप्रभव आत्मा को सुखमय मान लिया जाए। कितने एक मानव सांसारिक कष्टों से संत्रस्त होकर विषपान, नदीपतन आदि की इच्छा करने लगते हैं। अवश्य ही ऐसी इच्छाएँ बाह्यदृष्टि से सुखवर्जिता दुःखात्मिका प्रतीत होती हैं। ऐसी दुःखात्मिका इच्छाओं के आधार पर ही अनार्ष मानव आत्मा के आनन्दमयत्व में संशय भी करने लगता है। परन्तु थोड़ी तत्त्वदृष्टि से विचार करने पर इसकी इस भ्रान्ति का भी निराकरण सम्भव है। विषपानादि की इच्छा का मूल दुःख नहीं बनता, अपि तु, सुख ही बनता है। कष्टसंत्रस्त मानव का आत्मा जीवित रहने की अपेक्षा मृत्यु में सुख की कल्पना समझकर ही विषपानादि में प्रवृत्त होता है। इस प्रकार जीवनविघातिका ऐसी असदिच्छाओं के मूल में भी सुख की ही सत्ता प्रतिष्ठित रहती है। तत्त्वज्ञ तो इस सम्बन्ध में यह तक कहने में कोई संकोच नहीं करते कि 'मानव की यच्चयावत् प्रवृत्तियों, यच्चयावत् इच्छाओं का मूलबिम्ब चूंकि आनन्दमय आत्मा है, अतएव उसकी सब प्रवृत्तियाँ आनन्दात्मिका ही हैं। क्या फाँसी के तख्ते की ओर शान्तभाव से पैर बढाने वाले (प्रवृत्त होने वाले) मरणासन्न व्यक्ति की यह प्रवृत्ति भी आनन्दमूला है ? तत्त्वज्ञ कहेगा, हाँ, और निश्चयेन हाँ। मरणासन्न व्यक्ति यह अनुभव कर रहा है कि यदि मैं आगे पैर न बढाऊँगा तो अभी फाँसी से पहले, फाँसी के अतिरिक्त दण्डप्रहार और सहना पड़ेगा। इस निश्चित दण्ड-भय से त्राण कराने के लिए ही इसका आनन्दमय आत्मा इसे इस ओर प्रवृत्त कराता है। यदि इसे यह निश्चय हो जाए कि आगे न बढने से इसे और किसी प्रकार का दण्ड न मिलेगा तो यह कभी फाँसी के तख्ते की ओर प्रवृत्त न होगा। साथ ही यदि इसे यह भी निश्चय हो जायगा कि आगे न बढने से

मुझे यहाँ तो भयानक यन्त्रणा दी जाएगी, किन्तु फाँसी लक्षण-मृत्युकष्ट (जो यन्त्रणात्मक जीवन से भी अपेक्षाकृत निःसीम भयङ्कर है) से मैं बच जाऊँगा तो ऐसी स्थिति में भी वह व्यक्ति आगे प्रवृत्त न होगा। आगे प्रवृत्त होने में भी मूल तात्कालिक यन्त्रणा-त्राणात्मक सुख ही है, यहाँ खड़े खड़े दण्ड की ओर प्रवृत्त हो जाने का मूल भी भावी मृत्युत्राणात्मक सुख ही है। इस प्रकार प्रवृत्तिमात्र के मूल में आनन्द ही आधार बन रहा है।

एक क्लर्क यह जानता है कि ऑफिस में उसे उसके ऑफीसर पर्य्याप्त कष्ट देते हैं, उससे आवश्यकता से अधिक काम लेते हैं। इन कष्टों से क्लर्क का आत्मा दुःखी क्लान्त भी बना रहता है। परन्तु वह यह भी जान रहा है कि यदि इस कष्ट से घबराकर मैं ऑफिस जाना बन्द कर दूँगा तो भोजन के लाले पड़ जाएँगे, जिसकी तुलना में यह कष्ट सुखात्मक ही है। इस प्रकार यहाँ भी ऑफिस जाने की प्रवृत्ति में भी सुख ही मूल बन रहा है। यदि क्लर्क को यह निश्चय हो जाए कि इस संकट से मुक्त हो जाने पर जीविका-साधन पर कोई आपत्ति न आएगी तो तत्काल उसकी प्रवृत्ति हट जाएगी। उदाहरणमात्र है। सर्वत्र सब इच्छाओं में आप कष्टों के तारतम्य से मूल में सुख को ही प्रतिष्ठित देखेंगे। साथ ही यह भी निश्चित है कि जिस प्रवृत्ति में किसी भी दृष्टि से सुख का समावेश न रहेगा, वह प्रवृत्ति तत् क्षण अवरुद्ध हो जाएगी। प्रवृत्ति जब भी कभी जैसी भी होगी, अनिवार्य्यरूप से उसके मूल में आनन्द ही रहेगा। मानव की प्रत्येक प्रवृत्ति, प्रवृत्त्यनुगत कर्म्म, आशाएँ, प्रतीक्षाएँ, श्रद्धा, विश्वास-सब कुछ आनन्द पर ही प्रतिष्ठित है। वह उत्पन्न होता है, माता-पिता के आनन्दमय दाम्पत्य सम्बन्ध से, प्रवृद्ध होता है आनन्दमय अन्नादान से, जीवित रहता है आनन्दमय भोगसाधनों से एवं अन्त में लीलासंवरण कर जाता है उसी आनन्दमय समुद्र में। लोक दृष्टि से भी 'यदि मानव जीवित है, खाना-पीना-चलना सोना-उठना-बैठना-हँसना-रोना कर्म्म करता है तो विश्वास कीजिए-उसका यह सारा आटोप आनन्दमय है। आनन्द की निःशेषता में तो वह क्षणमात्र भी जीवन धारण नहीं कर सकता। आत्मानन्द की इसी सर्वव्याप्ति को लक्ष्य बनाते हुए तत्त्वज्ञों ने आनन्दानुभूति की इसी प्रत्यक्ष दृष्टि को आधार बनाते हुए सिद्धान्तस्थापकों ने यह सिद्धान्त स्थापित किया है कि—

"आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते, आनन्देन जातानि जीवन्ति, आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति" (आनन्दमित्युपास्व)।

प्रवृत्तिमात्र का मूल आनन्दमय आत्मा है, क्योंकि प्रवृत्तिमात्र सुखात्मिका है। यही स्थिति भावुक भाषा द्वारा भी व्यक्त की जा सकती है। आत्मोपासक अतएव आस्तिक आर्षमानव अपने सहयोगी आर्षमानव-समाज का उद्बोधन करते हुए कहेगा-'मानव! तू ब्रह्म की सर्वश्रेष्ठ गुह्यतम विभूति है, अतएव सम्पूर्ण प्राणियों में तेरा स्थान श्रेष्ठ है[1]। ऋत-सत्यलक्षण आनन्दमय व्यापक ब्रह्म जब तेरा प्रभवस्थान है, ब्रह्म के क्षरभाग से उत्पन्न नामरूपात्मक सत्यविश्व जब तेरी क्रीड़ाभूमि है, ब्रह्म द्वारा

१ गुह्यं ब्रह्म, तदिदं ब्रवीमि-'न हि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किञ्चित्' (महाभारत)

प्रदत्त विज्ञान-प्रज्ञान जैसे महामहनीय कर्म्मसाधन तेरे पास जब सुरक्षित हैं, पावनचित्याग्नि से कृतरूप पाञ्चभौतिक शरीर जब तेरे मानवीय आत्मा का आशय है, धर्म्म-ज्ञान-वैराग्य-ऐश्वर्य्य-शान्ति-दया-तितिक्षा-करुणा-सर्वोपरि निष्ठा जैसा दिव्य-सामग्री-सम्भार जब तेरा आत्मवित्त बना हुआ है, तो इन सब कारणों के रहते तेरी सर्वश्रेष्ठता-पूर्णता-आनन्दरूपता-सत्यता-अमृतता में कौन अनार्ष प्राणी संशय कर सकता है ? अनार्ष मानव कहता है–"संसार दुःखमय है, उसमें रहने वाला मानव दुःखमय है, संसार पाप-अत्याचार-दुष्टता-अनाचार-हिंसा-असत्य-छल-कपट आदि असद्भावों की आवासभूमि है। अतएव सर्वत्र दुःख का ही साम्राज्य है"।

इस प्रकार अनार्ष मानव तुझ आर्षमानव की सन्निष्ठा को च्युत करने के लिए सदा प्रयत्नशील बना रहता है। क्या तू कल्पना के साम्राज्य में विचरण करने वाले अनार्ष मानव के इन विशुद्ध कल्पना प्रधान मिथ्या प्रचारों से प्रभावित होकर अपनी सन्निष्ठा से च्युत हो जाएगा ? नहीं, सर्वथा नहीं। अपि तु, **'सर्वे सन्तु सुखिनः–सर्वे भद्राणि पश्यन्तु'** की भावना रखने वाला तू आर्षमानव उन अनार्ष-मानवों के कल्याण के लिए उनका उद्बोधन कराते हुए कहेगा और निष्ठापूर्वक कहेगा कि "अनार्ष मानव ! मानते हैं कि तेरी इस असन्निष्ठा का जन्म काल्पनिक उस सन्तमत के अनुग्रह से ही हुआ है, जिस सन्तमत ने अपने स्वार्थसाधन के लिए अपनी लोकैषणा-वित्तैषणा सार्थक बनाने के लिए तेरी स्वाभाविक भावुकता से अनुचित लाभ उठाते हुए तेरे आभ्यन्तर सन्निष्ठापूर्ण, आर्षभाव को आवृत्त कर डाला है। उन स्वार्थियों ने तेरी सम्पत्ति पर आक्रमण करने के लिए तुझे जगन्मिथ्यात्व का पाठ पढाया। तुझे बतलाया गया कि नामरूपात्मक विश्व मिथ्या है। इसमें पाप-अनाचार-शोक-भय का साम्राज्य है, अतएव तू पापी है, पापात्मा है, पापकर्म्मा है, पापकर्म्म से समुत्पन्न है।" ऐसे ऐसे कल्पना-प्रसूनों से कालान्तर में तुझे भी इसी असत्-कल्पना ने अभिभूत बना डाला। तुझे भी सर्वत्र अपूर्णता-दुःख-पाप-भय-शोक का ही साक्षात्कार होने लगा और यों शताब्दियों के इस असदभ्यास ने तेरे आर्षभाव को सर्वथा आवृत कर डाला। इसी आवरण से आवृत तूने यह कल्पना कर डाली है कि यहाँ सब कुछ असार है, असत् है। इसी असदुपासना से विद्या रहते तू मूर्ख बन गया, पौरुष रहते तू हीन-वीर्य्य बन चला, अर्थसम्पत् रहते तू अपने आपको दरिद्र मान बैठा और इस प्रकार घृणा-पापचर्वणा-भय-मोहादि को पुष्पित-पल्लवित करने वाले–'न-न' का अनुगामी बनते हुए तैंने अपनी सर्वस्व विभूति का पराभव कर–**'असन्नेव स भवति, असद् ब्रह्मेति वेद चेत्'** को अन्वर्थ बना डाला"।

"मानव ! आर्ष महर्षि उद्बोधन कराते हुए तुझ से कह रहे हैं–'उत्तिष्ठत (उठ) ! जाग्रत (जग !!) प्राप्य वरान्निबोधत !!!। वे तुझे बतला रहे हैं कि तू उस सर्वव्यापक आनन्दमय ब्रह्म का ही अंश है, जिससे कोई स्थान रिक्त नहीं है। तू उस विश्व में निवास कर रहा है जो सच्चिदानन्द ब्रह्म से उत्पन्न होने के कारण सत्ता-विज्ञान-आनन्दमय है। सम्पूर्ण विश्व, विश्व में रहने वाली चर-अचर-प्रजा, प्रजाओं के बौद्ध-मानस-शारीरिक भाव, सब कुछ–**'ब्रह्मैव-इदं सर्वम्'** के अनुसार उसी ब्रह्म से प्रसूत है। जब वह आनन्दघन है, साथ ही उसके अतिरिक्त जब अन्य का अभाव है, तो दुःख कहाँ ? विश्वास कर, पाप-पापमूल दुःख केवल तेरी बुद्धि की कल्पना है। तेरी कल्पना ने ही तुझे दुःखी-संत्रस्त

किया है। तेरी कल्पना ने ही रोगों को जन्म दिया और तेरी कल्पना ने ही रोग-शास्त्र (चिकित्सा-शास्त्र) को जन्म दिया। आर्ष दृष्टि से दोनों ही बिडम्बना हैं। अपनी ही असत्-कल्पनाओं के द्वारा असद्भावों का निर्म्माण करने में तैंने कष्ट उठाया, फिर इनके निवारण की कल्पना में तुझे संत्रस्त बनना पड़ा। अपने दोष से तैंने पहले तो अपने आपको पापी मान लिया, फिर पापशोधन के लिए पापहर्त्ता उपास्य की कल्पना कर डाली। और यों तेरा सम्पूर्ण आर्ष-जीवन अनार्षभावाक्रान्त बनकर सर्वात्मना दुःखमय बन गया अथवा तो तैंने जानबूझकर बना दिया। छोड अपनी इन असत्-कल्पनाओं को और विश्वास कर कि आनन्दमय ब्रह्म से उत्पन्न विश्व में दुःखादि का प्रवेश सर्वथा निषिद्ध है। यहाँ सर्वत्र सब अवस्थाओं में आनन्द ही आनन्द है। आगे-पीछे-ऊपर-नीचे-दाएँ-बाएँ-तिर्य्यक्-बाहर-भीतर सब ओर आनन्दमय आत्मा ही व्याप्त है। यही विश्वास आत्मविश्वास है, यही आत्मविश्वास अभ्युदययुक्त निःश्रेयस का संग्राहक है। यही संग्रह आत्मनिष्ठ आर्षमानव की वह सर्वश्रेष्ठ मानवता है, जिसके साथ देवगण भी ईर्ष्या किया करता है"।

तथ्यदृष्टि के द्वारा, साथ ही आर्षभावुकता के द्वारा यह प्रमाणित किया गया कि आत्मा आनन्दमय है एवं आनन्दमय अव्ययात्मा से अनुगृहीत जीवात्मा और उसकी प्रवृत्तियाँ सब कुछ आनन्द-मय ही हैं, अतएव केवल काल्पनिक दुःखानुभूतियों के आधार पर आत्मा के नित्यानन्दमयत्व पर संशय करना सर्वथा भ्रान्ति है, इति स्थितिः। मान लेते हैं, तत्त्वदृष्ट्या और प्रत्यक्षदृष्ट्या उभयथा आत्मा का आनन्दमयत्व अक्षुण्ण है। परन्तु इस स्थिति के सर्वथा विपरीत प्रत्यक्ष में अनुभूत होने वाली शोक-स्थिति के साथ भी तो आँख मिचौली नहीं खेली जा सकती। अनार्ष मानव प्रश्न कर सकता है कि—'मान लेते हैं, दुःखादि केवल मानव की कल्पना है। ठीक। प्रश्न है कि जब आर्ष मानव के सिद्धान्त के अनुसार उस आनन्दमय ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य वस्तु का सर्वथा अभाव है, तो उसी आनन्दमय विश्व के आत्मा के सीमागर्भ में रहने वाले आनन्दमय मानव ने वैसी अनार्ष कल्पना तन्मूलक दुःख की कल्पना कैसे-किस आधार पर कर डाली ? यदि मानव आत्मा से पृथक् नवीन कल्पना कर सकता है तो आत्मा सर्वशक्तिमान् सर्वव्यापक कैसे हुआ ? यदि आत्मा के आधार पर ही यह अनार्ष कल्पना हुई तो आत्मा केवल आनन्दमय ही कैसे माना गया ? या तो आर्षमानव अपने आत्मब्रह्म को परिच्छिन्न माने अथवा तो उसे आनन्दमय के साथ-साथ दुःखमय भी माने। दुःखमय भी क्यों, दुःखमय ही माने। क्योंकि पूर्वकथनानुसार विश्व में प्रत्यक्षानुभूति दुःख की ही प्रवृद्धा है। दुःख ही आत्मा का मौलिकरूप है, अतएव मानव स्वभावतः दुःख की ओर ही प्रवृत्त रहता है। सुख तो दुःख की क्षणिक अवसानावस्था का नाम है। क्या लौकायतिक-अनार्षमानव की इस प्रत्यक्षानुभूति की उपेक्षा की जा सकती है ? आर्ष-मानव कहेगा हाँ और इसलिए हाँ कि—

अनार्षमानव की उक्त प्रश्न–परम्परा का समाधान विद्यमान है। अनार्षमानव से प्रतिप्रश्न किया जाएगा कि–'जीवनयात्रानिर्वाह के लिए सायं-प्रातः नियत भोजन-द्रव्य गुणात्मक है अथवा दोषा-त्मक ?'। आरम्भिक उत्तर यही होगा कि 'भोजन-द्रव्य इसलिए गुणात्मक है कि इससे जीवन-रक्षा होती है'। ठीक यही भोजन-द्रव्य सन्निपात के रोगी के लिए गुणात्मक है अथवा दोषात्मक है ? उत्तर होगा

'दोषात्मक, इसलिए कि इस अवस्था में रोगी के लिए अपथ्य है, अतएव दोषात्मक है। तो यह निष्कर्ष निकला कि अन्न स्वयं न गुणात्मक है, न दोषात्मक। अपि तु, 'अवस्थाभेद से वही गुणात्मक है, तो वही दोषात्मक है। अनुकूल अवस्था-मात्रा से वही गुणकर्त्ता है, प्रतिकूल अवस्था में वही दोषावह है। अन्न को क्यों? विष को उदाहरण बनाइए न। विष सर्वसाधारण की दृष्टि में मृत्यु का कारण है। परन्तु वही विष (संखिया आदि) अवस्थाविशेष में महारसायन बन जाता है। अवस्थाविशेष में जो मद्य हानिकर है, वही 'अवस्थाविशेष में रसायन है[1]। प्राणहर विष भी प्राणसंरक्षक बनता देखा गया है एवं प्राणसंरक्षक अन्न भी प्राणहर बनता देखा गया। तात्पर्य्य, अन्न में दोष न था, फिर सन्निपात के लिए वह अपूर्वदोष अन्न में आ कहाँ से गया? जो समाधान अनार्षमानव इस प्रश्न का करेगा, वही समाधान उसके अपने पूर्व प्रश्न का होगा।

अवस्थाविशेष ने ही अन्न को दोषयुक्त बनाया, इस उत्तर का क्या अर्थ? अनार्षमानव समाधान करेगा, सन्निपात दशा में वात-पित्त-कफ तीनों धातु विषम बने रहते हैं। विषमता से अन्न परिपाक करने वाला जाठराग्नि भी विषम बना रहता है। ऐसी विषमावस्था में भुक्त अन्न परिपक्व न होकर दोषावह बन जाता है। तो अनार्षवादी ने यह मान लिया कि दोष की जननी विषमावस्था है एवं गुण-जननी साम्यावस्था है। प्रत्येक पदार्थ साम्यावस्था में गुणात्मक है एवं विषमावस्था में दोषात्मक है। यही समाधान आर्षमानव भी करता है। वह कहता है, उसका लक्षीभूत रसबलसाम्यावस्थापन्न आनन्दमय अव्ययात्मा स्वतः 'निर्गुण-निर्दोष' है[2]। आर्षमानव बुद्धियोग के द्वारा इसके स्वाभाविक साम्य का अनुगमन करता हुआ जहाँ नित्य सुखी बना रहता है, वहाँ अनार्षमानव योगच्युति से इसे विषम बनाता हुआ नित्य दुःखी बना रहता है। आत्मसाम्य सुख का कारण है, आत्मवैषम्य दुःख का कारण है। आत्मा के नित्यानन्दात्ममय होने पर भी शोक-दुःख क्यों होता है? प्रश्न का यही तात्त्विक समाधान है। इसी समाधान से यह भी तत्त्व निकल आता है कि विश्व में कोई भी पदार्थ अनुपयुक्त-दोषावह-किंवा असत् (बुरा) नहीं है। अपि तु, सब कुछ उपयुक्त-गुणावह-किंवा सत् (अच्छा) ही है। सद्भाव वस्तुमात्र का स्वाभाविक धर्म्म है, असद्भाव वस्तुमात्र का आगन्तुक धर्म्म है, जिसकी जननी है विषमा-

---

१ "किन्तु मद्यं स्वभावेन यथैवान्नं तथा स्मृतम्।
अयुक्तियुक्तं रोगाय युक्तियुक्तं यथाऽमृतम्॥१॥
प्राणाः प्राणभृतामन्नं तदयुक्त्या निहन्त्यसून्।
विषं प्राणहरं तच्च युक्तियुक्तं रसायनम्"॥२॥
(चरकसंहिता २४।५८-५९)

२ "अनादित्वान्निर्गुणत्वात् परमात्मायमव्ययः।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय! न करोति न लिप्यते"॥
(गीता १३।३१)

वस्था एवं विषमावस्था की जननी है मानव के उपयोग की विषमता। 'विषमता' विश्व में नहीं है, अपि तु, मानव की अपनी कल्पना है। वैषम्य-कल्पना तात्कालिक है, भातिसिद्ध पदार्थ है, अतएव इसके सम्बन्ध में इस प्रश्न का कोई महत्त्व नहीं रह जाता कि-'यदि वहाँ वैषम्य नहीं है, तो वैषम्य-कल्पना हुई कैसे और कहाँ से ?'।

वैषम्य ही प्राकृतिक शोक-समुत्थान का मूलकारण है-यह ठीक है। परन्तु केवल वैषम्य ही मूलकारण नहीं है। अपि तु, विषमता से प्रवृद्ध बल ही रस का आत्यन्तिक रूप से आवरक बनता हुआ आनन्दानुभूति का अभिभव कर डालता है। फलतः रसबलात्मक आत्मा शोकानुविद्ध बन जाता है। विषमता से प्रवृद्ध बना हुआ आत्मानन्दावरक बल ही विज्ञानभाषा में 'पाप्मा' कहलाया है। बल मृत्यु-तत्त्व है। परन्तु रस-बल की साम्यावस्था में बल का मृत्युधर्म्म सम बनता हुआ आवरक नहीं बना करता, अतएव ऐसा बल मृत्युधर्म्म से बहिर्भूत बना रहता है। यही मृत्युबल विषमता से प्रवृद्ध बन कर जब रस का आवरक पाप्मा बन जाता है, तो इसका मृत्युधर्म्म प्रबल हो पड़ता है, अतएव पाप्मा-लक्षण आवरक बल को ही 'मृत्यु' नाम से व्यवहृत किया गया है-'पाप्मा वै मृत्युः, अशनाया वै पाप्मा'। विषमता के अनेक विभेद हैं। विभिन्न विषमताओं से बलात्मक पाप्माओं के भी अनेक भेद हो जाते हैं जिनका सोपपत्तिक निरूपण बुद्धियोगपरीक्षा-'ग' विभाग में किया जा चुका है। ६ ऊर्म्मियाँ, ६ अवस्थाएँ, ५ क्लेश, ३ बन्ध, १० कर्म्मविपाक, २ आशय, १ अपूर्णत्व, ३ पर्य्याय- इस प्रकार वैज्ञानिकों ने इन काल्पनिक पाप्माओं की ३६ जातियाँ मानी हैं[1] शोकस्वरूप की यथार्थावगति के लिए हम पाठकों से आग्रह करेंगे कि वे एक बार 'ग' विभाग के तत् प्रकरण को अवश्य लक्ष्य बनालें।

आत्मा आनन्दमय है, इस सिद्धान्त को निर्भ्रान्त मानकर ही हमें शोक की मीमांसा करनी है। आनन्दमय आत्मा उक्थ (मूलबिम्ब) है, इसकी ज्योतिर्मयी विज्ञानकला उक्थबिम्ब से विनिर्गत अर्क है एवं विज्ञानज्योति से अनुगृहीत संकल्पात्मक विश्वगर्भित अन्तर्म्मन अशितिलक्षण विश्वसम्बन्ध से 'अशिति' है। इस प्रकार आनन्द से आरम्भ कर अन्तर्म्मनःपर्य्यन्त महिमामय आत्मा उक्थार्काशिति-रूप से अध्यात्मसंस्था में प्रतिष्ठित है। यही अव्ययात्मा का त्रिपर्वात्मक ज्ञानात्मभाग है। इस ज्ञानात्मा नामक ब्रह्मधातु के तीसरे अन्तर्म्मनः नामक अशितिस्थानीय पर्व से संलग्न-काममय बहिर्म्मनः, तपोमय प्राण, श्रममयी वाक्-ये तीन वीर्य्यपर्व व्यवस्थित हैं। यही पर्वत्रयी अव्ययात्मा का त्रिपर्वात्मक कर्म्मात्मभाग है-जैसा कि पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है। कर्म्मात्मा के तीसरे श्रममय वाक् पर्व से ही वाक्-आपः-अग्निमय क्षर-वैकारिक विश्व का प्रादुर्भाव हुआ है, अतएव विश्वगर्भित इस वाक्पर्व को 'अशिति' कहा जा सकता है। विश्वगर्भिता वाक् प्राण पर प्रतिष्ठित है, जो कि प्राण अर्कस्थानीय माना जा सकता है। वाग्गर्भित प्राण बहिर्म्मन पर प्रतिष्ठित है जो कि बहिर्म्मन उक्थस्थानीय माना जा सकता है। उपहिता वाक्, हित प्राण-दोनों से युक्त उक्थ बहिर्म्मन अन्तर्म्मन के गर्भ में प्रतिष्ठित है, अतएव अन्तर्म्मन को ज्ञानात्मा का अशितिभाग माना जा सकता है। अशितिस्थानीय अन्तर्म्मन विज्ञान पर

१ द्रष्टव्य-बुद्धियोगपरीक्षा पूर्वखण्ड-पृष्ठ १३५।

प्रतिष्ठित है-जो कि विज्ञान अर्कस्थानीय माना जा सकता है। अर्कस्थानीय ज्योतिर्म्मय विज्ञान आनन्द पर प्रतिष्ठित है-जो कि आनन्द उक्थ किंवा महोक्थ माना जा सकता है। इस प्रकार आनन्द से आरम्भ कर वाक्पर्य्यन्त व्याप्त ज्ञान-कर्म्ममय अव्ययात्मा उक्थार्काशितिरूप से दो संस्थाओं में समरूप से विभक्त हो रहा है। पूर्वसंस्था रसप्रधाना है, उत्तरसंस्था बलप्रधाना है। रस-बल दोनों समतुलित हैं। यही द्विधातुमूर्त्ति अव्ययात्मा की साम्यावस्था है। यही समत्व समीक्रिया है, समीक्रिया ही शान्ति है, शान्ति ही प्रसाद है और **'प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते'**।

१-विज्ञान-अन्तर्म्मनो बहिर्म्मनः-प्राण-वाग्गर्भितः→आनन्दः (महोक्थम्)-रसः
२-अन्तर्म्मनो बहिर्म्मनः-प्राण-वाग्गर्भितम्——→विज्ञानम् (प्राणः)-रसः
३-बहिर्म्मनः-प्राण-वाग्गर्भितम्——————→अन्तर्म्मनः (अशितिः)-रसः

१-प्राण-वाग्-गर्भितम्——————→बहिर्म्मनः (उक्थम्)-बलम्
२-वाग्गर्भितः——————→प्राणः (अर्कः)-बलम्
३-वागापोऽग्निगर्भिता——————→वाक् (अशितिः)-बलम्

बलत्रयी-वीर्य्यम्←→रसत्रयी-ब्रह्म
समं-ब्रह्म-अव्ययात्मा



जब तक आध्यात्मिक अव्ययात्मा अपने महोक्थलक्षण रसात्मक आनन्दभाग से अर्कलक्षण विज्ञानज्योतिर्म्मण्डल में स्वस्वरूप से विकसित रहता है, तब तक अध्यात्मसंस्था सर्वात्मना सुशान्त बनी रहती है। यह स्वाभाविक विकास तभी तक रहता है, जब तक कि अव्ययात्मा के विद्या (ज्ञान), वीर्य्य (कर्म्म) नामक रस-बल धातु समभावापन्न बने रहते हैं। शोकावस्था में आत्मानन्द नहीं रहता-यह बात तो नहीं है। भला नित्य आत्मानन्द का अभाव-कैसी भी अवस्था क्यों न रहे-कैसे सम्भव है? हाँ, विषमावस्थाजनित शोकावस्था में आत्मानन्द की स्फुट प्रतीति 'प्रतिबिम्बन्याय' से अवश्य अवरुद्ध हो जाती है। एक स्थिर पात्र में पानी भरा हुआ है। पानी में खगोलीय सूर्य्यबिम्ब प्रतिबिम्बित है। बाह्यवायु के शान्त रहने से, साथ ही आघात-प्रत्याघात-विषम धरातलादि स्वानुगत वैषम्यों के असंस्पृष्ट रहने से जल और जलाधार पात्र-दोनों स्थिर-शान्त-सम बने हुए हैं। इस साम्यावस्था-दशा में पानी में प्रतिबिम्बित सूर्य्य भी सर्वथा स्थिर-शान्त-सम बनता हुआ अपने सर्व-पूर्णरूप से स्फुट है, विकसित है। वायु का झोंका लगा, अथवा तो पात्र के किसी ने करादि से आघात कर दिया, तत्कालपात्रस्थित जल कम्पित-अस्थिर-अशान्त-विषम बन जाता है। इस वैषम्य से तत्रस्थ प्रतिबिम्ब भी कम्पित-अस्थिर-अशान्त-विषम बन जाता है। विषमावस्थापन्न प्रतिबिम्ब अपनी पूर्णविकासानुगता स्फुट प्रतीति से वञ्चित हो जाता है। विषमावस्थाजनित इस क्षोभ-अशान्ति-संघर्ष का ही नाम 'शोक' है। जो पात्रस्थ प्रतिबिम्ब का अपना धर्म्म नहीं, अपि तु, आगन्तुक धर्म्म है। ठीक यही अवस्था यहाँ समझिए।

ज्योतिर्म्मयविज्ञान से सम्परिष्वक्त अन्तर्म्मन पात्र है। मनोरसमय सौम्य महान्-तत्त्व (महानात्मा) पात्रस्थ जल है। वाक्-प्राण-मनोगर्भित नित्यविज्ञानघन आनन्दरसैकमूर्त्ति विद्या-वीर्य्यलक्षण पुरुषात्मा (अव्ययात्मा) ही पात्रस्थजलस्थानीय सौम्य महानात्मा में गर्भीभूत प्रतिबिम्ब है[1]। प्रतिबिम्बस्थानीय विद्या-वीर्य्यलक्षण उभयसमतुलित, अतएव सर्वथा समावस्थापन्न, अतएव च–एकान्ततः सुशान्त चिद्-घनानन्द अव्ययात्मा वायुस्थानीया भावना-वासना संस्कारासक्ति से महत्पात्र के कम्पित होते ही अपनी स्वाभाविक समता छोड बैठता है। विद्या अथवा तो वीर्य्य–दोनों धातुओं में से किसी एक के भी विषम बनते ही स्वाभाविक स्थिरता-लक्षणा शान्ति भंग हो जाती है। **'अशान्तस्य कुतः सुखम्'**।

इस प्रकार विद्या-वीर्य्यानुगता ऐन्द्रियक विषयसंस्कारासक्तिमूला असमता ही अशान्ति, तद्रूप-दुःख का मूल कारण बनती है। महत्-पात्र के कम्पन से पुरुषात्मा के धातु कम्पित हो पड़ते हैं। इन आत्मधातुओं के कम्पन से तत्संलग्न सौम्य प्रज्ञाभाग कम्पित हो पड़ता है। प्रज्ञाकम्पन से तत्र प्रति-बिम्बरूप से प्रतिष्ठित व्यवसायात्मिका बुद्धि कम्पित हो पड़ती है। बुद्धिकम्पन से वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञमूर्ति कर्म्मभोक्ता जीवात्मा अव्ययात्मा से सम्बद्ध व्यवसायबुद्धि के योग (समत्वयोग) से वञ्चित हो जाता है। अयुक्त जीवात्मा की कम्पित बुद्धि अपने सहजसिद्ध कर्त्तव्यविवेकात्मक बोध-धर्म्म से वञ्चित रहती हुई अपना स्वरूप ही खो बैठती है। अबुद्धियुक्त, अतएव सर्वथा अयुक्त अस्थिरप्रज्ञ जीवात्मा विचारविमर्श-सदसद्विवेकलक्षणा भावना से वञ्चित हो जाता है। भावनाव्यापारनिरोध से सत् में असत् की एवं असत् में सत् की कल्पना करता हुआ जीवात्मा अपने विवेकशून्य उच्छृंखल विचारों का क्रीतदास बनता हुआ ऐन्द्रियकविषयासक्ति-प्रवृद्धि का उत्तेजक हो जाता है। इस उत्तेजना से स्वाभाविक शान्ति एकान्ततः अभिभूत हो जाती है और यों महत्पात्र प्रज्ञा-बुद्धि के विकम्पित होने से बुद्धियोगवञ्चित जीवात्मा अशान्त बना रहता हुआ दुःख पाया करता है, जिस स्थिति का भगवान् ने निम्नलिखित शब्दों में विश्लेषण किया है—

"नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ॥१॥
इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि" ॥२॥[2]

सिंहावलोकनदृष्टया शोक-कारणों की समीक्षा कीजिये। स्थूल दृष्टि से यद्यपि शोक-व्युत्थान के असंख्य कारण प्रतीत होते हैं तथापि उन सबका यदि संग्रह कर लिया जाता है तो केवल तीन ही शोककारण शेष रह जाते हैं। तीनों कारणों में से किसी एक भी कारण के अध्यात्मसंस्था में प्रविष्ट

---

१ 'मम योनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्' (मम–इति अव्ययात्मनो योनिर्महान्)।
२ गीता २।६६–६७।

होते ही स्वाभाविक शान्ति का मेघाच्छन्नसूर्य्यवत् अभिभव हो जाता है। लक्ष्य बनाइए निम्नलिखित तीन शोककारणों को—

१–आत्मज्ञान का अभाव ।
२–आत्मधातुओं का वैषम्य । } →सैषा शोककारणत्रयी ।
३–आत्मानुगत बुद्धियोग का अभाव ।

१–प्रथम कारण की मीमांसा करते हुए अपने सहजज्ञान के आधार पर सभी विचारशीलों को इस तथ्य का अनुमोदन करना ही पड़ेगा कि अधिकांश में मानव प्राणी अज्ञान से ही अशान्त, दुःखी बना रहता है। अन्तरात्मा आत्मा है, बाह्यात्मा शरीर है। दोनों का क्या स्वरूप है, दोनों को सुव्यवस्थित-सुशान्त बनाए रखने के लिए किन-किन साधनों की अपेक्षा है ?–इत्यादि ज्ञान से वञ्चित रहना ही 'आत्मज्ञान का अभाव' है। और प्रत्यक्ष अनुभव कर रहे हैं कि इस आत्मज्ञानाभावरूप अज्ञान से आत्महितसाधक परिग्रहों को प्राप्त करने में असमर्थ रहता हुआ, साथ ही अहितकर साधनों का संग्रह करता हुआ मानव दुःखी बना रहता है। लोकव्यवहारज्ञान से शून्य मानव अपने योगक्षेमात्मक व्यावहारिक जीवन में दुःखी हैं तो आत्मव्यवहार से शून्य मानव कामादिषड्रिपुबर्गात्मक आध्यात्मिक जीवन में दुःखी हैं। उभयज्ञाननिष्ठ जहाँ उभयथा सुखी है, वहाँ उभयज्ञानवञ्चित उभयथा दुःखी बना रहता है। सचमुच मानवजीवन को दुःखी बनाए रहने वाला अज्ञान मानव का अन्यतम शत्रु है, जिसका प्रत्यक्षनिदर्शन वर्तमान युग का उभयज्ञानवञ्चित भारतीय-मानव, विशेषतः द्विजाति-मानव (ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य) बना हुआ है।

२–द्वितीय कारण का स्वरूप-विमर्श करते हुए हमें निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि प्रथम कारण ही इस द्वितीय कारण का जन्मदाता है। जिस प्राकृतिक, सहजसिद्ध व्यवस्था के ज्ञान से एवं ज्ञानानुगत आचरण से आत्मा के ज्ञान-कर्म्म धातु सम बने रहते हुए सुख-शान्ति के कारण बने रहते हैं, उस सहजज्ञान के अभाव से–दूसरे शब्दों में आत्मज्ञान के अभाव से मानव अपने प्राकृतिक कर्म्मों के तथ्यों से अपरिचित रहता हुआ अप्राकृतिक कर्म्मों का अनुगामी बन जाता है। इस अवैध कर्म्माचरण से पूर्वनिर्दिष्ट परम्परा के अनुसार मानव के आत्मधातु विषम बन जाते हैं। यही धातुवैषम्य यों (आत्मज्ञानाभाव के अनुग्रह से) दुःख का कारण बन जाता है। कारणात्मा, सूक्ष्मात्मा, स्थूलात्मा-तीनों क्रमशः दर्शनभाषा में कारण-सूक्ष्म-स्थूलशरीर नामों से प्रसिद्ध हैं। विद्या-कर्म्म कारणात्मा के, कामक्रोधादि सूक्ष्मात्मा के एवं वात-पित्त-कफ स्थूलात्मा के धातु माने गए हैं। इन धातुओं का वैषम्य ही दुःख का कारण है। अज्ञानवश आहारादि की व्यवस्था में अव्यवस्था करने से वातादि स्थूलधातु कुपित हो जाते हैं, स्थूलात्मा (शरीर) दुःखी (रुग्ण-रोगार्त) हो जाता है। अज्ञानवश हीनाचारपरायणता से कामादि-सूक्ष्मधातु कुपित हो जाते हैं, सूक्ष्मात्मा (मन) दुःखी (खिन्न-चिन्तातुर) बन जाता है एवं अज्ञानवश शास्त्रोपदेशादि की उपेक्षा से विद्यादिकारणधातु कुपित हो जाते हैं, कारणात्मा (आत्मा) दुःखी (अविकसित) बन जाता है। इस प्रकार एकमात्र अज्ञान के अनुग्रह से ही आत्मा (कारणशरीर) सत्त्व

(मन-सूक्ष्मशरीर), शरीर (स्थूलशरीर) तीनों के धातु विषम बन जाते हैं। यही 'आत्मधातुओं का वैषम्य' नामक द्वितीय दुःख कारण का स्वरूप-विमर्श है, जिसका परम्परया प्रथम दुःखकारण में ही अन्तर्भाव हो रहा है।

३-तृतीयकारण के सम्बन्ध में विशेष कहना व्यर्थ है। क्योंकि, सम्पूर्णगीताशास्त्र ने मुख्य रूप से इसी कारण की मीमांसा की है। जो स्थिति द्वितीय कारण की है-वही स्थिति इस तृतीय कारण की है। आत्मधातुवैषम्य नामक द्वितीय कारण इस तृतीयकारण का मूल माना जा सकता है। समता सम्बन्ध का कारण मानी गई है एवं विषमता सम्बन्धविच्छेद का कारण मानी गई है। अथवा यों कह लीजिए कि अनुकूल सम्बन्ध का नाम सम्बन्ध है-यही योग है एवं प्रतिकूलसम्बन्ध का नाम असम्बन्ध है-यही अयोग है। समधातुभावापन्न प्रत्यगात्मा के साथ बुद्धि द्वारा शारीरकात्मा का योग बुद्धियोग है, जो बुद्धि (विद्याबुद्धि) के चातुर्विध्य से चार प्रकार का माना गया है। इस चतुर्विध विद्याबुद्धियोग से आत्मधातु अपनी समस्थिति से प्रसादावस्था में परिणत रहते हुए समीक्रिया द्वारा शान्ति-सुख के कारण बने रहते हैं। ठीक इसके विपरीत विषमधातुभावापन्न प्रत्यगात्मा के साथ बुद्धि द्वारा शारीरकात्मा का योग अबुद्धियोगात्मक अयोग है, जो अविद्याबुद्धि के चातुर्विध्य से चार भागों में विभक्त हो रहा है। इस चतुर्विध अविद्याबुद्धियोगात्मक अयोग से आत्मधातु अपनी विषमस्थिति से अधिकाधिक विषम बने रहते हुए विषमक्रिया द्वारा अशान्ति-दुःख के कारण बने रहते हैं। इस प्रकार आत्मधातु-वैषम्य जनिता अविद्याबुद्धियोगात्मिका अयोगचतुष्टयी भी दुःख का कारण बनी रहती है। इस तृतीय दुःख के कारण का मूल भी परम्परया अज्ञान (आत्मज्ञानाभाव) ही बन रहा है, अतएव अन्ततोगत्वा तीनों कारणों का अज्ञान पर ही विश्राम मानना पड़ता है। आत्मज्ञानाभावरूप अज्ञान प्रथमभूमिका है, तज्ज-नित धातुवैषम्य द्वितीयभूमिका है एवं तज्जनित अविद्याबुद्धियोगात्मिका अयोगचतुष्टयी तृतीय भूमिका है। इस प्रकार दुःख के मूलकारणों का अन्वेषण करते हुए हमें तीन कारणों पर विश्राम करना पड़ता है। तीनों कारणों का एकमात्र फल है-आत्मा के स्वाभाविक विकास का अवरोध। आत्मा ही तो आनन्द-प्रवृत्ति का मूलाधार है। जब इस आत्मानन्द का ही स्वाभाविक विकास कारणत्रयी में से किसी एक भी कारण के जागरूक हो जाने से अभिभूत हो जाता है, तो सुख-शान्ति कैसे सम्भव हो सकती है? मृत्युरूप पाप्मा से सम्बद्ध शोक से त्राण पाने का एकमात्र उपाय है-आत्मस्वरूपप्रपत्ति। एवं तदनुगत बुद्धियोगानुष्ठान आत्मस्वरूप साक्षात्कार तथा तदनुगत समत्वयोग का अनुगमन-इन दो कारणों से ही शोककारणत्रयी का उन्मूलन सम्भव है।

शोककारणत्रयी के सम्बन्ध में जिन कतिपय भारतीय दार्शनिकों ने कर्म्मात्यन्तसंन्यास को प्रधानता दी है, उनके इस 'कर्म्मसंन्यास' का भी हम 'सांस्कारिककर्म्मन्यास' द्वारा समन्वय कर सकते हैं। कर्म्मशब्द आत्मधातु का भी बोधक है एवं कर्म्मजनित वासनासंस्कार का भी बोधक है। कर्म्म से उत्पन्न होने वाला संस्कार भी 'कर्म्म' है, जिसके सञ्चित, प्रारब्ध भेद से दो विवर्त माने गए हैं। सञ्चित-प्रारब्ध कर्म्मों का आसक्ति-बन्धन जब तक आत्मा के साथ है, तब तक शोककारणों की निवृत्ति असम्भव है। वासनात्मक सांस्कारिक कर्म्मों का क्षय अभिप्रेत नहीं है-अपि तु, इनसे सम्बद्ध आसक्ति-बन्धन का क्षय

अपेक्षित है। सम्पूर्ण विश्व ईश्वरीय कर्म्मजनित संस्कारात्मक ही तो है। इस सांस्कारिक विश्व के अणु-अणु में व्याप्त रहता हुआ भी ईश्वर इसलिए नित्यमुक्त-शान्त बना हुआ है कि वह इसमें आसक्त नहीं है। ठीक यही स्थिति यहाँ समझिए। कर्म्म, कर्म्मजनित वासनासंस्कार आदि कोई भी आत्म-स्वरूप के आवरक नहीं हैं, अतएव इनका त्याग न केवल व्यर्थ ही, अपि तु, अशक्य है। आसक्तिबन्धन पाप्मा-लक्षण तमोगुणमूलक आवरण है। आसक्ति के उत्तेजक एवंविध अशास्त्रीय निषिद्धकर्म्म भी आवरक बनते हुए आवरणकोटि में ही प्रविष्ट हैं। आसक्तिपूर्वक ऐसे तामस कर्म्म, ऐसे तामसकर्म्मों से उत्पन्न आसक्ति-बन्धप्रवर्त्तक-उत्तेजक वासनात्मक तामस कर्म्म (सांस्कारिक कर्म्म) अवश्य ही आत्म-शान्ति के आवरक अतएव विघातक हैं, अतएव ऐसे तामस कर्म्मों का एकान्ततः परित्याग अपेक्षित है और कर्म्मत्याग-पक्षपाती दार्शनिकों का इस त्यागपक्ष के आधार पर सर्वात्मना समादर किया जा सकता है। यदि उनका 'कर्म्मत्याग' से 'कर्म्ममात्रत्याग' अभिप्राय है, तो वह केवल प्रौढिवाद ही माना जा सकता है। शास्त्रसिद्ध प्राकृतिक कर्म्म तमोमूल आसक्तिबन्ध का उन्मूलन करते हुए अनावरक हैं। ऐसे ही प्राकृतिक कर्म्म अत्याज्यकर्म्म कहलाए हैं। इन सात्त्विक अनावरक कर्म्मों से प्रारब्ध-कर्म्मभोग के लिए सहनशक्ति मिलती है, अतएव भयावह से भयावह प्रारब्ध-कर्म्म का भोग करता हुआ भी मानव इन सात्त्विक कर्म्मों के प्रभाव से अणुमात्र भी आकुल-व्याकुल नहीं होता। इसके अतिरिक्त अनासक्त कर्म्मानुष्ठान से सञ्चितकर्म्मबन्धन तत्रैव दग्ध होता हुआ प्रारब्ध नहीं बन पाता। स्वयं अनावरक कर्म्म (क्रियमाण कर्म्म) अनासक्तभावापन्न बनता हुआ संस्कारबन्धन से सर्वथा असंस्पृष्ट रहता है। इस प्रकार सात्त्विक अनावरक अनासक्त (बुद्धियोगात्मक) कर्म्म से लोकसंग्रहरक्षापूर्वक मानव का ऐहिक-आमुष्मिक उभयविध पुरुषार्थ सफल हो जाता है। जो दार्शनिक आत्मा के कर्म्मधातु को विकसित करने वाले अनावरक कर्म्मों के त्याग का आदेश दे रहे हैं-वे दूर से ही प्रणम्य हैं। कर्म्मविरोधी दार्शनिक आत्मा को अर्द्धभाग से पङ्गु बनाता हुआ शान्ति के स्थान में दुःख का ही संग्रह करते हैं।

निष्कर्षतः—

आत्मा नित्यानन्दमय है। आनन्द, शान्ति, पूर्णता, अभय-इसके स्वाभाविक धर्म्म हैं। दुःख, अशान्ति, अपूर्णता, शोक आदि इसके आगन्तुक धर्म्म (अधर्म्म) हैं। ज्ञानाभाव, धातुवैषम्य, बुद्धि-योगाभाव-इन तीन कारणों से आत्मा का स्वाभाविक आनन्द धर्म्म अभिभूत हो जाता है, अतएव नित्यानन्दघन भी मानव शोक-संविग्नमानस बना रहता है। इसकी निवृत्ति का एकमात्र उपाय है-आत्मज्ञान (अव्ययज्ञान) प्रसाधनपूर्वक आत्मयोग (बुद्धियोग) का अनन्यनिष्ठा से अनुष्ठान-**"आत्मैव साक्षात् क्रियताम्, समत्वं योग इष्यताम्"**। शोकस्वरूपप्रदर्शनपूर्विका 'शोकनिवृत्त्युपाय-शिक्षा' नामक सप्तमी शिक्षा का यही संक्षिप्त स्वरूप-परिचय है।

समाप्ता चेयं शोकस्वरूपप्रदर्शनपूर्विका-शोकनिवृत्त्युपायशिक्षा-सप्तमी

॥ ७ ॥

अथ

आत्मस्वरूपनिष्कर्षशिक्षा-अष्टमी

८

८–आत्मस्वरूपनिष्कर्षशिक्षा-अष्टमी

पूर्वपरिच्छेद में यह स्पष्ट किया गया है कि आत्मस्वरूपपरिज्ञानपूर्वक (अव्ययात्मस्वरूप-परिज्ञानपूर्वक) आत्मयोगानुष्ठान (बुद्धियोगानुष्ठान) ही शोकनिवृत्ति का अन्यतम एवं अनन्य एकमात्र पन्था है। आत्मा किसे कहते हैं ? इस प्रश्न को आधार बनाकर मानव ने अद्यावधि अनेक विवर्तवादों का सर्जन किया है। कल्पनावाद ही विवर्तवाद है। मानव के द्वारा निर्दिष्ट आत्मस्वरूप के सम्बन्ध में 'विवर्तवाद' शब्द का प्रयोग यद्यपि मानव के लिए अरुचिकर है, तथापि एक विशेष परिस्थिति के कारण हमें मानव के आत्मस्वरूपज्ञान के सम्बन्ध में 'विवर्तवाद' जैसे अप्रिय शब्द का आश्रय लेना पड़ा है। भारतीय वेदशास्त्र सर्वमूर्धन्यशास्त्र है। इसका निर्णय भारतीय मानव के लिए निर्बाध-स्वतः-प्रमाणैकसार निर्णय है। वेदशास्त्र की सार्वभौमता से, तदनुगता परम्परा-सिद्धा गुप्ततमा परिभाषा से परिचय प्राप्त न करने के कारण भारतीय विचारकों ने वेदसम्मत आत्मस्वरूप के स्वरूप के सम्बन्ध में शतशः-सहस्रशः वैसी भ्रान्तियाँ कर डाली हैं–जिनके अनुग्रह से सर्वथा निर्णीत भी आत्मस्वरूप आज मानव के लिए एक जटिल समस्या बन गया है। तत्तद्विशेषभावों को लक्ष्य बनाकर वेदशास्त्र ने शरीर, मन, बुद्धि, महान्, अव्यक्त, पुरुष, परात्पर आदि सभी खण्ड-अखण्डभावों को 'आत्म' शब्द से व्यवहृत किया है। ये सब विवर्त सर्वथा विभक्त एवं व्यवस्थित बने रहते हुए स्व-स्व तन्त्र का सञ्चालन कर रहे हैं। आत्मवादी व्याख्याता मानव ने इन सब तन्त्रों की उपेक्षा कर सर्वथा विभक्त-व्यवस्थित सिद्धान्तों को सन्देहास्पद बना डाला है। यही दुरवस्था गीताशास्त्र के सम्बन्ध में घटित हुई है। गीता आत्म-स्वरूपनिरूपण के कारण जहाँ 'ब्रह्मविद्या-शास्त्र' है, वहाँ आत्मानुगत योगस्वरूप-निरूपण के कारण 'योगशास्त्र' है। आत्मस्वरूपनिर्णय के अभाव से व्याख्याता मानव ने गीतासम्मत आत्मस्वरूप के साथ-साथ गीतासम्मत योगस्वरूप का भी सर्वथा अभिभव-पराभव कर डाला है। 'आत्म' शब्द से अखण्ड परात्पर, योगशब्द से ज्ञान-कर्म्म- भक्ति नामक योग ही वर्तमान साम्प्रदायिक मानव की विश्राम भूमि बने हुए हैं। कहना न होगा कि इसी विश्रान्ति के कारण गीतासम्मत आत्मस्वरूप तथा तदनुगत योगस्वरूप आज जिज्ञासु के लिए एक असमाधेय प्रश्न बन गया है।

गीताशास्त्र के आत्मोपदेश को लक्ष्य बनाने के लिए अव्यवहितोत्तर काल में ही गीतास्वाध्याय-शील को निश्चय कर लेना चाहिए कि गीता में उस आत्मतत्त्व का प्रधानरूप से विश्लेषण हुआ है, जो प्राकृतिक पञ्चखण्डात्मविवर्तों का अखण्ड आधार है एवं जो अपनी त्रैविध त्रिवीर्य्यविभूति से नित्य-युक्त रहता हुआ–'अव्ययात्मा' नाम से प्रसिद्ध है। **'नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः'**–के अनुसार सर्वसाधारण मानव के लिए अवश्य ही यह अव्ययात्मा निगूढतत्त्व है, अतएव उपनिषदों ने इसे–**'गूढोत्मा न प्रकाशते'**–इत्यादिरूप से गुप्त ही माना है।

एवंविध गीतासम्मत अव्ययात्मा विद्या, कर्म्म भेद से द्विधातुक है-जैसा कि आत्मधातुशिक्षा-परिच्छेद में विस्तार से बतलाया जा चुका है। अव्ययात्मा का विद्याभाग किंवा विद्याधातु ज्ञानात्मा

है एवं कर्म्मभाग किंवा कर्म्मधातु कर्म्मात्मा है। ज्ञान-कर्म्मात्मसमष्टि अव्ययात्मा ही गीतासम्मत आत्मस्वरूपनिष्कर्ष है-जिसके तटस्थ लक्षणों का समन्वय कर लेना अप्रासङ्गिक न होगा। ज्ञान ही विद्या है, किंवा विद्या ही ज्ञान है। आत्मभेदापेक्षया इस ज्ञानतत्त्व की २० कलाएँ मानी गई हैं-जिनका **'कर्म्मयोगपरीक्षा'** में विस्तार से उपबृंहण हुआ है। सर्वप्रथम इस ज्ञानविवर्त को लक्ष्य बनाकर ही हमें अव्ययात्मा के ज्ञानात्मपर्व का तटस्थ लक्षण करना है।

१-सत्यज्ञान, २-योगजज्ञान, ३-विज्ञानज्ञान, ४-प्रज्ञानज्ञान, ५-ऐन्द्रियकज्ञान भेद से नारद-पाञ्चरात्र ने ज्ञान के ५ मुख्य विवर्त माने हैं। विश्वव्यापक गुणत्रय के तारतम्य से इन पाँचों ज्ञानविवर्तों के प्रत्येक के **१-शुद्धसात्त्विक, २-मलिनसात्त्विक, ३-राजस, ४-तामस**-ये चार-चार अवान्तर विवर्त हो जाते हैं। सम्भूय पञ्चज्ञानविवर्तों के २० अवान्तर गुणविवर्त हो जाते हैं। ये ही आध्यात्मिक ज्ञान की बीस कलाएँ हैं-जिनका निम्नलिखित परिलेख से स्पष्टीकरण हो रहा है—

५	१ सत्यज्ञानम्	२ योगजज्ञानम्	३ विज्ञानज्ञानम्	४ प्रज्ञानज्ञानम्	५ ऐन्द्रियकज्ञानम्
१	शुद्धसात्त्विकसत्य-ज्ञानम्	शुद्धसात्त्विकयोगज-ज्ञानम्	शु० सा० विज्ञान-ज्ञानम्	शु० सा० प्रज्ञान-ज्ञानम्	शु० सा० ऐ० ज्ञानम्
२	मलिनसात्त्विक-सत्यज्ञानम्	मलिनसात्त्विक-योगजज्ञानम्	म० सा० विज्ञान-ज्ञानम्	म० सा० प्रज्ञान-ज्ञानम्	म० सा० ऐ०ज्ञानम्
३	राजससत्यज्ञानम्	राजसयोगजज्ञानम्	राजसविज्ञानज्ञानम्	राजसप्रज्ञानज्ञानम्	राजस ऐ० ज्ञानम्
४	तामससत्यज्ञानम्	तामसयोगजज्ञानम्	तामसविज्ञानज्ञानम्	तामसप्रज्ञानज्ञानम्	तामस ऐ० ज्ञानम्
२०	४	४	४	४	४
	कुल २० ज्ञानकलाएँ				

१-विद्याकर्म्मधातुमूर्त्ति **अव्ययात्मा**, २-स्वायम्भुव अव्यक्तात्मगर्भित पारमेष्ठ्य **महानात्मा**, **३-सौरविज्ञानात्मा, ४-चान्द्रप्रज्ञानात्मा**, ५-पार्थिव पञ्चधा विभक्त **प्राणात्मा** (इन्द्रियात्मा)-भेद से आध्यात्मिक आत्मविवर्तों के पाँच विभाग माने जा सकते हैं। इन पाँचों के साथ वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञमूर्त्ति, त्रिकल, कर्म्मफलभोक्ता जीवात्मा का गौण-प्रधान सम्बन्ध बना रहता है। इन पाँच आत्म-संस्थाओं में से प्राणात्मा, प्रज्ञानात्मा, विज्ञानात्मा, अव्यक्तगर्भित महानात्मा-इन चार में तो जीव का जीवत्व प्रस्फुटित रहता है एवं पाँचवें किंवा प्रथम अव्ययात्मा के साथ समन्वय होते ही जीवात्मा ईश्वर-भाव में परिणत होता हुआ निष्कैवल्य बन जाता है। यच्चयावत् विषयों से अतीत अतएव ऐन्द्रियक अनुभव से अगम्य किन्तु स्वानुभवैकगम्य विश्वव्यापक निर्विषयकत्वेन निर्विकल्प, समाधिलक्षण **अप्रतर्क्य-**

अचिन्त्य-अप्रमेय नित्यज्ञान ही अव्ययात्मानुगतज्ञान है–यही १–'**सत्यज्ञान**' नामक प्रथम ज्ञान है–जिसका 'परा' दशा में व्यक्तीभाव हुआ करता है। जीवात्मानुगत शारीरकाव्यय विद्याचतुष्टयी से युक्त योग-चतुष्टयी के अनुगमन से जब सर्वथा निरावरण बन जाता है, स्व-स्वरूप से विकसित हो जाता है, तो अव्यक्तगर्भितमहानात्मा की सुनिर्म्मल-विशुद्ध-ज्योति का इस जीवात्मा पर अनुग्रह हो जाता है। महज्ज्योतिर्ज्ञान प्राकृतिक ज्ञान है, जिसके गर्भ में अतीत-वर्त्तमान-भविष्यत्–सब कुछ प्रतिष्ठित है। त्रैकालिक यही महत्-ज्ञान २–'**योगजज्ञान**' नामक द्वितीय ज्ञान है। विदूरतम, समीपतम, व्यवहित, अव्यवहित, अतीत, भविष्यत्, अणिमा, गरिमा, महिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, वशित्व, ईशित्वादि भावों का इसी योगजज्ञान से सम्बन्ध है। योगजज्ञानानुगत जीवात्मा कामचार बन जाता है–जो कामचार विना महद्विकास के असम्भव माना गया है। लौकिक एवं शास्त्रीय ज्ञान से विज्ञानात्मा (बुद्धि) में एक प्रकार का अणिमाभाव उत्पन्न हो जाता है। यही अणिमा तीक्ष्णता है–जिससे जीवात्मा गहन से गहन विषय का तात्त्विक निर्णय करने में समर्थ बन जाता है। इसका विज्ञान धिषणा-भाव से जागरूक बनता हुआ सारासारविवेकशाली बन जाता है। यही सुतीक्ष्ण ३–**विज्ञानज्ञान** तृतीय ज्ञान है। संसार में अधिकांश में इसी के आधार पर महनीय पद प्राप्त होता है। जिसका विज्ञानज्ञान जितना अधिक तीक्ष्ण रहता है, समाज में वह उतना ही अधिक मान्य समझा जाता है। सर्वेन्द्रियव्यापक, विकसित मानसज्ञान ही चौथा ४–**प्रज्ञानज्ञान** है, जिसके आधार पर आहारनिद्रादि शारीरकर्म्म सञ्चालित हैं। रूपदर्शन, रसग्रहण, गन्धग्रहण, स्पर्शानुभव, शब्दश्रवण भेदभिन्न पाँच प्रकार का सर्वसामान्य बाह्येन्द्रियज्ञान ही पञ्चम ५–**ऐन्द्रियकज्ञान** है। इन्द्रियानुगत ऐन्द्रियकज्ञान, प्रज्ञानानुगत मानसज्ञान, विज्ञानानुगत बौद्धज्ञान–ये तीनों सामान्यज्ञान है–नैसर्गिक हैं। योगजज्ञानानुगत ऐश्वरज्ञान, सत्यज्ञानानुगत आत्मज्ञान–ये दोनों बुद्धियोगसाध्य हैं। ऐन्द्रियकज्ञान ही शेष चारों के सत्त्वादि चार भावों का प्रवर्त्तक बनता है। तमोगुणप्रधान ऐन्द्रिय विषयों से सर्वप्रथम ऐन्द्रियज्ञान तमोगुणात्मक तामसज्ञानरूप में परिणत होता है। तमनुसृत्य शेष चारों ज्ञान भी तमोभावापन्न बन जाते हैं। राजस ऐन्द्रियज्ञान शेष चारों के राजसभाव का, मलिनसत्त्वात्मक ऐन्द्रियकज्ञान शेष चारों के मलिनसत्त्वभाव एवं शुद्धसत्त्वात्मक ऐन्द्रियकज्ञान शेष चारों के शुद्धसत्त्वभाव का प्रवर्त्तक बनता है, अतएव भगवान् ने अध्यात्मसंस्था-समत्व के सम्बन्ध में सर्वप्रथम ऐन्द्रियकज्ञान के नियमन को ही अनिवार्य्य माना है–जैसा कि–'**तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ**'–इत्यादि भगवद्वचन से प्रमाणित है।

आत्मस्वरूपनिष्कर्ष के सम्बन्ध में सत्यज्ञानघन, खण्डात्मप्रपञ्चाधिष्ठाता 'अव्ययात्मा' ही गीता-शास्त्र का मुख्य विवर्त है, जिसके प्रसंग से इतर खण्डात्मानुगत ज्ञानविवर्तों का दिग्दर्शन कराया गया है। अव्ययात्मा के विद्याधातु के स्व-स्वरूप से विकसित होने से ही सर्वविलक्षण सत्यज्ञान का उदय होता है। विद्याधातु का स्वरूपविकास विद्यानुगत योगात्मक कर्म्म (बुद्धियोग) के अनुष्ठान पर निर्भर है। कारण स्पष्ट है। जिस प्रकार ज्ञान आत्मभेद से पञ्चधा विभक्त है, एवमेव कर्म्म भी आत्मभेद से पञ्चधा ही विभक्त है एवं शुद्धसत्त्वादिकृतभेद से ज्ञानकलावत् इस कर्म्मकला के भी अवान्तर २० विवर्त हो जाते हैं–जो पूर्वनिर्दिष्ट ज्ञान-कला-तालिका से निम्नलिखित रूप से समतुलित है—

५	१ सत्यकर्म्म	२ योगजकर्म्म	३ विज्ञानकर्म्म	४ प्रज्ञानकर्म्म	५ ऐन्द्रियककर्म्म
१	शुद्धसात्त्विकं सत्यकर्म्म	शु० सा० योगजकर्म्म	शु०सा० विज्ञानकर्म्म	शु० सा० प्रज्ञानकर्म्म	शु० सा० ऐन्द्रियक-कर्म्म
२	मलिनसात्त्विकं सत्यकर्म्म	म० सा० योगजकर्म्म	म० सा० विज्ञानकर्म्म	म० सा० प्रज्ञानकर्म्म	म० सा० ऐन्द्रियक-कर्म्म
३	राजसं सत्यकर्म्म	राजसं योगजकर्म्म	राजसं विज्ञानकर्म्म	राजसं प्रज्ञानकर्म्म	राजसमैन्द्रियककर्म्म
४	तामसं सत्यकर्म्म	तामसं योगजकर्म्म	तामसं विज्ञानकर्म्म	तामसं प्रज्ञानकर्म्म	तामसमैन्द्रियककर्म्म
६	४	४	४	४	४

कर्म्मात्मक अव्ययात्मा का कर्म्मभाग ही 'वीर्य्य' नाम से व्यवहृत हुआ है। यह वीर्य्यधातु (कर्म्मधातु) अक्षरत्रयभेद से विश्वसर्ग में तीन भागों में विभक्त होकर व्यवस्थित है। ब्रह्माक्षर के समन्वय से आत्मवीर्य्य 'ब्रह्मवीर्य्य' भाव में परिणत रहता है एवं यह ब्रह्मात्मकवीर्य्य (कर्म्म) ज्ञानप्रधान बनता हुआ ब्राह्मणवर्ण की मूलप्रतिष्ठा बनता है, अतएव ब्राह्मणवर्ण का मुख्य कर्म्म ज्ञानप्रसाधन ही माना गया है। इन्द्राक्षर के समन्वय से आत्मवीर्य्य 'क्षत्रवीर्य्य' भाव में परिणत रहता है एवं यह इन्द्रात्मक वीर्य्य (कर्म्म) क्रिया (पौरुष) प्रधान बनता हुआ क्षत्रियवर्ण की मूलप्रतिष्ठा बनता है, अतएव क्षत्रियवर्ण का मुख्यकर्म्म पौरुषसाधन ही माना गया है। विष्णवक्षर के समन्वय से आत्मवीर्य्य 'विड्वीर्य्य' भाव में परिणत रहता है एवं यह विष्णवात्मक वीर्य्य (कर्म्म) अर्थप्रधान (भूतप्रधान) बनता हुआ वैश्यवर्ण की मूलप्रतिष्ठा बनता है, अतएव वैश्यवर्ण का मुख्यकर्म्म अर्थप्रसाधन माना गया है। इस प्रकार एक ही अव्ययात्मवीर्य्य अक्षरत्रयसम्बन्ध से वर्णसृष्टि में तीन भावों में विभक्त होकर प्रतिष्ठित होता है। तत्तद्वर्णानुगत तत्तद्विशेष कर्म्म (ज्ञान-पौरुष-अर्थ) ही अव्ययात्मा के कर्म्मात्मभाग के स्वरूपनिष्कर्षात्मक तटस्थलक्षण हैं–परिचायक हैं।

इस प्रकार गीताशास्त्र में आर्षदृष्टि के अनुरोध से आत्मा 'अव्ययात्मा' बना हुआ है एवं वह सत्यज्ञान, सत्यकर्म्मात्मक है। सत्यज्ञान अव्ययात्मस्वरूप का ब्रह्मधातु है एवं सत्यकर्म्म अव्ययात्मस्वरूप का वीर्य्यधातु है। यह भी स्मरण रखने की बात है कि ब्रह्मात्मक विद्याधातु, वीर्य्यात्मक कर्म्मधातु –दोनों आत्मधातु परस्पर एक दूसरे के स्वरूपसंरक्षक बनते हुए अन्योऽन्यसापेक्ष हैं। यदि आत्मविद्याभाग मलिन हो जाता है तो तत्काल कर्म्मभाग भी निर्वीर्य्य बन जाता है। इस अवस्था में पूर्णानन्द का विकास भी अवरुद्ध हो जाता है एवं निश्चित ज्ञानात्मक पूर्णज्ञान का विकास भी अवरुद्ध हो जाता है। विद्याभिभव के–विद्यामलिनता के अनन्तर मानव सुखार्थ जितने भी प्रयत्न करता है, सब व्यर्थ सिद्ध होते हैं। आवश्यक है कि आनन्दप्राप्त्यर्थ आत्मविद्याभाग को स्वस्थ बनाया जाए एवं इस स्वस्थता के लिए विज्ञानप्रवणता (विद्यानुगति) का आश्रय लिया जाए। साथ ही विज्ञानप्रवणता कर्म्म पर

अवलम्बित है । विना बुद्धियोगात्मक कर्म्मप्रवणता के ज्ञानप्रवणता असम्भव है । यही दोनों धातुओं का अन्योऽन्यसापेक्षत्व है, अतएव आवश्यक है कि कर्म्म का (बुद्धियोगात्मक अनासक्तकर्म्म का) अनुगमन करते हुए विद्याधातु का अनुगमन किया जाए । इस सहकालिक ज्ञान-कर्म्मानुगमन से उभयात्मक अव्ययात्मा के उभयधातु समतुलित रहते हुए समरूप से विकसित रहेंगे । फलस्वरूप समविद्यानुगमन से आनन्द की उपलब्धि होगी एवं समकर्म्मानुगमन से बलाधान होगा । और यों विद्याकर्म्मात्मक अव्ययात्मस्वरूपनिष्कर्ष का ज्ञाता मानव उभयथा स्वस्थ-सुखी-शान्त बना रहेगा, जिसका मौलिक विश्लेषण करने के लिए ही गीताशास्त्र प्रवृत्त हुआ है ।

॥ समाप्ता चेयमात्मस्वरूपनिष्कर्षशिक्षा-अष्टमी ॥

॥ ८ ॥

अथ

आर्षगीतायाः सारोद्धारात्मिका-सारशिक्षा-नवमी

९

९–आर्षगीतायाः सारोद्धारात्मिका-सारशिक्षा-नवमी

आर्षगीतानुगता सारपरीक्षाओं में से आठ सारपरीक्षाओं का क्रमशः दिग्दर्शन कराया जा चुका है। आर्षदृष्टि का केवल भारतीय द्विजातिप्रजा (ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य) से सम्बन्ध है। इस वर्णत्रयी को लक्ष्य बनाकर ही गीता का आर्ष-धर्म्मोपदेश प्रवृत्त हुआ है, जिसका मूल वेदशास्त्र माना गया है। अब तक व्यष्टिरूप से दृष्टिकोण भेद से गीतासार का विश्लेषण हुआ है। अब तक जिन आठ सारपरीक्षाओं का उपबृंहण हुआ है, यदि उन सबका समष्टिरूप से संग्रह किया जाएगा तो वह संग्रह **'सारोद्धार'** कहलाएगा। इस सारोद्धारात्मिका सारशिक्षा का ही प्रकृत परिच्छेद में स्पष्टीकरण किया जाता है।

१–आर्षदृष्टि से गीताशास्त्र **'ब्रह्मविद्यात्मक-योगशास्त्र'** है।

२–आर्षदृष्टि से गीताशास्त्र में प्रतिपादित ब्रह्मविद्या **सर्वात्मलक्षण अव्ययविद्या, निर्गुणात्मकलक्षण अक्षरविद्या, सगुणात्मलक्षण आत्मक्षरविद्या, सगुणात्मलक्षण अव्ययगर्भित क्षरविद्या भेद से चार भागों में विभक्त है।**

३–चार ब्रह्मविद्याओं में से गीताशास्त्र में आर्षदृष्टि से **सर्वात्मलक्षणा अव्ययविद्या का ही प्राधान्य है। शेष तीनों विद्याओं का आर्षदृष्टि से गीताशास्त्र में लोकसंग्रहबुद्ध्या संग्रहमात्र हुआ है।**

४–चार बुद्धियोगों में से गीताशास्त्र में आर्षदृष्टि से **अव्ययविद्यानुगत वैराग्यबुद्धियोग का ही प्राधान्य है। शेष तीनों योगों का आर्षदृष्टि से गीताशास्त्र में लोकसंग्रहबुद्धया संग्रहमात्र हुआ है।**

५–गीताशास्त्र की लक्ष्यभूता विद्याएँ क्रमशः **१–सर्वात्मविद्या, २–निर्गुणविद्या, ३–सगुणविद्या, ४–विकारगर्भितसगुणविद्या**–नामों से व्यवहृत हुई हैं–जिनका क्रमशः **१–अव्यय, २–अक्षर, ३–आत्मक्षर, ४–अव्ययगर्भितआत्मक्षर** नामक आत्मभावों से सम्बन्ध है।

६–गीताशास्त्रोक्त ये चारों विद्याएँ क्रमशः बुद्धिविद्या, ज्ञानविद्या, कर्म्मविद्या, भक्ति-विद्या नामों से भी व्यवहृत की जा सकती हैं।

७–गीताशास्त्रोक्त चार विद्याएँ क्रमशः चार प्रकार के योगों की आधार भूमियाँ हैं। विद्याचतुष्टयी के आधार पर प्रतिष्ठित वे चारों योग क्रमशः **वैराग्यबुद्धियोग, ज्ञानबुद्धियोग, ऐश्वर्य्यबुद्धियोग, धर्म्मबुद्धियोग**–इन नामों से व्यवहृत किए जा सकते हैं।

८–गीताशास्त्र में जिन चार विद्याओं का सोपपत्तिक निरूपण हुआ है–उनमें से **वैराग्यविद्या** नाम की प्रथमा विद्या तो गीतोपदेष्टा भगवान् श्रीकृष्ण का अपना मत है एवं शेष तीन विद्याओं का परमत से सम्बन्ध है–जिनका लोकसंग्राहक भगवान् ने लोकसंग्रहदृष्टि से संशोधनपूर्वक अपने **वैराग्य-विद्या** (अव्ययात्मविद्या) प्रतिपादक गीताशास्त्र में संग्रह कर लिया है।

९–गीताशास्त्र में जिन चार योगों का सोपपत्तिक निरूपण हुआ है, उनमें से 'वैराग्यबुद्धियोग' नामक प्रथम योग तो गीतोपदेष्टा भगवान् श्रीकृष्ण का अपना मत है एवं शेष तीन योगों का परमत से सम्बन्ध है–जिनका लोकसंग्रह भगवान् ने लोकसंग्रहदृष्टि से सशोधनपूर्वक अपने वैराग्ययोग (अव्ययात्म-योग)–प्रतिपादक गीताशास्त्र में संग्रह कर लिया है।

१०–गीताशास्त्र में लोकसंग्रहदृष्टि से संगृहीत परमतानुगता तीन विद्याएँ गीतापरिभाषा के अनुसार जहाँ–१–ज्ञानविद्या, २ ऐश्वर्य्यविद्या, ३–धर्म्मविद्या–नामों से व्यवहृत हो सकती हैं, वहाँ परममतदृष्ट्या इन्हें ही क्रमशः १–सांख्यविद्या (ज्ञानविद्या), २–भक्तिविद्या (ऐश्वर्य्यविद्या), ३–कर्म्म-विद्या (धर्म्मविद्या)–नामों से व्यवहृत किया जा सकता है। सांख्यविद्या का संशोधित, अतएव संग्राह्य-रूप ही ज्ञानविद्या है। भक्तिविद्या का संशोधित, अतएव संग्राह्यरूप ही ऐश्वर्य्यविद्या है एवं कर्म्मविद्या का संशोधित, अतएव संग्राह्यरूप ही धर्म्मविद्या है।

११–गीताशास्त्र में लोकसंग्रहदृष्टि से संगृहीत परमतानुगत तीन योग गीतापरिभाषा के अनुसार जहाँ–'ज्ञानबुद्धियोग-ऐश्वर्य्यबुद्धियोग, धर्म्मबुद्धियोग'–नामों से व्यवहृत हो सकते हैं, वहाँ परमतदृष्ट्या इन्हें ही क्रमशः ज्ञानयोग (ज्ञानबुद्धियोग), भक्तियोग (ऐश्वर्य्यबुद्धियोग), कर्म्मयोग (धर्म्मबुद्धियोग) नामों से व्यवहृत किया जा सकता है। ज्ञानयोग का संशोधित, अतएव संग्राह्यरूप ही ज्ञानबुद्धियोग है। भक्तियोग का संशोधित, अतएव संग्राह्यरूप ही ऐश्वर्य्यबुद्धियोग है एवं कर्म्मयोग का संशोधित, अतएव संग्राह्यरूप ही धर्म्मबुद्धियोग है।

१२–गीताशास्त्र आत्मक्षर सम्बन्ध से कर्म्मविद्याशास्त्र है, अव्ययगर्भित आत्मक्षर सम्बन्ध से भक्तिविद्याशास्त्र है, अक्षरसम्बन्ध से ज्ञानविद्याशास्त्र है एवं अव्ययसम्बन्ध से 'ब्रह्मविद्याशास्त्र' है।

१३–गीताशास्त्र धर्म्मात्मकभग-सम्बन्ध से कर्म्मयोगशास्त्र है, ऐश्वर्य्यात्मकभग-सम्बन्ध से भक्ति-योगशास्त्र है, ज्ञानात्मकभग-सम्बन्ध से ज्ञानयोगशास्त्र है एवं वैराग्यात्मकभग-सम्बन्ध से–'योगशास्त्र' है।

१४–गीताशास्त्र की कर्म्मविद्या, भक्तिविद्या, ज्ञानविद्या–तीनों जहाँ क्रमशः क्षरविद्या, अव्यय-गर्भितक्षरविद्या अक्षरविद्या हैं–वहाँ चौथी ब्रह्मविद्या 'अव्ययविद्या' है। अव्ययविद्या ही गीता की प्रधान-विद्या है, शेष तीनों आत्मपर्व इसी अव्ययविद्या प्रतिच्छाया से युक्त है। इसी अव्ययविद्या प्राधान्य से गीता को आत्मविद्यादृष्ट्या 'अव्ययविद्याशास्त्र' ही कहना अन्वर्थ बनता है।

१५–गीताशास्त्र के कर्म्मयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग–तीनों योग जहाँ क्रमशः क्षरयोग, अव्यय-गर्भितक्षरयोग, अक्षरयोग हैं, वहाँ चौथा 'योग' नामक योग 'अव्यययोग' है। अव्यययोग ही गीता का प्रधानयोग है, शेष तीनों योगपर्व इसी अव्यययोग प्रतिच्छाया से युक्त हैं। इसी अव्यययोगप्राधान्य से गीता को योगदृष्ट्या 'अव्यययोगशास्त्र' कहना अन्वर्थ बनता है।

१६–गीताशास्त्र की चारों विद्याओं में से प्रथमा विद्या 'अव्ययविद्या' है, तदनुगत प्रथमयोग 'अव्यययोग' है। अव्यययोग ही बुद्धियोग' है। सम्पूर्णगीताशास्त्र में अव्ययात्मानुगत बुद्धियोग का ही

प्राधान्य है, अतएव निष्कर्षतः गीताशास्त्र को **'अव्ययविद्यानुगतबुद्धियोगशास्त्र'** इस नाम से ही व्यवहृत करना चाहिए।

१७–गीताशास्त्र का आर्ष दृष्टि-कोण सर्वप्रथम देवयुग में अव्ययशरीरावच्छिन्न भगवान् अव्ययेश्वर के द्वारा सूर्य्यवंशी विवस्वान् के प्रति उपदिष्ट हुआ था, जो आगे चलकर अनृतसंहित मानव के अनार्ष-दृष्टि के कारण लुप्त हो गया। महाभारत-युग में वासुदेव शरीरावच्छिन्न उसी अव्ययेश्वर नारायणावतार के द्वारा चन्द्रवंशी नरावतार अर्जुन के प्रति महाभारत-समरप्रसंग में उपदिष्ट हुआ। अर्जुन के प्रति पुनरुपदिष्ट गीता का आर्षदृष्टिकोण आगे चलकर अनार्ष-सन्तमत के अनुग्रह से पुनः विलुप्त हो चला था–जिसका वेदावतार श्री मधुसूदन के द्वारा वेदवीथी-पथिक शिष्य के प्रति वर्तमान युग में पुनः पुनरुद्धार हुआ।

१८–गीताशास्त्र के अनार्षदृष्टिकोण के अनुसार जिसे हम 'साधारण लोकदृष्टि' कहेंगे, गीताशास्त्र काण्डत्रय में विभक्त है। वे तीनों लौकिक काण्ड क्रमशः ज्ञानकाण्ड, भक्तिकाण्ड, कर्म्मकाण्ड नामों से प्रसिद्ध हैं। आरम्भ के ६ अध्याय ज्ञानकाण्डप्रधान हैं एवं इनमें अवान्तर ६ योगों का समावेश है। इसी प्रकार मध्य के ६ अध्याय भक्तिकाण्डप्रधान हैं एवं इनमें अवान्तर ६ योगों का समावेश है। एवमेव अन्त के ६ अध्याय कर्म्मकाण्डप्रधान हैं एवं इनमें भी अवान्तर ६ योगों का समावेश है। लोकदृष्टिलक्षणा अनार्षदृष्टि के अनुसार इस प्रकार आर्षगीताशास्त्र अनार्षविषयविभाग का अनुगामी बन रहा है, कि वा बना डाला गया है। यही अनार्षदृष्टिकोणानुगत इस गीतासप्तशती का अनार्षविषयविभाग है–जिसका निम्नलिखित तालिका से भलीभाँति स्पष्टीकरण हो रहा है—

लोकदृष्टचनुगत-अनार्षदृष्टिकोणयुक्त गीताशास्त्र का विषयविभाग

	अध्यायसंख्या		श्लोकसंख्या	अवान्तरयोगनाम	
१–	(१)	१	४७	विषादयोगः	१ ज्ञानकाण्डम् → ६–अध्यायात्मकम् २८०–श्लोकात्मकम् ६–अवान्तरयोगात्मकम्
	(२)	२	७२	सांख्ययोगः	
	(३)	३	४३	कर्म्मयोगः	
	(४)	४	४२	ज्ञानकर्म्मसंन्यासयोगः	
	(५)	५	२९	कर्म्मसंन्यासयोगः	
	(६)	६	४७	आत्मसंयमयोगः	
२–	(७)	१	३०	ज्ञानविज्ञानयोगः	२ भक्तिकाण्डम् → ६–अध्यायात्मकम् २०९–श्लोकात्मकम् ६–अवान्तरयोगात्मकम्
	(८)	२	२८	अक्षरब्रह्मयोगः	
	(९)	३	३४	राजगुह्ययोगः	
	(१०)	४	४२	विभूतियोगः	
	(११)	५	५५	विश्वरूपदर्शनयोगः	
	(१२)	६	२०	भक्तियोगः	
३–	(१३)	१	३४	प्रकृतिपुरुषविभागयोगः	३ कर्म्मकाण्डम् → ६–अध्यायात्मकम् २११–श्लोकात्मकम् ६–अवान्तरयोगात्मकम्
	(१४)	२	२७	गुणत्रयविभागयोगः	
	(१५)	३	२०	पुरुषोत्तमयोगः	
	(१६)	४	२४	दैवासुरसम्पत्तियोगः	
	(१७)	५	२८	श्रद्धात्रययोगः	
	(१८)	६	७८	संन्यासयोगः	

१९–लोकदृष्टिपरायण सर्वसाधारण की दृष्टि में गीताशास्त्र एक विशुद्ध साम्प्रदायिक ग्रन्थ है, अतएव किसी एक दृष्टिकोण पर किसी का अवलम्ब नहीं है। काण्डत्रयभेद से लोकसंगठन भी तीन श्रेणियों में विभक्त हो रहा है। ज्ञानपक्षपाती साम्प्रदायिकों की दृष्टि में गीता विशुद्ध अखण्ड-अद्वय-निरञ्जन-विश्वातीत तत्त्व का निरूपण करती हुई उस ज्ञानयोग का ही प्रधानरूप से निरूपण कर रही है, जिस ज्ञानयोग का अर्थ है–सर्वकर्म्मों का एकान्ततः परित्याग। शास्त्रानधिकृत, अतएव एकान्ततः अव्यवहार्य्य अखण्डात्मा और इस नाप्राप्त की प्राप्ति के लिए कर्म्मशून्य, अतएव सर्वथा अव्यवहार्य्य ज्ञानयोग का अनुगमन–दोनों ही दृष्टिकोण विशुद्ध प्रौढिवाद को व्यक्त कर रहे हैं–यह स्पष्ट करना व्यर्थ है। एवंविध कर्म्मशून्य-असम्भव ज्ञानयोग के पक्षपाती गीताशास्त्र के अन्य भक्ति-कर्म्म नामक दोनों काण्डों को गौण मान रहे हैं और इनके सम्बन्ध में अपना यह मन्तव्य प्रकट कर रहे हैं कि जिनका ज्ञानयोग में अधिकार नहीं है–वैसे निम्नाधिकारियों के कल्याण के लिए साधनरूप से लोकसंग्रहदृष्ट्या भगवान् ने ज्ञानप्रधान स्वगीताशास्त्र में गौणरूप से भक्ति-कर्म्म का भी समावेश कर लिया है। वस्तुगत्या **गीता विशुद्ध ज्ञानयोग ग्रन्थ** ही है।

२०–कर्म्मत्यागलक्षण ज्ञानवाद के सम्मुख सगुणेश्वरोपासक वैष्णवसम्प्रदाय का कोई महत्त्व नहीं रहता, अतएव वैष्णवाचार्य्यों ने यह सिद्धान्त स्थिर किया कि गीता केवल वैष्णवसम्प्रदाय के समर्थन के लिए ही प्रवृत्त हुई है। गीता का ईश्वर (आत्मा) निर्गुण-अखण्ड-अद्वय आत्मा नहीं, अपि तु, सगुण नारायणावतार है। उसकी अनन्यनिष्ठा से भक्ति करते रहना ही गीता का चरम निष्कर्ष है। ज्ञान और कर्म्म का तो लोकसंग्राहक भगवान् ने निम्नाधिकारियों के लिए संग्रहमात्र कर लिया है। किं वा, गीताप्रतिपादित ज्ञान-कर्म्म-भक्ति के साधनमात्र हैं। गीता का मुख्य लक्ष्य तो एक मात्र भक्ति ही है। एवं गीता का आत्मतत्त्व सगुणावतार पुरुष ही है, जिसके रामकृष्णादि अनेक विवर्त्त हैं। इस प्रकार वैष्णव सम्प्रदाय की दृष्टि में–**गीता विशुद्ध भक्तियोग ग्रन्थ** ही है।

२१–कामप्रधानलक्षण कर्म्मवाद ही गीता का सहजसिद्ध, इतिहासप्राप्त मुख्य दृष्टिकोण है। कर्म्मत्यागोन्मुख अर्जुन के प्रति गीता का उपदेश हुआ। उपदेशोपदिष्ट अर्जुन **'करिष्ये वचनं तव'** रूप से कर्म्म में प्रवृत्त हुए। इस प्रकार उपक्रमोपसंहारमर्य्यादा से भी गीता का कर्म्मकाण्डप्रधानत्व ही प्रमाणित हो रहा है। ज्ञान और भक्ति पथों का तो भगवान् ने लोकसंग्रहदृष्टि से संग्रहमात्र कर लिया है। वस्तुगत्या **'गीता' विशुद्ध कर्म्मयोग ग्रन्थ ही है'**।

२२–कर्म्मत्यागमूलक कल्पित अद्वैत सम्प्रदाय, सगुणावतारमूलक काम्य भक्तिसम्प्रदाय एवं कामनामूलक कर्म्मसम्प्रदाय–तीनों विभिन्न सम्प्रदायों से आर्ष गीताशास्त्र यों साम्प्रदायिक ग्रन्थ बनता हुआ अपने आर्ष (वैदिक) लक्ष्य से वञ्चित रह गया है। तत्त्वतः तीनों ही दृष्टिकोण आर्षदृष्ट्या त्याज्य हैं। अतएव गीता न ज्ञानयोगग्रन्थ है, न भक्तियोग ग्रन्थ एवं ना ही कर्म्मयोगग्रन्थ। कर्म्मत्याग असम्भव है, इसलिए तो ज्ञानयोग अनुपादेय है, काम्यभक्ति आसक्तिबन्धन की जननी है, इसलिए भक्तियोग अनुपादेय है, एवं काम्यकर्म्म वासना-बन्धन का प्रवर्त्तक है, अतएव कर्म्मयोग अनुपादेय है।

२३–ज्ञानयोग कर्म्मसमावेश द्वारा ही उपादेय बन सकता है। यही लोकसम्मत ज्ञानयोग का गीता द्वारा संशोधन है। यही संशोधित ज्ञानयोग गीता के शब्दों में 'ज्ञानबुद्धियोग' नाम से व्यवहृत होता हुता उपादेय है, एवं इस संशोधित कर्म्मयुक्त ज्ञानयोग की दृष्टि से **गीता अवश्य ही 'ज्ञानयोग-ग्रन्थ' माना जा सकता है।**

२४–भक्तियोग कामना के परित्याग तथा ज्ञान-वैराग्यमिश्रित लोकसंग्राहक कर्म्मों के समावेश द्वारा ही उपादेय बन सकता है। यही लोकसम्मत भक्तियोग का गीता द्वारा संशोधन है। यही संशोधित भक्तियोग गीता के शब्दों में–'ऐश्वर्य्य बुद्धियोग' नाम से व्यवहृत होता हुआ उपादेय है एवं इस संशोधित ज्ञानवैराग्ययुक्त लोकसंग्राहक कर्म्मानुगत भक्तियोग की दृष्टि से **'गीता अवश्य ही 'भक्तियोगग्रन्थ माना जा सकता है'।**

२५–कर्म्मयोग वैयक्तिक कामलक्ष्य के परित्याग तथा वर्णाश्रमसिद्धमर्य्यादा के समावेश द्वारा ही उपादेय बन सकता है। यही लोकसम्मत कर्म्मयोग का गीता द्वारा संशोधन है। यही संशोधित कर्म्म-योग गीता के शब्दों में–'धर्म्मबुद्धियोग' नाम से व्यवहृत होता हुआ उपादेय है एवं इस संशोधित सर्वात्मना लोकसंग्राहक कामनावियुक्त कर्म्मयोग की दृष्टि से **'गीता अवश्य ही कर्म्मयोगग्रन्थ' माना जा सकता है'।**

२६–उक्त संशोधनों के साथ भगवान् ने लोकसम्मत ज्ञान-भक्ति-कर्म्मनिष्ठाओं का समावेश करते हुए जिस आर्षसिद्धान्त का मुख्यरूप से गीताशास्त्र में प्रतिपादन किया है, वही गीता का मुख्य प्रतिपाद्य विषय माना जाएगा–जो आज तथाकथित साम्प्रदायिक दृष्टिकोण के अनुग्रह से सर्वथा विलुप्त हो चुका है।

२७–लोकदृष्टि से सम्बन्ध रखने वाले १८ अध्यायों का केवल ऐतिहासिक मर्य्यादा से सम्बन्ध है। गीता के प्रतिपाद्य विषय के साथ इन १८ अध्यायों के क्रम का कोई सम्बन्ध नहीं है। सुव्यक्त है कि गीता महाभारत का ही अंश है। महाभारत एक ऐतिहासिक ग्रन्थ है एवं उसके अध्यायक्रम की अपनी एक नियमित मर्य्यादा है। तन्मध्यपतित गीताशास्त्र का अध्यायक्रम इस दृष्टि से विशुद्ध ऐतिहासिक ही माना जाएगा एवं साथ ही इस मान्यता में भी कोई आपत्ति न उठाई जा सकेगी कि, **गीता के प्रचलित अध्यायक्रमों का गीता के मौलिक विषय से अणुमात्र भी सम्बन्ध नहीं है। मौलिक विषयदृष्टि से गीता का विषयविभाग सर्वथा स्वतन्त्र होगा जिसका प्रचलित अध्याय-क्रम से कोई सम्बन्ध न माना जाएगा।**

२८–यह स्मरण रखने की बात है कि गीताशास्त्र ऐतिहासिक ग्रन्थ (महाभारत) का अङ्ग बनता हुआ एक स्वतन्त्र विज्ञानशास्त्र है। युद्धप्रसंग में इसका उपदेश हुआ, अतएव युद्ध घटनाओं का क्रमिक निरूपण करने वाले भगवान् बादरायण को इस उपदेश का भी स्वकीयच्छन्दों में निबन्धन करना पड़ा। और यों भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा उपदिष्ट यह स्वतन्त्र भी शास्त्र ऐतिहासिक मर्य्यादा से आक्रान्त बन गया एवं इसी आक्रान्ति के आधार पर गीता का १८ अध्यायात्मक लोकप्रचलित क्रम प्रचलित हो

गया। मानते हैं, ऐतिह्य दृष्टि से यह क्रम समादरणीय है। परन्तु इसके साथ-साथ हमें यह भी विस्मृत नहीं कर देना चाहिए कि–**'शिष्यस्तेऽहं, शाधि मां त्वां प्रपन्नम्'** एवंरूपा गुरुशिष्यमर्य्यादा को मूल बनाकर प्रवृत्त होने वाला गीताशास्त्र ऐतिहासिक मर्य्यादा के साथ-साथ विद्योपदेशमर्य्यादा से भी आक्रान्त है। यदि महाभारतान्तर्गतत्वेन गीता ऐतिहासिक ग्रन्थ है, तो विद्योपदेश मर्य्यादारूपेण गीता एक स्वतन्त्र विद्याग्रन्थ किंवा विज्ञानग्रन्थ भी है। **इस विभिन्न दृष्टिकोण के आधार पर ही यह भी माना जा सकता है कि ऐतिहासिक दृष्टि से जहाँ ऐतिहासिक गीताग्रन्थ का १८ अध्यायात्मक क्रमविभाग मान्य है, तो वहाँ वैज्ञानिक गीताशास्त्र का स्वतन्त्र विषयविभाग भी सर्वथा मान्य है–जो वैज्ञानिक विषयविभाग तथाकथित साम्प्रदायिक दृष्टिकोण के अनुग्रह से लुप्त हो गया है।**

२९–गीता की ऐतिहासिक मर्य्यादा सुस्पष्ट थी, और है, अतएव सर्वसाधारण की दृष्टि में ऐतिहासिक अध्यायक्रम ही पुष्पित–पल्लवित बना रहा। **'नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः'** के अनुसार मौलिक आत्मा एवं आत्मविद्या तथा तदनुगत आत्मयोग (बुद्धियोग) इसी ऐतिहासिक दृष्टि के कारण सर्वसाधारण की दृष्टि में सुगुप्त ही बना रह गया। ऐतिहासिक कारण के अतिरिक्त दूसरा प्रधानकारण इस अपह्नुति का बना वैदिकतत्त्वज्ञान की विलुप्ति। विद्यात्मक गीताशास्त्र में जिन तत्त्वों का सङ्केत हुआ है, उनका विशुद्ध वैदिकतत्त्वों से सम्बन्ध है। दूसरे शब्दों में यदि इस सम्बन्ध में यह भी कह दिया जाए तो कोई अतिशयोक्ति न होगी कि **'ज्ञान-विज्ञानप्रधान वेद-शास्त्र में जिन मौलिक तत्त्वों का विस्तार से निरूपण हुआ है, गीताशास्त्र उन वैदिक-वैज्ञानिक तत्त्वों की अतिसंक्षिप्त सूची है,** जैसा कि–**'सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः। दुग्धं गीतामृतं महत्'**–इत्यादि माहात्म्यवचन से भी प्रतिपादिक है–प्रतिध्वनित है। अचिन्त्य-कालपुरुष के अनुग्रह से वैदिकतत्त्वज्ञान विलुप्त हुआ। इसका स्थान ग्रहण कर लिया सम्प्रदायवाद ने। फलस्वरूप गीताशास्त्र का वह गुहानिहित तत्त्वज्ञान (वैदिक-तत्त्वज्ञान) सर्वथा विलुप्त हो गया। जिसको जैसा रुचा, उसकी दृष्टि में गीताशास्त्र वैसा ही बन गया, बना डाला गया। इस दुःसाहस की मर्य्यादा यहाँ तक बढी कि जिन्हें संस्कृतवाङ्मय के स्वप्न में भी दर्शन न हुए, उन महानुभावों ने भी अपने प्रौढिवाद के आधार पर गीताशास्त्र पर व्याख्याएँ लिखना आरम्भ कर दिया। सभी गीता के मर्म्मज्ञ बनने का दम्भ करने लगे और यों गहनतत्त्वात्मक गीताशास्त्र वैज्ञानिकतत्त्वविलुप्ति से, वेदस्वाध्यायवैमुख्य से, साम्प्रदायिक व्याख्यादोष से, अन्यान्य भी ज्ञात-अज्ञात-कारणों से बालक्रीड़ा का साधक बनता हुआ केवल ऐतिहासिक ग्रन्थ ही बना रह गया। वैदिकतत्त्व-ज्ञान के विना सम्पूर्ण गीता का तो क्या–**'धर्म्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः'**–इस प्रथम ऐतिहासिक श्लोक का भी समन्वय असम्भव है, असम्भव है, सर्वथा असम्भव है। **'कुरुक्षेत्रं वै देवानां देवयजनमास'**–इत्यादि श्रुति का मर्म्म जाने विना धर्मक्षेत्रात्मक कुरुक्षेत्र का स्वरूपज्ञान भी असम्भव है। गीताशास्त्र का वैज्ञानिक विषयविभागक्रम क्यों विलुप्त हुआ ?–प्रश्न का यही दुःखपूर्ण इतिवृत्त है।

३०–विदितवेदितव्य, अधिगतयाथातथ्य वेदज्ञविद्वानों ने गीताशास्त्र का वैज्ञानिक दृष्टि से निरीक्षण किया। इस तपःपूर्ण निरीक्षण के आधार पर वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि गीताशास्त्र विशुद्ध

वैज्ञानिक ग्रन्थ है एवं इसमें अभ्युदय-निःश्रेयस के साधक विद्यात्मक चार योगों का उपदेश हुआ है, जिनमें से एक के भी अनुगमन से आर्षमानव का जीवन सफल हो सकता है।

३१–वैज्ञानिक गीताशास्त्र का सम्पूर्ण प्रतिपाद्य विषय संक्षेप से ब्रह्मविज्ञान, कर्म्मविज्ञान–इन दो भागों में विभक्त किया जाएगा। आत्मावबोध ही गीता का चरम लक्ष्य है। आत्मा ज्ञान-क्रियामय है। ज्ञान ही ब्रह्म है, क्रिया ही कर्म्म है। आत्मधातुलक्षण ब्रह्म (ज्ञान) तथा कर्म्म (क्रिया) का क्या मौलिक स्वरूप है? सम्पूर्ण विज्ञानगीता समष्टिरूप से इसी प्रश्न का समाधान कर रही है। ब्रह्मविज्ञान 'ब्रह्मविद्या' है, कर्म्मविज्ञान 'योग' है। ब्रह्मविद्या ज्ञातव्य विषय है, योग कर्त्तव्य-विषय है। क्या जानना चाहिए?–प्रश्न का समाधान ब्रह्मविज्ञान कर रहा है। जानकर क्या करना चाहिए?–प्रश्न का समाधान कर्म्मविज्ञान कर रहा है। दोनों प्रश्नों के समाधान पर आर्षमानव की सम्पूर्ण जिज्ञासाओं का समाधान हो जाता है। यही विज्ञानगीता का विभागद्वय में विभक्त प्रतिपाद्य निष्कर्ष है, जैसा कि गीता-शास्त्र के–'**ब्रह्मविद्यायां (ब्रह्मविज्ञाने) योगशास्त्रे (कर्म्मविज्ञाने)**'–इत्यादि अध्याय समाप्तिसूचक वचन से प्रतिध्वनित है।

३२–दूसरे दृष्टिकोण से गीता के वैज्ञानिक विषय का चार भागों में वर्गीकरण किया जा सकता है। कर्म्मात्मक ब्रह्म ही आत्मा है। आत्मा का मौलिकस्वरूप ही आत्मविद्या है। 'आत्मा' शब्द से गीताशास्त्र में 'अव्ययपुरुष' ही प्रधानरूप से विवक्षित है। इस अव्ययात्मा के प्रक्रमभेद से चार विवर्त हो जाते हैं। फलतः एक ही अव्ययेश्वर के १–अव्यय, २–अक्षर, ३–अव्ययगर्भित आत्मक्षर, ४–क्षर-ये चार बिवर्त हो जाते हैं। इन चार आत्मविवर्तों के सम्बन्ध से गीतोक्ता आत्मविद्या भी चार भागों में विभक्त हो रही है। इन सिद्धविद्याओं का प्रतिपादन करने वाली साध्यविद्याएँ भी **तात्स्थ्यात्ताच्छब्द्यम्** न्याय से सिद्ध नामों से ही व्यवहृत हुई है। विज्ञानगीता के आरम्भ से[1] छठे अध्यायपर्य्यन्त अव्ययात्मविद्यालक्षणा १–वैराग्यविद्या का प्रतिपादन हुआ है। ७वें अध्याय के आरम्भ से ८वें अध्याय की समाप्तिपर्य्यन्त अक्षरात्मविद्यालक्षणा २–ज्ञानविद्या का प्रतिपादन हुआ है। ९वें अध्याय के आरम्भ से १२वें अध्याय की समाप्तिपर्य्यन्त अव्ययगर्भितात्मक्षरविद्यालक्षणा ३–ऐश्वर्य्यविद्या का निरूपण हुआ है एवं १३वें अध्याय के आरम्भ से विज्ञानगीता की समाप्तिपर्य्यन्त[2] क्षरात्मविद्यालक्षणा ४–धर्म्मविद्या का विश्लेषण हुआ है। इस प्रकार आद्यन्त के ऐतिहासिक प्रकरण के मध्य में अवस्थित विज्ञान-गीताशास्त्र में आत्म-पर्वभेद से चार विद्याओं का ही स्वरूप-विश्लेषण हुआ है।

३३–सारात्मिका शिक्षादृष्टि से गीताशास्त्र के प्रतिपाद्य विषय को १० भागों में विभक्त माना जा सकता है। वे दसों सारात्मिका शिक्षाएँ क्रमशः १–आत्मयोगशिक्षा, २–आत्मशिक्षा, ३–आत्मधातु-शिक्षा, ४–आत्मधातुसाम्यशिक्षा, ५–योगचतुष्टयानुगता चातुर्विद्यशिक्षा, ६–त्रिवीर्य्यशिक्षा, ७–शोक-

१ विज्ञानगीता का विद्यादृष्टि से–'अशोच्यानन्वशोचस्त्वम्०' (गीता २।११) श्लोक से आरम्भ होता है।

२ विज्ञानगीता की समाप्ति–'सर्वकर्म्माण्यपि सदा०' (गीता १८।५६) श्लोक पर होती है।

स्वरूपप्रदर्शनपूर्विका शोकनिवृत्त्युपायशिक्षा, ८–आत्मस्वरूपनिष्कर्षशिक्षा, ९–सारोद्धारात्मिका सारशिक्षा, १०–ईश्वरसाधर्म्यशिक्षा–इन नामों से व्यवहृत की जा सकती है। १० संख्या का ही नाम 'विराट्' है क्योंकि विराट्–छन्द दशाक्षर माना गया है, अतएव दशशिक्षात्मक इस शिक्षा-सन्दर्भ को 'विराट्शिक्षा' प्रकरण नाम से व्यवहृत किया गया है। इन सारात्मिका १० शिक्षाओं में से ८ शिक्षाओं का प्रस्तुत खण्ड में पूर्व में क्रमशः निरूपण किया जा चुका है। ९वीं शिक्षा (सारशिक्षा) प्रक्रान्त है। १०वीं शिक्षा का विश्लेषण अगले परिच्छेद में होने वाला है। इस प्रकार प्रस्तुत दृष्टिकोण के अनुसार विज्ञानगीता का दस भागों में वर्गीकरण किया जा सकता है। प्रत्येक शिक्षा सम्पूर्ण विज्ञानगीता से सम्बद्ध है।

३४–प्रकारान्तर से विज्ञानगीता के प्रतिपाद्य विषय का १६ भागों में वर्गीकरण किया जा सकता है। १–राजर्षिविद्या, २–सिद्धविद्या, ३–राजविद्या, ४–आर्षविद्या–इन चार आत्मविद्याओं का, १–वैराग्य-बुद्धियोग, २–ज्ञानबुद्धियोग, ३–ऐश्वर्य्यबुद्धियोग, ४–धर्म्मबुद्धियोग–इन चार आत्मयोगों का, १–अनासक्तिगर्भितनिष्कामसाम्यवाद, २–यज्ञात्मकसाम्यवाद, ३–ईश्वरार्पणसाम्यवाद, ४–जीवात्मैकत्व-साम्यवाद–इन चार साम्यवादों का तथा १–वैशेषिकदर्शनसम्मत आत्मदर्शन, २–प्राधानिकदर्शनसम्मत आत्मदर्शन, ३–शारीरकदर्शनसम्मत आत्मदर्शन, ४–गीतासम्मत आत्मदर्शन–इन चार आत्मदर्शनों का गीताशास्त्र में समष्टि–व्यष्टिरूप से विश्लेषण हुआ है। इन १६ विषयों में से आत्मविद्या-चतुष्टयी, आत्मयोगचतुष्टयी–इन आरम्भ के आठ विषयों का तो निरूपण प्रस्तुत खण्ड के 'विराट् शिक्षा-प्रकरण' की 'योगचतुष्टयानुगता चातुर्विद्यशिक्षा' नामक ५वीं शिक्षा में हुआ है। अन्त की आत्मदर्शनचतुष्टयी का निरूपण गीताभूमिका–अन्तरङ्गपरीक्षा–द्वितीयखण्ड के–'आत्मपरीक्षा' 'क' विभाग नामक खण्ड में विस्तार से किया जा चुका है। शेष रह जाती है–'साम्यवाद-चतुष्टयी'। इसका इसी खण्ड में आगे जाकर सोपपत्तिक निरूपण होने वाला है। इस प्रकार इस दृष्टिकोण से विज्ञानगीताशास्त्र के वैज्ञानिक विषयों का षोडशधा वर्गीकरण मानना अन्वर्थ बन जाता है।

३५–प्रकारान्तर से विज्ञानगीता को २४ विषयों में विभक्त किया जा सकता है। मौलिक वैज्ञानिक सूत्रात्मक सिद्धान्त को ही 'उपनिषत्' कहा जाता है। सम्पूर्ण गीताशास्त्र में ऐसे २४ सिद्धान्तों का विश्लेषण हुआ है। इन सिद्धान्तलक्षण २४ उपनिषदों के सम्बन्ध से ही गीताशास्त्र 'भगवद्-गीतोपनिषत्सु'–इस वाक्य का अनुगामी बन रहा है। गीताभूमिका बहिरङ्गपरीक्षात्मक प्रथमखण्ड में इन २४ उपनिषदों का नामोल्लेख हो चुका है। इनका विशद वैज्ञानिक विवेचन गीतामूलभाष्य में हुआ है। यहाँ इस सम्बन्ध में यही जान लेना पर्य्याप्त होगा कि विज्ञानगीता के उपक्रम में १ उपनिषत्, राजर्षिविद्या में ८ उपनिषत्, सिद्धविद्या में २ उपनिषत्, राजविद्या में ३ उपनिषत्, आर्षविद्या में ७ उपनिषत् एवं उपसंहार में ३ उपनिषत्, सम्भूय २४ उपनिषदों का समावेश हुआ है। सन्दर्भ-सङ्गति के लिए यहाँ इन नामों की पुनरुक्ति कर दी जाती है—

१– [१–योगानुगतविद्योपदेशोपक्रमोपनिषत्–(१)] ——→ उपक्रमे १

२–	२–भूतात्मवियोगानुगतानुशोकानौचित्योपनिषत्	(१)	—→राजर्षिविद्यायाम् ८
	३–शोकनिवृत्तये कामासक्तित्यागौचित्योपनिषत्	(२)	
	४–बुद्धियोगानुगतकर्म्मत्यागानौचित्योपनिषत्	(३)	
	५–बुद्धियोगविरोधिकर्म्मत्यागौचित्योपनिषत्	(४)	
	६–बुद्धियोगस्य भगवन्मतत्वोपनिषत्	(५)	
	७–बुद्धियोगानुकूलज्ञानकर्म्मयोगयोरुपादेयत्वोपनिषत्	(६)	
	८–बुद्धियोगस्य ज्ञानकर्म्मात्मकत्वोपनिषत्	(७)	
	९–बुद्धिसहकृतकर्म्मानुगत्वोपनिषत्	(८)	
३–	१०–पुरुषविज्ञानोपनिषत्	(१)	—→सिद्धविद्यायाम् २
	११–सप्तविज्ञानोपनिषत्	(२)	
४–	१२–अव्ययविज्ञानोपनिषत्	(१)	—→राजविद्यायाम् ३
	१३–विभूतिपरिचयोपनिषत्	(२)	
	१४–उपास्तिविज्ञानोपनिषत्	(३)	
५–	१५–षड्विज्ञानोपनिषत्	(१)	—→आर्षविद्यायाम् ७
	१६–त्रैगुण्यविज्ञानोपनिषत्	(२)	
	१७–अश्वत्थविज्ञानोपनिषत्	(३)	
	१८–दैवासुरसम्पद्विज्ञानोपनिषत्	(४)	
	१९–गुणकर्म्मविज्ञानोपनिषत्	(५)	
	२०–अनिवार्य्यकर्म्मविज्ञानोपनिषत्	(६)	
	२१–अनावरणकर्म्मविज्ञानोपनिषत्	(७)	

६–	२२–गीतासारपरिचयोपनिषत्	(१)	
	२३–गीतासारनिष्कर्षोपनिषत्	(२)	→उपसंहारे ३
	२४–फलश्रुतिविज्ञानोपनिषत्	(३)	
			सर्वयोगः—२४

३६–जिस प्रकार मौलिक उपदेश का नाम 'उपनिषत्' है, एवमेव उपनिषल्लक्षण मौलिक उपदेश का समन्वय करने वाले अवान्तर बड़े-छोटे सिद्धान्त 'उपदेश' कहलाए हैं। दूसरे शब्दों में मीमांसा-प्रणाली के अनुसार उपनिषत् जहाँ 'पुरुषार्थ' स्थानीय है, वहाँ उपदेश इस उपनिषत् स्थानीय पुरुषार्थ के (स्वरूपविश्लेषण द्वारा) स्वरूपसम्पादक बनते हुए क्रत्वर्थ हैं। उपदेशस्थानीय इन क्रत्वर्थों की (अवान्तर अङ्गभूत सिद्धान्तों की) अपेक्षा विज्ञानगीता के विषयों का १६० (एक सौ साठ) भागों में वर्गीकरण किया जा सकता है, जिनका नामोल्लेख भूमिका प्रथमखण्ड में किया जा चुका है एवं वैज्ञानिक विश्लेषण मूलभाष्य में हुआ है। पूर्वोद्धृत २४ उपनिषदों के अनुपात से उपक्रमस्थानीया प्रथमा उपनिषत् में २ उपदेशों का, राजर्षिविद्यानुगत ८ उपनिषदों में ५० (पचास) उपदेशों का, सिद्धविद्यानुगत २ उपनिषदों में १९ (उन्नीस) उपदेशों का, राजविद्यानुगत ३ उपनिषदों में ३२ उपदेशों का, आर्षविद्यानुगत ७ उपनिषदों में ४९ (उनचास) उपदेशों का एवं उपसंहारानुगत ३ उपनिषदों में ८ (आठ) उपदेशों का–सम्भूय विज्ञानगीता की २४ उपनिषदों में १६० (एक सौ साठ) उपदेशों का समन्वय हुआ है। इस प्रकार १–द्विधा (२), २–चतुर्द्धा (४), ३–दशधा (१०), ४–षोडशधा (१६), ५–चतुर्विंशतिधा (२४), ६–षष्टिशतधा (१६०) रूप से विज्ञानगीता में प्रतिपादित विषयों का ६ प्रकार से समन्वय किया जा सकता है। यही सम्पूर्ण विज्ञानगीताशास्त्र का संक्षिप्त विषय दिग्दर्शन है।

३७–सारात्मिका प्रस्तुत नवमी शिक्षा में संक्षेप से प्रायः सभी विषयों का समावेश हो गया है। अब लक्षीभूत विज्ञानगीता से सम्बन्ध रखने वाली योगचतुष्टयी के समर्थन के सम्बन्ध में थोड़ा दिग्दर्शन और करा इस परिच्छेद को उपरत किया जाता है। बतलाया गया है कि विज्ञानगीता में लोकसम्मत[1] ज्ञान-भक्ति-कर्म्मयोगों का संशोधनरूप से संग्रह हुआ है। संशोधित इन तीन लोकनिष्ठाओं के अतिरिक्त विज्ञानगीता में प्रधानरूप से बुद्धियोग का निरूपण हुआ है। इस प्रकार एक प्रधान योग, तीन संशोधित योग–सम्भूय गीताशास्त्र में चार योग हो जाते हैं।

३८–'**ज्ञानयोग ही गीताशास्त्र का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है**'–यह दृष्टिकोण कर्म्मसंन्यास पक्षपाती सांख्यों के लिए अभिमत है। यद्वा तद्वास्तु। यदि इस ज्ञानयोग में निवृत्तिकर्म्म का समावेश है,

---

१ लोकसम्मत योगत्रयी के समर्थक वचन स्व. शास्त्री जी कृत गीताभूमिका प्रथमखण्ड में उद्धृत किए जा चुके हैं।

तो भगवान् की दृष्टि में यह योग भी उपादेय है। मानते हैं, ज्ञान के विना कर्म्मप्रवृत्ति असम्भव है–क्योंकि उक्थार्काशीति-विज्ञान के अनुसार ज्ञानकन्दल (उक्थ) से ही अर्करूपा इच्छा का उदय होता है। विना ज्ञान के इच्छा का प्रादुर्भाव असम्भव है। इसी आधार पर–'ज्ञानजन्या भवेदिच्छा'–यह कहा जाता है। ज्ञानजन्या इच्छा से आध्यात्मिक प्राण गतिमान् बनता है। गतिशीलप्राण, किंवा प्राण की गत्यवस्था का नाम ही क्रतु (कृति-यत्न-चेष्टा) है। इच्छा के अनन्तर होने वाला आभ्यन्तर प्राणव्यापार ही 'क्रतु' है। इस क्रतुरूप प्राणव्यापार का आघात भौतिक वाङ्मय शरीर पर होता है। तत्काल शरीर कर्म्मात्मक (क्रियाशील) बन जाता है। इच्छा का आधार ज्ञानमय मन है, क्रतु का आधार प्राण है, कर्म्म का आधार वाक्तत्त्व है। मनःप्राणवाङ्मय आत्मा ही कर्म्मकर्त्ता है। परन्तु इस कर्म्म का मूलाधार ज्ञानमय मन ही है। पहले ज्ञान, अनन्तर इच्छा, तदनन्तर क्रतु, सर्वान्त में कर्म्म–इस धारावाहिक प्राकृतिक क्रम से सिद्ध है कि कर्म्म का मूल ज्ञान ही है। निम्नलिखित सूक्ति इसी ज्ञानप्राधान्य का समर्थन कर रही है—

"ज्ञानजन्या भवेदिच्छा, इच्छाजन्यः क्रतुर्भवेत्।
क्रतुजन्यं भवेत् कर्म्म, तदेतत् कृतमुच्यते" ॥

सेन्द्रिय-चेतन-ससंज्ञ अस्मदादि जीवों में तो ज्ञानात्मा का प्राधान्य प्रत्यक्षानुभूत है ही। इसके अतिरिक्त त्वगिन्द्रिय-अर्द्धचेतन-अन्तःसंज्ञ लता-वृक्षादि जीवों में तथा अनिन्द्रिय-अचेतन-असंज्ञ-लोष्टपाषाणादि जीवों में भी प्रत्यक्षदृष्ट कर्म्म के आधार पर ज्ञानात्मसत्ता अनुमानसिद्ध है। इस प्रकार जड़-चेतन (निरिन्द्रिय-सेन्द्रिय) सर्वविध पदार्थों में ज्ञानात्मा मूलाधार बना हुआ है, अतएव मानना पड़ेगा कि सर्वाधारत्वेन, सर्वकर्म्मप्रवर्त्तकत्वेन ज्ञान ही मुख्य है। इस विशुद्ध ज्ञानावाप्ति से आमुष्मिकी मुक्तिलक्षणा सिद्धि प्राप्त होती है तो ज्ञानाधार पर प्रतिष्ठित कर्म्म से ऐहिकी मुक्तिलक्षणा सिद्धि प्राप्त होती है। ज्ञान से ही कर्म्मस्वरूप सम्पन्न होता है। ज्ञान ही मानव का सर्वोत्कृष्ट बल है। ज्ञान ही आत्मा का मौलिक स्वरूप है। प्रत्ययैकसत्योपनिषद्विज्ञान[1] के अनुसार ज्ञान में ही सम्पूर्ण विश्व प्रतिष्ठित है।

इस प्रकार सांख्यनिष्ठ ज्ञानियों के ज्ञानप्राधान्य का उस अवस्था में अवश्य ही समर्थन किया जा सकता है, जबकि वे इस ज्ञान के साथ-साथ निवृत्तिकर्म्म का भी संग्रह कर लेते हैं। निवृत्तिकर्म्मावच्छिन्न ज्ञानयोग ही वह उपादेय-ज्ञानयोग है, जिसका 'ज्ञानबुद्धियोग' नाम से गीता में संग्रह हुआ है। एवंविध संशोधित ज्ञानयोग की दृष्टि से गीता अवश्य ही 'ज्ञानयोगशास्त्र है, जिसे निम्नलिखित भगवद्वचनों का समर्थन प्राप्त है—

१—अर्जुन ! मैं तुझे उस विज्ञानयुक्त (कर्म्मयुक्त) ज्ञान का स्वरूप बतलाऊँगा, जिसे जान लेने के अनन्तर अन्य कुछ भी जानना शेष नहीं रह जाता। (द्रष्टव्य गीता ७।२)।

२—श्रद्धाशील आर्षमानव ही ज्ञान प्राप्त करता है। प्राप्तज्ञान में तल्लीन होकर ज्ञानबल से

---

१ द्रष्टव्य ओझा जी कृत 'संशयतदुच्छेदवाद' चतुर्थ पर्व।

नियमितेन्द्रिय बनता हुआ, आर्षमानव कालान्तर में सहजज्ञान की विकासावस्था में आता हुआ शीघ्र ही शान्तिलाभ कर लेता है। (द्रष्टव्य गीता ४।३९)।

३—हे परन्तप ! द्रव्ययज्ञ (काम्यभौतिक यज्ञ) की तुलना में ज्ञानयज्ञ (परमार्थसाधक अनासक्त यज्ञ) कहीं श्रेष्ठ है। हे पार्थ ! सम्पूर्ण कर्म्मकलाप ज्ञान के आधार पर ही विश्रान्त है। (द्रष्टव्य गीता ४।३३)।

४—आध्यात्मिक ज्ञान का नैरन्तर्य्य, तत्त्वज्ञान-परिदर्शन ही सहजज्ञान का स्वरूपलक्षण है। अध्यात्मज्ञानवञ्चित लौकिक ज्ञान, तत्त्वज्ञानवञ्चित बाह्यदर्शन (भूतासक्ति) ही अज्ञान का स्वरूपलक्षण है। (द्रष्टव्य गीता १३।११)।

५—निवृत्तकर्म्मद्वारा विकसित सात्त्विक ज्ञान के प्रभाव से जिन ज्ञाननिष्ठों का अज्ञानावरण नष्ट हो चुका है, उनका आध्यात्मिक ज्ञान मेघापाये सूर्य्यवत् अध्यात्महृदयस्थ 'पर' नामक ईश्वराव्ययज्ञान से युक्त होता हुआ सर्वत्र आलोक प्रसार कर देता है। (द्रष्टव्य गीता ५।१६)।

६—विभिन्न शास्त्रीय पथों पर आरूढ सभी आर्षमानव उदार हैं। परन्तु कहना पड़ेगा कि उन सबमें ज्ञाननिष्ठ ही अव्ययेश्वर के अधिक सन्निकट है। स्थिरज्ञानानुगति से वह स्थितप्रज्ञ बन गया है। ऐसा युक्तात्मा अव्ययसम्बन्धिनी उत्तमा गति को ही प्राप्त करता है। (द्रष्टव्य गीता ७।१८)।

७—(ज्ञानपथ अद्वैतभावापन्न है)। अतएव सम्पूर्ण अधिकारियों में ज्ञानी ही नित्ययुक्त अनन्यनिष्ठ माना जाएगा एवं यही इसकी सर्वाधिक विशेषता होगी। (द्रष्टव्य गीता ७।१७)।

८—अनेक जन्मों के सतत-सतर्क-अभ्यास से ही ज्ञाननिष्ठ को अव्ययपद प्राप्त होता है, क्योंकि वासुदेव-अव्यय का साक्षात्कार कर लेना साधारण काम नहीं है। बहुत ही कम ऐसे महात्मा हैं, जिन्होंने ज्ञानप्रभाव से सर्वाव्ययात्मा की व्याप्ति का साक्षात्कार किया है। (द्रष्टव्य गीता ७।१९)।

९—वेदोक्त कर्म्मकाण्ड वैय्यक्तिक स्वार्थासक्ति के समावेश से त्रिगुणभावापन्न बनता हुआ द्वन्द्वात्मक अतएव परिणाम में अशान्तिकर है। इसलिए हे अर्जुन ! तुझे चाहिए कि तू निष्कामभावना के द्वारा द्वन्द्वातीत-ज्ञानावस्थित बनकर योगक्षेम की चिन्ता से विमुक्त हो। निष्कामभाव से विकसित आत्मज्ञान द्वारा नित्य तत्त्वस्थ बन जा। और यों ज्ञानप्रभाव से सर्वत्र आत्मभावना द्वारा आत्मवान् बना रह। (द्रष्टव्य गीता २।४५।)।

१०—यज्ञदानतपोलक्षणविद्यासमुच्चितकर्म्मों के अतिशय भोक्ता, सहस्रपुण्डीरात्मक सहस्रेश्वर युक्त अश्वत्थमूर्ति सर्वलोकों के महामायावच्छिन्न मायी महेश्वर, नित्य सत्त्व द्वारा सम्पूर्ण भूत-भौतिक प्रपञ्च के सुहृद्–ऐसे व्यापक अव्ययात्मतत्त्व का ज्ञान प्राप्त करके ही आर्षमानव परा शान्ति प्राप्त करता है। (द्रष्टव्य गीता ५।२९)।

११–अव्ययात्मानुगत विद्याबुद्धिचतुष्टयी, तदनुगत आत्मविद्याचतुष्टयी, तदनुगता निष्ठाचतुष्टयी, तदनुगता तल्लीनता–इस प्रकार अव्ययज्ञानानुगता योग-विद्या-निष्ठा के अनुगामी ज्ञाननिष्ठ आर्षमानव ही ज्ञानप्रभाव से निर्म्मलान्तः करण बनते हुए अपुनर्मार नामक शाश्वत-लोक के अधिकारी बनते हैं। (द्रष्टव्य गीता ५।१७)।

१२–अर्जुन ! यह विश्वास करने योग्य है कि पापसमूह में सर्वोपरिस्थान रखने वाले महा-महापातक का भी यदि तूने अनुगमन किया है तो उससे पार पाने का एकमात्र ज्ञान (आत्मावबोध) ही राजपथ है। कल्मषनिवृत्ति का एकमात्र उपाय ज्ञान ही है। (द्रष्टव्य गीता ४।३६)।

१३–जिस प्रकार प्रज्वलित अग्नि काष्ठराशि को भस्मावशेष कर डालता है, एवमेव निवृत्तकर्म्म-प्रभाव से प्रवृद्ध ज्ञानाग्नि सम्पूर्णवासनासंस्कारात्मक कर्म्मावरण को निःशेष बना डालता है। (द्रष्टव्य गीता ४।३७)।

१४–यह निश्चित है कि पाप्मालक्षण आचरण से सर्वथा असंस्पृष्ट अव्ययात्म ज्ञान से बढकर त्रैलोक्य में अन्य कोई पावन विभूति नहीं है। ऐसा यह पावनज्ञान चतुर्विध बुद्धियोगों में से किसी भी एक योग के अनुष्ठान से पाप्मावरण के निःशेष हो जाने पर कालान्तर में स्वतः आविर्भूत हो जाता है। (द्रष्टव्य गीता ४।३८)।

१५–ज्ञानयोगप्रभाव से जिस आर्षमानव ने संस्कार-बन्धन का उच्छेद कर डाला है, ज्ञानप्रभाव से द्वन्द्वातीत स्थिति द्वारा जिसने द्वन्द्वात्मक यच्चयावत् संशयों का ध्वंस कर डाला है, ऐसे आत्मनिष्ठ ज्ञानयोगी को हे धनञ्जय ! कृतकर्म्म कभी बन्धन में नहीं डालते। (द्रष्टव्य गीता ४।४१)।

१६–अर्जुन ! (परमशान्तिकर) उस (महामहनीय) ज्ञान के तात्त्विकस्वरूप बोध के लिए तुझे आत्मसमर्पण, सुतर्कानुगत जिज्ञासात्मक प्रश्न, परिचर्य्यादि साधनों के द्वारा तत्त्वद्रष्टाओं का शिष्यत्व स्वीकार करना चाहिए। वे ही इस ज्ञान का रहस्यपथ तुझे बतला सकेंगे। (द्रष्टव्य गीता ४।३४)।

१७–अर्जुन ! इस ज्ञानातिशय के विश्लेषण के आधार पर मैं यह कामना कर रहा हूँ कि प्राकृतिक वर्णधर्म्म (क्षात्रधर्म्म) विरोधी अतएव सर्वथा अज्ञानावरणलक्षण अपनी संशयावस्था का तू आत्मज्ञान द्वारा निराकरण कर और इस ज्ञान के द्वारा अपनी स्वरूपस्थिति का अनुगमन कर। (द्रष्टव्य गीता ४।४२)।

१८—गुप्त से गुप्त इस अध्यात्मज्ञान का मैंने तेरे सम्मुख भलीभाँति विश्लेषण कर दिया है। इस ज्ञानसम्पत्ति को प्राप्त कर लेने के अनन्तर मेरे लिए अन्य कुछ भी वक्तव्य शेष नहीं रह जाता। इसे प्राप्त कर तू स्वयं अपने कर्त्तव्य कर्म्म का निर्म्माण कर सकता है। **'यथेच्छसि तथा कुरु'**। (द्रष्टव्य गीता १८।६३)।

ज्ञानयोग के सम्बन्ध में यह भी स्मरण रखने की बात है कि विज्ञानगीता का **'अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे'** यहाँ से आरम्भ होता है। यही उपक्रमस्थान है। भगवान् कहते हैं–'अर्जुन ! तू जानता कुछ नहीं और बातें ज्ञानियों की सी करता है'। इस प्रकार विज्ञान गीता का उपक्रम ज्ञान को आधार बनाकर ही हुआ है। विज्ञानगीता का उपसंहार **'इति ते ज्ञानमाख्यातम्'** पर हुआ है। इस प्रकार उपक्रमोपसंहारमर्य्यादा से सम्पूर्ण गीताशास्त्र अथ से इतिपर्य्यन्त एकमात्र ज्ञान की ही प्रधानता सूचित कर रहा है। इसी स्थिति के आधार पर सांख्यनिष्ठों ने गीता को विशुद्ध ज्ञानयोगग्रन्थ माना है। इस सम्बन्ध में वक्तव्यांश यही शेष रह जाता है कि ज्ञानप्रधानता की अनिवार्य्य रूप से स्वीकृति हो जाने का यह तात्पर्य्य नहीं है कि भगवान् कर्म्मत्याग का समर्थन कर रहे हों। कर्म्मशून्य ज्ञान कभी भी भगवान् को इष्ट नहीं है। यदि इस ज्ञान का यही अर्थ होता तो ज्ञानश्रवण करने के अनन्तर अर्जुन युद्ध से विमुख हो संन्यासी बन जाता। परन्तु देखते हैं कि इस ज्ञानावाप्ति के अनन्तर **'करिष्ये वचनं तव'**–कहता हुआ अर्जुन युद्धकर्म्म में प्रवृत्त होता है, अतएव मानना पड़ेगा कि गीता में संगृहीत ज्ञानयोग कर्म्मसम्पत्ति से युक्त रहकर ही प्रवृत्त हुआ है। ज्ञानार्थ किया हुआ कर्म्म ज्ञान में ही परिसमाप्त है, यही संशोधित ज्ञानयोग का निष्कर्ष है।

३६–**'भक्तियोग ही गीताशास्त्र का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है'**–यह दृष्टिकोण वैष्णवसम्प्रदायवादियों के लिए अभिमत है। कोई आपत्ति नहीं। यदि उनके सम्मत इस भक्तियोग में ज्ञानवैराग्ययुत लोकसंग्राहक कर्म्मों का तथा वर्णाश्रममर्य्यादा का समावेश है तो भगवान् की दृष्टि में ऐसा निष्काम भक्तियोग भी सर्वथा उपादेय है। यही संशोधित भक्तियोग गीता में–'ऐश्वर्य्यबुद्धियोग' नाम से व्यवहृत हुआ है। भक्तिमार्ग की प्रधानता प्रमाणित करने वाले सगुणेश्वरोपासक भक्तलोग इस सम्बन्ध में कहा करते हैं कि यद्यपि गीता में भक्ति के अतिरिक्त ज्ञान-कर्म्म का भी विवेचन हुआ है। परन्तु ज्ञान-कर्म्म दोनों ही भक्ति के अङ्ग बने हुए हैं। आरम्भ के ६ अध्यायों में जिस ज्ञानकर्म्मयुग्म का प्रतिपादन हुआ है, उसके द्वारा ईश्वरात्मा का स्वरूप परिचय हुआ है। उपास्य ईश्वर के स्वरूप बोध द्वारा उसकी उपासना किंवा भक्ति के स्वरूपविश्लेषण के लिए ईश्वरानुगत ज्ञान-कर्म्म का स्वरूपविश्लेषण हुआ है। फलतः यह ज्ञानकर्म्मयुग्म भक्ति का ही अङ्ग बना हुआ है। मध्य के ६ अध्यायों में जिस ज्ञानकर्म्मयुग्म का प्रतिपादन हुआ है, उसका सविकार जीवात्मस्वरूप से सम्बन्ध है। अन्त के ६ अध्यायों में भक्ति को ही मूल मानकर भक्तिसाधनात्मक विश्वानुगत ज्ञान-कर्म्म का स्वरूप परिचय कराया गया है। उपास्य, उपासक, उपासनासाधन यों भक्ति त्रिपर्वा है एवं ६–६–६–इस प्रक्रमभेद से तीन षट्कों के द्वारा भगवान् ने उपास्य ईश्वर, उपासक जीव, उपासनासाधन–इन तीन भक्ति पर्वों का ही स्वरूपविश्लेषण किया है। इस प्रकार सम्पूर्ण गीताशास्त्र की भक्तियोगप्रधानता सर्वात्मना प्रमाणित हो रही है। जो प्रामाणिकता निम्नलिखित भगवद्वचनों से सर्वात्मना परिपुष्ट कही और मानी जा सकती है—

१–सम्पूर्ण योगियों में से भी जो योगी अव्ययनिष्ठमनोयोग से श्रद्धावान् बनकर अव्ययात्मा की भक्ति करता है–वही अव्ययेश्वर के लिए श्रेष्ठतम योगी माना गया है। (द्रष्टव्य गीता ६।४७)।

२-जिन आर्षमानवों का पाप्मावरण पुण्यकर्म्म प्रभाव से नष्ट हो चुका है, पाप्मावरण-निराकरण से द्वन्द्वातीत बने हुए वे स्थिरप्रज्ञ आर्षमानव ही अव्ययेश्वर की भक्ति करने में समर्थ होते हैं। (द्रष्टव्य गीता ७।२६)।

३-जो आर्षमानव अनन्यनिष्ठा से अव्ययेश्वर को लक्ष्य बनाते हुए आत्मा की उपासना किया करते हैं, उन नित्यनिष्ठ अनन्योपासकों की योगक्षेमचिन्ता का भार स्वयं अव्ययेश्वर वहन किया करते हैं। (द्रष्टव्य गीता ९।२२)।

४-भक्तिपूर्वक श्रद्धानुसार जो उपासक अव्ययेश्वर के प्रति जो भी वस्तु समर्पित करता है, भावनामयी ऐसी भक्ति द्वारा प्राप्त उस वस्तु का हृदयस्थ अन्तर्य्यामी ईश्वर ग्रहण कर लेते हैं। फलस्वरूप भक्त मानव प्रत्येक स्थिति में सदा सन्तुष्ट बना रहता है। (द्रष्टव्य गीता ९।२६)।

५-भक्त के लिए यह आवश्यक है कि उसके गृहस्थानुबन्धी यच्चयावत् नित्य-नैमित्तिक कर्म्म, सायं-प्रातः होने वाला आध्यात्मिक अग्निहोत्रस्थानीय अहरहर्यज्ञ (भोजन) पर्वविशेषों में होने वाला आहुतिलक्षण वैध काम्ययज्ञकर्म्म, यज्ञकर्म्मानुगता दक्षिणात्मक वैध दान, वानप्रस्थानुगता तपश्चर्य्या-ये सब कुछ वह भक्त अन्तःस्थ अव्ययात्मा को लक्ष्य बनाकर ही करता रहे। यह आत्मप्रतिपत्ति ही मदर्पणत्व है-यही भक्ति का मूलाधार है। (द्रष्टव्य गीता ९।२७)।

६-वह अव्ययेश्वर (सगुणब्रह्म-षोडशी पुरुष) सम्पूर्ण भौतिक पदार्थों में समरूप से अवस्थित है, अतएव उसकी अपेक्षा से न कोई उसका द्वेषी है, न प्रिय है। सब मेरे लिए समान है। हाँ, इस सम्बन्ध में यह अवश्य ध्यान रखना चाहिए कि 'जीवात्मा उस अव्ययेश्वर का ही भाग (अंश) है'-इस भक्तिदृष्टि से (अंशदृष्टि से) जो मानव अव्ययेश्वर के भक्त बने रहते हैं-उनके लिए अव्ययेश्वर अन्तरान्तरीयभाव सम्बन्ध से प्रस्फुटित हो जाता है। दोनों का दोनों में अविभक्तरूप से समन्वय हो जाता है। (द्रष्टव्य गीता ९।२९)।

७-यह विश्वास करने योग्य है कि प्रकृतिविशिष्ट अव्ययपुरुष का अवयव बना हुआ भक्त-मानव प्राकृतिकधर्म्मों में निष्ठ बन जाता है, साथ ही उसे अव्ययप्रसाद से नैष्ठिकी शान्ति प्राप्त हो जाती है। हे कौन्तेय ! तुझे यह भी विश्वास करना चाहिए कि अव्यय का भक्त मानव कभी मृत्युमय का अनुगामी नहीं बनता। (द्रष्टव्य गीता ९।३१)।

८-(यह एक आश्चर्य्यमय विषय है कि) बाह्यदृष्टि से परिपूर्ण वह दुराचारी भी जो अनन्यनिष्ठा से अव्ययात्मा के प्रति आत्मसमर्पण किए रहता है-सर्वथा महात्मा ही है। ऐसा क्यों ? क्या उसके असत्कर्म्म उसकी महत्ता के पतन के कारण नहीं बनते ? हाँ, नहीं बनते, इसलिए कि वह समब्रह्म में अवस्थित हो चुका है। अव्ययेश्वर जैसे सर्वत्र रहता हुआ भी पापपुण्यादि द्वन्द्वों से अतीत है, एवमेव तद्भक्त पर भी अच्छे बुरे किसी संस्कार का लेप नहीं होने पाता। 'मैं नहीं करता' यही वह अनन्यभक्तता है-जिसके प्रभाव से वह अकर्त्ता बना रहता है। (द्रष्टव्य गीता ९।३०)।

९–अर्जुन ! यह भौतिक विश्व क्षणधर्म्मा बलप्रधान बनता हुआ क्षणिक, अतएव अनित्य, अतएव च–नित्यलक्षण शान्ति-सुख से वियुक्त है। इस अनित्यलोक में रहते हुए नित्यसुख-प्राप्ति के लिए तुझे विश्वाधार अव्ययेश्वर को ही लक्ष्य बनाए रखना चाहिए। (द्रष्टव्य गीता ९।३३)।

१०–बाह्यविश्व जीवात्मा का 'उत्तरक्षेत्र' है एवं हृदयस्थ अव्ययात्मा 'मत्क्षेत्र' है। अर्जुन ! यदि तू नैष्ठिकी शान्ति चाहता है तो अपने आपको उन्मनादिवृत्तियों से पराङ्मुख बनते हुए मन्मना (अव्ययनिष्ठ), मद्भक्त (अव्ययांश), मद्याजी (अव्यययाजी) ही बनना चाहिए। अपने आपको अव्यय का नमः (अन्न) बना लेना चाहिए। इस मद्भावना से अव्यययोग द्वारा तू मत्परायण बनता हुआ निश्चयेन अव्ययनिष्ठ बन जाएगा। (द्रष्टव्य गीता ९।३४)।

११–अव्ययपुरुष ही अपराप्रकृतिभूत क्षर के द्वारा सम्पूर्ण भूत-भौतिक प्रपञ्च का प्रभव (उपादन) बनता है। सम्पूर्ण प्रवृत्तियाँ (कर्म्मारम्भ) अव्ययपुरुष से ही (स्वपराप्रकृतिरूप अक्षर के द्वारा) होती हैं। इस तत्त्व पर विश्वास करके ही तत्त्वज्ञ भावुकविद्वान् अव्यय को लक्ष्य बनाए रहते हैं। (द्रष्टव्य गीता १०।८)।

१२–अव्ययानुगत चित्त (सत्त्वमन), अव्ययानुगत प्राण (इन्द्रियवर्ग), ऐसे सर्वात्मना अव्यय-निष्ठ मानव परस्पर एक दूसरे का उद्बोधन करते हुए, अव्यय का विस्तार से मर्म्म प्रतिपादन करते हुए सदा तुष्ट रहते हैं एवं समय प्राप्त भोगों में ही अपने आपको तृप्त मानते रहते हैं। (द्रष्टव्य गीता १०।९)।

१३–इस प्रकार प्रेमपूर्वक अव्यय की ओर लक्ष्य रखने वाले ऐसे भावुक भक्तों को कालान्तर में उसी अव्ययविकास के द्वारा वह बुद्धियोगनिष्ठा प्राप्त हो जाती है, जिसके प्रभाव से कालान्तर में उन्हें अव्यय का साक्षात्कार हो जाता है। (द्रष्टव्य गीता १०।१०)।

"तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते" ॥

नोट–इस ग्रन्थ की मूल पाण्डुलिपि यहीं तक प्राप्त हुई है। शेष जब भी प्राप्त होगी मुद्रित कर दी जाएगी (सं०)।